

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_176161

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H181.4/D99N

Accession No. H2162

Author

Title

This book should be returned on or before the date last marked below

नाथ-संप्रदाय

इजारीप्रसाद द्विवेदी

१९५०

हिंदुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

स्वर्गीय गुरुदेव को

निवेदन

भारतीय धर्मसाधना के इतिहास में नाथसंप्रदाय बहुत महत्त्वपूर्ण संप्रदाय रहा है पर उसके बारे में पुस्तक लिखना बड़ा कठिन कार्य है। वह अब तक एक प्रकार से व्योम्बित ही रहा है। इस पुस्तक के सहृदय पाठक लेखक की कठिनाइयों को आसानी से समझ सकते हैं। अनेक बाधाओं और कठिनाइयों के होते हुए भी पुस्तक जो लिखी जा सकी है वह उन विद्वानों के परिश्रमपूर्वक किए गए अध्ययनों के बल पर ही संभव हुआ है जिन्होंने इस विषय से संबद्ध नाना क्षेत्रों में कार्य किया है। लेखक उन सभी विद्वानों के प्रति अपनी आंतरिक कृतज्ञता प्रकट करता है।

डा० धीरेन्द्र वर्मा जी की प्रेरणा से ही पुस्तक लिखी गई है। उन्होंने इसके लिये अनेक प्रकार के उपयोगी सुझाव देकर इसे सर्वोन्नतपूर्ण बनाने में अमूल्य सहायता पहुँचाई है। अंत में उन्होंने ही इस पुस्तक की भूमिका लिख कर इसका गौरव बढ़ाया है। लेखक किन शब्दों में उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करे ?

मेरे अत्यंत प्रिय सुहृद् श्रीरामसिंह जी लोगर ने बड़े परिश्रम से पुस्तक का प्रूफ देखा है और इसे अधिक त्रुटियों से रक्षित रखा है। इस अवसर पर उनकी इस तत्परता के मरस से लेखक की आंतरिक प्रीति और आनंद का अनुभव हो रहा है।

हिंदुस्तानी एकेडेमी के प्रति भी लेखक अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। इस संस्था की कृपा से पत्राचार रूप ही इस विषय के अध्ययन का अवसर मिला है।

सहृदय पाठकों की उदार दृष्टि के भरोसे ही पुस्तक प्रकाशित करने का साहस हुआ है।

शांतिनिकेतन

१६-१-४०

हजारी प्रसाद द्विवेदी

वक्तव्य

हिंदी साहित्य के इतिहास में सिद्ध-साहित्य के महत्व की ओर ध्यान पहले पहल डा० पीताम्बरदत्त बर्धवाल ने आकृष्ट किया था, मागधी अपभ्रंश में लिखी हुई सिद्ध-साहित्य संबंधी प्रचुर सामग्री को श्री राहुल सांकृत्यायन प्रकाश में लाए और अब प्रसिद्ध विद्वान् डा० हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने सिद्ध या नाथ-संप्रदाय का यह क्रमबद्ध प्रथम विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत ग्रंथ के रूप में उपस्थित किया है।

इस ग्रंथ के तैयार करने में डा० द्विवेदी ने सिद्ध-संप्रदाय से संबंध रखने वाली समस्त सामग्री का अत्यंत योग्यता के साथ उपयोग किया है। यह सामग्री संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश ग्रंथों, संप्रदाय में सुरक्षित जनश्रुतियों तथा अंग्रेज़ी आदि अन्य आधुनिक भाषा के ग्रंथों में संकलित उल्लेखों के रूप में बिखरी पड़ी थी। इन सबके अध्ययन तथा समन्वय के फल स्वरूप संप्रदाय के इतिहास तथा सिद्धांतों की स्पष्ट रूपरेखा उपस्थित करना सरल कार्य नहीं था। अलौकिक कथाओं तथा असंबद्ध जनश्रुतियों में से ऐतिहासिक तथ्य को टटोल कर निकाल लेना डा० द्विवेदी जैसे अनुभवी, बहुश्रुत तथा प्रतिभाशाली विद्वान के लिए ही संभव था।

ग्रंथकार ने पहले दो अध्यायों में नाथ-संप्रदाय तथा संप्रदाय के पुराने सिद्धों का वर्णनात्मक परिचय दिया है, किंतु इस परिचय में भी प्रचुर मौलिक खोज संबंधी सामग्री गुथी हुई है। अगले तीन अध्यायों में मत्स्येन्द्रनाथ और उनके कौलज्ञान का विवेचन है। छठें व सातवें अध्यायों में जालंधरनाथ और कृष्णपाद तथा उनके कापालिक मत का वर्णन है। इसके उपरान्त चार अध्यायों (८—१२) का विषय गोरखनाथ तथा उनके योगमार्ग के सिद्धांत हैं। बारहवें तथा तेरहवें अध्यायों में गोरखनाथ के समसामयिक सिद्धों और परवर्ती सिद्ध-संप्रदायों का विस्तृत परिचय है। अंतिम दो अध्यायों में लोकभाषा में संप्रदाय के नैतिक उपदेशों का सार तथा उपसंहार है। इस तरह इन दो सौ पृष्ठों में सिद्ध या नाथ संप्रदाय का प्रामाणिक इतिहास तथा उसके सिद्धांतों का परिचय पाठक को एकत्र मिल जाता है।

स्वर्गीय राय राजेश्वर बली की प्रेरणा से इस विषय पर पुस्तक लिखाने के लिए खजूरगाँव राज (रायबरेली) के ताल्लुक़ेदार राना उमानाथ बख्श सिंह साहब ने १२००) का पुरस्कार देने का वचन दिया था, जिसमें ६००) उन्होंने एकेडेमी में भिजवा भी दिया था। राना साहब को इस विषय से विशेष दिलचस्पी थी और पुस्तक की हस्तलिपि को आद्योपांत पढ़कर उन्होंने कुछ सुझाव भी योग्य लेखक के पास भिजवाए थे। यह अत्यंत दुःख का विषय है कि आज जब यह पुस्तक प्रकाशित हो रही है तो ये दोनों ही सज्जन हम लोगों के बीच में नहीं हैं। जो हो एकेडेमी इन दोनों का आभारी है क्योंकि इनकी प्रेरणा और सहायता के बिना कदाचित् इस ग्रंथ का अभी लिखा जाना संभव न होता।

धीरेन्द्र वर्मा

१६०
१५ जनवरी, १९५०

कृतज्ञता-प्रकाश

इस पुस्तक के प्रकाशित होते होते हमें खजुरगाँव के स्वर्गीय राना उमानाथ बख्श सिंह के सुपुत्र राना शिवंबर सिंह साहब से (५००) की रकम प्रकाशन में सहायता के रूप में प्राप्त हुई है। स्वर्गीय राना साहब से प्राप्त सहायता का उल्लेख वक्तव्य में हो चुका है। राना शिवंबर सिंह साहब ने इस दान द्वारा अपने सुयोग्य पिता के वचन की अधिकांश पूर्ति की है और अपने वंश की विद्यानुरागिता का परिचय दिया है। हम हृदय से उनके कृतज्ञ हैं।

३१-३-५०

मंत्री तथा कोषाध्यक्ष,
हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

विषय-सूची

१—नाथ-संप्रदाय का विस्तार—संप्रदाय का नाम—उसकी विशेषता—अनेक बौद्ध शाकादि मतों का उसमें अंतर्भाव—कापालिक और नाथमत—जालंधर और कृष्णाचार्य का प्रवर्तित संप्रदाय—कर्णकुण्डल की प्रथा—गोरखनाथी शाखा—उनकी जनसंख्या—बारह पंथ—पंथों का मूल उद्गम—बारह पंथों के बाहर के योगी—नाथ योगी का वेश—पद्मावत का योगी वर्णन—विभिन्न चिह्नों का अर्थ—नाद-सेली—पवित्री—रिंगीनाद—हालमटंगा—धंधारी—ब्रह्मान्—सुमिरनी—अधाणी—गूदरी—सोटा—खप्पर—इन चिह्नों के धारण का हेतु—इन्तवतूना की गवाही—कबीरदास की गवाही—गृहस्थ योगी—वचन जीवियों का धर्म—बंगाल के योगी—समूचे भारत में विस्तार । १—

—संप्रदाय के पुराने सिद्ध—हठयोग प्रतीपिका के सिद्ध—नवनारायण और नवनाथ—नवनाथों की विभिन्न परंपरा—गोरखनाथ क्या नवनाथ से भिन्न हैं ?—तंत्र-ग्रंथों की गवाही—वर्णरत्नाकर के चौरासी सिद्ध—सहजयानी सिद्धों के साथ नाथ-सिद्धों की तुलना—शानेश्वर की परंपरा—नाना मूलों से प्राप्त सिद्धों के नाम—मध्ययुग के सिद्ध । २४—

—मत्स्येन्द्रनाथ कीन थे ?—मत्स्येन्द्रनाथ के नाम पर विचार—मच्छंद विभु और मच्छंदरनाथ—मत्स्येन्द्रनाथ और मीननाथ—जुईपाद और मत्स्येन्द्रनाथ—अवलोकितेश्वर के अवतार—मत्स्येन्द्रनाथ और मीननाथ अभिन्न—नित्याह्निकतिलकम् की सूची—मत्स्येन्द्रनाथ का स्थान । ३८—

—मत्स्येन्द्रनाथ-विषयक कथाएं और उनका निष्कर्ष—कौलज्ञाननिर्णय की कथा—बंगाल में प्रचलित कथा—नेपाल की कथाएं—उत्तर भारत की कथाएं—नाथ चरित्र की कहानियां—कथाओं का निष्कर्ष—काल-निर्णय—स्थान-निर्णय—कदली देश—सिंहल द्वीप—चंद्रगिरि—मत्स्येन्द्रनाथ की साधना पर विचार । ४६—

—मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा अवताररत कौलज्ञान—एकलकुलशास्त्र के अवतारक—विभिन्न युगों में कौलज्ञान—सिद्ध या सिद्धामृत कौल—‘कुल’ शब्द का प्रयोग—कौलज्ञान के विवेच्य विषय—बौद्धमत से कौलज्ञान का संबंध—कुल और अकुल का अर्थ—कौलोपनिषद् का मत—कुल शब्द के विविध अर्थ—कौल मार्ग के दार्शनिक सिद्धांत—

छत्तीस तत्त्व—शिव और जीव—योगमार्ग और कौलमार्ग—योग और भोग—गोरक्ष-
मत की विशेषता—योगग्रंथ में वामाचार—कौल साधक का लक्ष्य—चक्र—साधकों
की अवस्थाएं—आचार—मच्छुदावतारित कौलज्ञान का लक्ष्य । ५७—७६

६—जालंधरनाथ और कृष्णपाद—जालंधरनाथ विषयक परंपराएं और उनके ग्रंथ—
जालंधर पीठ—उड्डियान—जालंधर पीठ की अष्टिठात्री देवी—ब्रजेश्वरी या वज्रेश्वरी
—इंद्रभूति और लक्ष्मीकरा से संबंध पर विचार—कृष्णपाद या कानिप्पा—इनके
ग्रंथ । ७७—८१

७—जालंधरपाद और कृष्णपाद का कापालिक मत—कापालिकों के प्राचीन उल्लेख
—यक्ष-संप्रदाय और वज्रयान का संबंध—दातङ्गिपाद का मत—मालती-माधव का
उल्लेख—उक्त नाटक की टीका में कापालिक मत की व्याख्या—तांत्रिकों के निर्गुण
और सगुण शिव—योग चंद्रोदय के शैव कापालिक—सरहपाद का 'सुखराज' तत्त्व
—जालंधरपाद का एक अस्पष्ट पद—ग्रान्द—दोहाकोप और उसकी मेखला टीका—
इनमें प्रतिपादित कृष्णपाद का मत—दो प्रकार के सत्य—बौद्ध मार्ग में तांत्रिक प्रवृत्ति
का प्रवेश—शून्यवाद—बौद्ध दर्शन के पंचस्कंध—पांच बुद्ध—नाड़ी-संस्थान—उष्णीष्ट
कमल और जालंधर गिरि—गोरक्ष मत से तुलना—मेरु शिखर का वास—भावाभाव-
विनिर्मुक्तावस्था । ८२—८५

८—गोरक्षनाथ—महिमाशाली व्यक्तित्व—जन्म स्थान पर विचार—गोरक्षनाथ के ग्रंथ—
गोरक्षनाथ लिखित कहे जाने वाले हिंदी ग्रंथ—इन पर विचार । ८६—११२

९—पिएड और ब्रह्माण्ड—छत्तीस तत्वों की व्याख्या—छः पिएड—तत्त्व और पिएड—
शिवशक्ति और पिएड-ब्रह्माण्ड—कुरडली—मृष्टि के आदि कर्तृत्त्व पर विचार—नाथमार्ग
और कुरडलिनी तत्त्व—अमरौध शासन के वचन पर विचार । १०३—११३

१०—पातञ्जल योग—योग विद्या की प्राचीनता—चित्त-निरोध—चित्त के भेद—समाधि
के भेद—तीन विषय—सांख्य का तत्त्ववाद—एकाग्रता के समय चित्त की अवस्था—
चित्तवृत्तियाँ—वैराग्य और अभ्यास—कैवल्य भाव—ईश्वर प्रणिधान—क्रियायोग—
क्लेश और उनका नाश—योग के शास्त्रार्थ की चार बातें—विवेकख्याति—अष्टांग-
योग—चित्तवृत्ति-निरोध के बाद का संस्कार—सिद्धियाँ—धर्ममेघ—लिङ्ग शरीर का
विराम । ११४—१२२

११—गोरक्षनाथ का उपदिष्ट योग मार्ग—(१) हठयोग क्या है—उसके दो भेद—
कुरडलिनी—निंदु, वायु और मन—काम, विषहर और निरंजन—सामरस्य—

नाडियाँ—अनाहत ध्वनि—षट्चक्र—चार प्रकार के योग—सोलह आधार, दो लक्ष्य और पांच व्योम—मुद्रा और सारणा—परासंयित्—सहजसमाधि ।

(२) गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह—उसमें उद्धृत ग्रंथों की सूची—गोरक्ष पूर्वयोग—उपनिषदों पर विचार—योगोपनिषद्—पङ्कज और अष्टांग योग—गुरु-महिमा—विभिन्न दर्शनों से मतभेद—नाथमत में मुक्ति ।

१३२—१३६

१२—गोरक्षनाथ के सम सामयिक सिद्ध—वज्रयानी और नाथपंथी सिद्ध परंपरा के सामान्य सिद्ध—बोरंगीनाथ—चामीनाथ—तलिपा—दारिपा—त्रिकरा—कमाठी—कनखल—मेखल—बोधी—नागार्जुन—अविति—चम्पक—टेण्टस—चुणकर—भादे—कामरी—धर्मपापतग—भद्रपा—सबर—सान्ति—कुमारी—सियारी—कमल—कंगारि—चर्पटीनाथ ।

१३७—१४४

१३—परवर्ती सिद्ध-संप्रदाय में प्राचीन मत—वाग्द पंथ—पाशुपत मत—आगम और निगम—गोरक्ष पूर्वमतों का संप्रदाय में ग्रहण और उसका कारण—योगी मुसलमान क्यों हुए?—पुराने संप्रदायों की अंतर्भुक्ति के प्रमाण—शिवद्वारा, प्रवर्तित संप्रदाय—गोरक्ष संप्रदाय—योगियों के मुख्य स्थान—संप्रदाय का वृत्त—रावल-शाखा—'रावल' का अर्थ—वाष्पा रावल—लाकुल पाशुपत मत का अवशेष—गोरक्षनाथ और लकुलीश—उलूक और कुशिक—औलूक्य दर्शन—पूरन भगत और राजा रसालू—पुरी के सतनाथ—वैष्णव आगम—भर्तृहरि—गोपीचंद और मयनामती—इनके संबंध की कथाएँ—रसेश्वर मत—नाथ पंथियों के रस ग्रंथ—वैष्णव योग—शाक्त उपादान—अन्यसंप्रदायों के अवशेष ।

१४५—१८१

१४—लोकभाषा में संप्रदाय के नैतिक उपदेश—हिंदी रचनाओं की विशेषता—संवाद परक साहित्य—तर्कों की प्राचीनता—गुरु की आवश्यकता—गुरु और शिष्य—मन की शुद्धि—वाद-विवाद निषिद्ध—जलदवाजी अनुचित—प्रलोभनों से बचाव—विकारों में निर्विकार तरव—शिष्य का आचरण—मध्यम मार्ग—गृही और योगी—ब्रह्मचर्य पर जोर—नाद और बिंदु का संयम—नशा सेवन निषिद्ध—मय मांस का निषेध—हठ कंठ स्वर ।

१८२—१८७

१५—उपसंहार—

१८८—१८९

सहायक ग्रंथों की सूची—

१९०—१९३

नामानुक्रमसिका

१९४—२०६

विषयानुक्रमसिका

२०७—२११

नाथ-संप्रदाय का विस्तार

(१) नाम

सांप्रदायिक ग्रंथों में नाथ-संप्रदाय के अनेक नामों का उल्लेख मिलता है। हठ योग प्रदीपिका की टीका (१-५) में ब्रह्मानन्द ने लिखा है कि सब नाथों में प्रथम आदिनाथ हैं जो स्वयं शिव ही हैं—ऐसा नाथ-संप्रदाय वालों का विश्वास है। इस से यह अनुमान किया जा सकता है कि ब्रह्मानन्द इस संप्रदाय को 'नाथ-संप्रदाय' नाम से ही जानते थे^१ भिन्न-भिन्न ग्रंथों में बराबर यह उल्लेख मिलता है कि यह मत 'नाथोक्त' अर्थात् नाथद्वारा कथित है। परंतु संप्रदाय में अधिक प्रचलित शब्द हैं, सिद्ध-मत (गो० सि० सं०, पृ० १२) सिद्ध-मार्ग (योगबीज), योग-मार्ग (गो० सि० सं०, पृ० ५, २१) योग-संप्रदाय- (गो० सि० सं०, पृ० ५८), अवधूतमत (पृ० १८), अवधूत-संप्रदाय (पृ० ५६) इत्यादि। इस मत के योग मत और योग-संप्रदाय नाम तो साथ-ही हैं, क्योंकि इनका मुख्य धर्म ही योगाभ्यास है। अपने मार्ग को ये लोग सिद्धमत या सिद्ध-मार्ग इसलिये कहते हैं कि इनके मत से नाथ ही सिद्ध हैं। इनके मत का अत्यंत प्रामाणिक ग्रंथ 'सिद्ध सिद्धान्त-पद्धति' है जिसे अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में काशी के बलभद्र पंडित ने संचिपित कर के सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह नामक ग्रंथ लिखा था। इन ग्रंथों के नाम से पता चलता है कि बहुत प्राचीन काल से इस मत को 'सिद्ध मत' कहा जा रहा है। सिद्धान्त वस्तुतः वादी और प्रतिवादी द्वारा निर्णीत अर्थ को कहते हैं, परन्तु इस संप्रदाय में यह अर्थ नहीं स्वीकार किया जाता। इन लोगों के मत से सिद्धों द्वारा निर्णीत या व्याख्यात तत्त्व को ही सिद्धान्त कहा जाता है (गो० सि० सं०, पृ० १८), इसी लिये अपने संप्रदाय के ग्रंथों को ही ये लोग 'सिद्धान्त-ग्रंथ' कहते हैं। नाथ संप्रदाय में प्रसिद्ध है किशोकराचार्य अन्त में नाथ-संप्रदाय के अनुयायी हो गए और उसी अवस्था में उन्होंने सिद्धान्त-विंदु ग्रंथ लिखा था। अपने मत को ये लोग 'अवधूत मत' भी कहते हैं। गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह में लिखा है कि इमारा मत तो अवधूत मत ही है (अस्माकं मतं त्ववधूतमेव, पृ० १८)। कबीरदास ने 'अवधू' (= अवधूत) को संबोधन करते समय इस मत को ही बराबर ध्यान में रखा है। कभी कभी इस मत के ढोंगी साधुओं को उन्होंने 'कच्चे सिद्ध' कहा है^२। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस के शुरू में ही

१. आदिनाथः सर्वेषां नाथानां प्रथमः, ततो नाथसंप्रदायः प्रवृत्त इति नाथसंप्रदायिनां वदन्ति।

२. कच्चे सिद्धन माया प्यारी। — बी ज क, ६६ वीं रमैनी

‘सिद्ध मत’ की भक्ति-हीनता ^१ की ओर इशारा किया है। गोस्वामी जी के ग्रंथों से पता चलता है कि वे यह विश्वास करते थे कि गोरखनाथ ने योग जगाकर भक्ति को दूर कर दिया था ^२। मेरा अनुमान है कि रामचरितमानस के आरंभ में शिव की वंदना के प्रसंग में जब उन्होंने कहा था कि ‘श्रद्धा और विश्वास के साक्षात् स्वरूप पार्वती और शिव हैं; इन्हीं दो गुणों (अर्थात् श्रद्धा और विश्वास) के अभाव में ‘सिद्ध’ लोग भी अपने ही भीतर विद्यमान ईश्वर को नहीं देख पाते’^३, तो उनका तात्पर्य इन्हीं नाथपंथियों से था। यह अनुमान यदि ठीक है तो यह भी सिद्ध है कि गोस्वामी जी इस मत को ‘सिद्ध मत’ ही कहते थे। यह नाम संप्रदाय में भी बहुत समाहत है और इसकी परंपरा बहुत पुरानी मालूम होती है। मत्स्येन्द्रनाथ के कौल ज्ञाननिर्याय के सोलहवें पटल से अनुमान होता है कि वे जिस संप्रदाय के अनुयायी थे उसका नाम ‘सिद्ध कौल संप्रदाय’ था। डा० बागची ने लिखा है कि बाद में उन्होंने जिस संप्रदाय का प्रवर्तन किया था उसका नाम ‘योगिनी कौल मार्ग’ था। आगे चल कर इस बात की विशेष आलोचना करने का अवसर आएगा। यहाँ इतना ही कह रखना पर्याप्त है कि यह सिद्ध कौल मत ही आगे चल कर नाथ-परंपरा के रूप में विकसित हुआ।

सिद्ध सिद्धान्तपद्धति में इस सिद्ध मत को सबसे श्रेष्ठ बताया गया है, क्योंकि कर्कशानकरायण वेदान्ती माया से ग्रसित हैं भाट्ट मीमांसक कर्म-फल के चक्कर में पड़े हुए हैं, वैशेषिक लोग अपनी द्वैत बुद्धि से ही मारे गए हैं तथा अन्यान्य दार्शनिक भी तत्त्व से वंचित ही हैं; फिर, सांख्य, वैष्णव, वैदिक, वीर, बौद्ध, जैन, ये सब लोग व्यर्थ के कष्टकल्पित मार्ग में भटक रहे हैं; फिर, होम करने वाले

१. (१) जियोनार्ड ने अपने नोट्स आन दि कनफटा योगीज्ञ नामक प्रबंध में दिखाया है कि गोरखनाथ भक्ति मार्ग के प्रतिद्वंद्वी थे। देखिए ६० पृ०, जिल्द ७, पृ० २६६।

(२) नाथयोगियों और भक्तों की तुलना के लिये देखिए — कबीर, पृ० १५३-४।

२. बरन धरम गयो आत्म निवास तउयो

त्रासन चकित सो परावनो परो सो है।

करम उपासना कुबासना विनास्यो ज्ञान

वचन विराग वेस जतन हगे सो है।

गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग

निगम नियोग ते सो केलि ही छरो सो है।

काय मन बचन सुभाय तुलसी है जाहि

राम नाम को भरोसो ताहि को भरोसो है।

— कवितावली, उत्तरकाण्ड, ८४।

३. भवानीशंकरौ बन्दे श्रद्धाविश्वस्वरूपिणी।

बाभ्यां बिना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥

बहुदीक्षित आचार्य, नग्नव्रत वाले तापस, नाना तीर्थों में भटकने वाले पुण्यार्थी बेचारे दुःखभार से दबे रहने के कारण तत्त्व से शून्य रह गए हैं, — इसलिये एक मात्र स्वामाधिक आचरण के अनुकूल सिद्ध-मार्ग को आश्रय करना ही उच्युक्त है^१। यह सिद्ध-मार्ग नाथ मत ही है। 'ना' का अर्थ है अनादि रूप और 'थ' का अर्थ है (भुवनत्रय का) स्थापित होना, इस प्रकार 'नाथ' मत का स्रष्टा अर्थ वह अनादि धर्म है जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है। श्री गोरक्ष को इसी कारण से 'नाथ' कहा जाता है।^२ फिर 'ना' शब्द का अर्थ नाथ-ब्रह्म जो मोक्ष-दान में दत्त हैं, उनका ज्ञान कराना है और 'थ' का अर्थ है (अज्ञान के सामर्थ्य को) स्थगित करने वाला। चूँकि नाथ के आश्रयण से इस नाथ-ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और अज्ञान की माया अवरुद्ध होती है इसलिये 'नाथ' शब्द का व्यवहार किया जाता है।^३

(२) बौद्ध और शाक्त मतों का अन्तर्भाव

यह विश्वास किया जाना है कि आदिनाथ स्वयं शिव ही हैं^४ और मूलतः समग्र नाथ-संप्रदाय शैव है। सब के मूल उपास्य देवता शिव हैं। गोरक्ष सिद्धान्त

१. वेदान्ती बहुतर्ककर्मशमतिर्ग्रस्तः परं मायया ।

भाट्टाः कर्मफलाकुला हतधियो द्वैतेन वैशेषिकाः ।
अन्ये भेदरता विषादविकलास्ते तत्त्वतोवचिता—
स्तस्मात् सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः परं संश्रयेत् ।
सांख्या वैष्णव वैदिका विधिपराः संन्यासिनस्तापसाः ।
सीरा वीरपराः प्रपञ्चनिरता बौद्धा जिनाः श्रावकाः ।
एते कष्टरता वृथा पृथगता ते तत्त्वतोवचिता —
स्तस्मात् सिद्धमतं० ।

आचार्या बहुदीक्षिता हुतिरता नग्नव्रतास्तापसाः ।
नानातीर्थनिषेवका जिनपरा मौने स्थिता नित्यशः ।
एते ते खलु दुःखभागनिरता ते तत्त्वतो वचिता —
स्तस्मात् सिद्धमतं० ।

२. राजगुह्य में—ताकारोऽनादि रूपं थकारः स्थाप्यते सदा ।

भुवनत्रयमेवैकः श्री गोरक्ष नमोऽस्तुते ॥

३. शक्तिसंगमर्तत्रय में—श्री मोक्षदानदत्तत्वात् नाथ ब्रह्मानुबोधनात् ।

स्थगिताज्ञानविभवात् श्री नाथ इति गीयते ॥

४. देदीप्यमानस्तत्त्वस्य कर्ता साक्षात् स्वयं शिवः

सरञ्जन्तो विश्वमेव धीराः सिद्धमताश्रयाः ॥

—सिद्धसिद्धान्तपद्धति

शक्तिसंगमर्तत्रय बड़ौदा सीरीज़ (६१) के ताराखण्ड में आदिनाथ और काली के संवाद से ग्रंथ आरंभ होता है। ये आदिनाथ स्वयं शिव ही हैं ।

सं ग्र ह (पृ० १८) में शंकराचार्य के अद्वैत मत के पराभव की कहानी दी हुई है। पराभव एक कापालिक द्वारा हुआ था। कहानी कहने के बाद प्रथकार को संदेह हुआ है कि पाठक कहीं कापालिक के विजय से उल्लसित होने के कारण प्रथकार को भी उसी मत का अनुयायी न मान लें, इसलिये उन्होंने इस शंका को निर्मूल करने के लिये कहा है कि ऐसा कोई न समझे कि हम कापालिक मत को मानते हैं। मत तो हमारा अवधूत ही है। किन्तु इतना अवश्य है कि कापालिक मत को भी श्री 'नाथ' ने ही प्रकट किया था, क्योंकि शा ब र तं त्र में कापालिकों के बारह आचार्यों में प्रथम नाम आदिनाथ का ही है और बारह शिष्यों में से कई नाथ मार्ग के प्रधान आचार्य हैं^२। फिर शाक्त मार्ग, जो तंत्रानुसारी है, उसके उपदेष्टा भी नाथ ही हैं। नाथ ने ही तंत्रों की रचना की है क्योंकि षो ड श नि त्या तं त्र में शिव ने कहा है कि मेरे कहे हुए तंत्र को ही नवनाथों ने लोक में प्रचार किया है^३। शाक्त मत के अनुसार चार प्रधान आचार हैं:—वैदिक, वैष्णव, शैव और शाक्त। शाक्त आचार भी चार प्रकार के हैं:—वामाचार, दक्षिणाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। अब, ष ट् शां भ ब-र ह स्य नामक ग्रंथ में बताया गया है कि वैदिक आचार से वैष्णव श्रेष्ठ हैं, उससे गाणपत्य, उससे सौर, उससे शैव और शैव आचार से भी शाक्त आचार श्रेष्ठ है। शाक्त आचारों में भी वाम, दक्षिण और कौल उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं और कौल मार्ग ही अवधूत-मार्ग है। इस प्रकार तंत्र ग्रंथों के अनुसार भी कौल या अवधूत मार्ग श्रेष्ठ है, इसलिये शाक्त तंत्र भी नाथानुयायी ही हैं (गो० सि० सं०, पृ० १९)। यह लक्ष्य करने की बात है कि इस वक्तव्य में शाक्त तंत्र को ही नाथ मत का अनुयायी कहा गया है। शाक्त आगम तीन प्रकार के हैं। सात्त्विक अधिकारियों को लक्ष्य करके उपदिष्ट आगम 'तंत्र' कहे जाते हैं, राजस अधिकारियों के लिये उपदिष्ट शास्त्र 'यामल' कहे जाते हैं और तामस अधिकारियों के लिये उपदिष्ट शास्त्र को 'डामर' कहा जाता है। फिर तांत्रिकों के सर्वश्रेष्ठ कौलाचार को ही-अवधूत-मार्ग बताया गया है। गो र च सि द्धा न्त सं ग्र ह (पृ० २०) में तांत्रिक और अवधूत का अन्तर भी बताया गया है। कहा गया है कि तांत्रिक लोग पहिले बहिरंग उपासना करते हैं और अन्त में क्रमशः सिद्धि प्राप्त करते हुए कुण्डलिनी शक्ति की उपासना करते हैं जो दू-ब-दू अवधूत-मार्ग की ही उपासन है। ✓

१. कापालिकों के बारह आचार्य ये हैं—आदिनाथ, अनादि, काल, अतिकाल, कराल, विकराल, महाकाल कालभैरवनाथ, वटुकनाथ, वीरनाथ और श्रीकण्ठ। इनके बारह शिष्यों के नाम इस प्रकार हैं—नागार्जुन, जडभरत, हरिश्चंद्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्ष, चर्पट, अवध ; वैरागी, कथाधारी, जालंधर और मलयार्जुन। स्पष्ट ही इस सूची में के अनेक नाम नाथ-योगियों के हैं।

२. कादिसंज्ञा भवेद्भा साशक्तिः सर्व सिद्धये ।

तंत्र यदुक्तं भुवने नवनाथैरकथयन् ॥

तथा तैर्भुवने मंत्रं कल्पे कल्पे विजृम्भते ।

अवमाने तु कल्पानां सा तैः सार्द्धं प्रजेय माम् ॥

इस प्रकार नाथ संप्रदाय के ग्रंथों की अपनी गवाही से ही मालूम होता है कि तांत्रिकों का कौल-मार्ग और कापालिक मत नाथ मतानुयायी ही हैं। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि कौल ज्ञान निर्णय में अनेक कौल मतों में एक योगिनी-कौल मत का उल्लेख है (सप्तदश पटल)। गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का संबंध इसी योगिनी-कौल मार्ग से बताया गया है^१। यह मार्ग कामरूप देश में उद्भूत हुआ था। इस प्रकार नाथ-पंथियों का यह दावा ठीक ही जान पड़ता है कि कौलाचार उनके आचार्यों द्वारा उपदिष्ट मार्ग है। त्रिपुरा-संप्रदाय के अनेक सिद्धों के नाम वे ही हैं जो नाथ पंथियों के हैं। प्रसिद्ध है कि दत्तात्रेय ने त्रिपुरातत्त्व पर अठारह हजार श्लोकों की दत्तसंहिता लिखी थी। परशुराम नामक किसी आचार्य ने पचास खंडों में तथा छः हजार सूत्रों में इसे संचिप्त किया था। बाद में यह संचिप्त ग्रंथ भी बड़ा समझा गया और हरितायन सुमेधा ने इसे परशुरामकल्पसूत्र नाम से पुनर्गौरव संचिप्त किया। इस ग्रंथ की दो टीकाएँ उपलब्ध हुई हैं और दोनों ही गायकवाड़ संस्कृत सीरीज में (नं० २२, २३) प्रकाशित हो गई हैं। प्रथम टीका उमानन्दनाथ की लिखी हुई नित्योत्सव नामक है। इसे अशुद्ध समझ कर रामेश्वर ने दूसरी वृत्ति लिखी। उमानन्दनाथ ने प्रथम मंगलाचरण के श्लोक में 'नाथपरम्परा' की स्तुति की है^२। इस प्रकार त्रिपुरा मत के तांत्रिकों के आचार्य स्वयं अपने को 'नाथ मतानुयायी' कहते हैं। काश्मीर के कौल मार्ग में मत्स्येन्द्रनाथ को बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता है।

अब थोड़ा सा कापालिक मत के विषय में भी विचार किया जाय। कापालिक मत इस समय जीवित है या नहीं, इस विषय में संदेह ही प्रकट किया जाता है^३। यामुनाचार्य के आगमप्रामाण्य (पृ० ४८) से इस मत का थोड़ा सा परिचय मिलता है। भवभूति के मालतीमाधव नामक प्रकरण में कापालिकों का जो वर्णन है वह बहुत ही भयंकर है। वे लोग मनुष्य बलि किया करते थे। परन्तु इस नाटक से इतना तो स्पष्ट ही है कि उनका मत षट्चक्र और नाड़िका-निचय के काया-योग से सबद्ध

१. बागची : कौलावलि निर्णय, भूमिका पृ० ३५

उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ५३८

२. नत्वा नाथ परंपरा शिवमुखां विद्येश्वर श्री महा-

राज्ञी तत्सचिवां तदीयपुत्तनानां तदन्तःपराम्

— इत्यादि ।

३. बंगाल में कपाली नाम की एक जाति है पंडित लोग इसे कापालिक परंपरा का अवशेष मानते हैं। परन्तु स्वयं यह जाति इस बात को नहीं स्वीकार करती। ये लोग अपनेको वैश्य कपाली कहने लगे हैं। इनके समस्त आचार आधुनिक हिंदुओं के हैं। इनके पुरोहित ब्राह्मण हैं परन्तु अन्य ब्राह्मण इन्हें हीन समझते हैं। सन् १९०१ की मर्दूमशुमारी के अनुसार इनकी संख्या १४ ७०० थी।

था^१। यह काया-योग नाथपंथियों की अपनी विशेषता है। महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने बौद्ध गानओ दोहा नाम से जो संप्रद प्रकाशित किया है उसका एक भाग चर्या चर्य विनिश्चय है। यहाँ सुझाया गया है कि ग्रंथ का वास्तविक नाम चर्या चर्य विनिश्चय होना चाहिए। इस में चौराही बौद्ध सिद्धों में से चौबीस सिद्धों के रचित पद संगृहीत हैं। एक सिद्ध हैं कान्हूपाद या कृष्णगढ़। इनके रचित बारह पद उक्त संप्रद में पाए जाते हैं और सब से अधिक पद इन्हीं के हैं। ये कान्हूपाद अपने को 'कारालो' या 'कापालिक' कहते हैं।^२ एक पद में उन्होंने अपने गुरु का नाम जालंधरि दिया है।^३ हम आगे चल कर देखेंगे कि जालंधरपाद नाथपंथ के बहुत प्रसिद्ध आचार्य थे। परवर्ती परंपरा के अनुसार भी कान्हूपाद या कानपा जालंधरनाथ के शिष्य बताए गए हैं। मानिकचंद्र के मयनामतीरगान में इन्हें नाथपंथी योगी जालंधर का शिष्य बताया है। इन्हीं जालंधर का नाम हाड़ीपा या हल्लोकपाद भी है। जालंधरनाथ ने कोई सिद्धान्त वाक्य नामक संस्कृत पुस्तक भी लिखी थी। वह पुस्तक अब उपलब्ध नहीं है, पर एक श्लोक से पता चलता है कि जालंधर नाथ-मार्ग के अनुयायी थे। उस श्लोक में नाथ की बड़ी सुंदर स्तुति है^४। स्कंदपुराण के काशीखण्ड में नव नाथों के विन्यास के सिलसिले में जालंधरनाथ का नाम

१. नित्यन्यस्तपडङ्गचक्रनिहित हृत्पद्ममध्योदितं
परयन्ती शिवरूपिणं लयवशादात्मानमभ्यागता ।
नाडीनामुदयक्रमेण जगः पंचासृताकर्षणाद्
अप्राप्तोत्पतनश्रमा विषट्यन्त्यग्र नभोऽभ्युचः ॥ —मालतीमाधव ५-२

२ (१) आलो डोम्बि तोए संग करिब मो सांग ।
निर्धन कान्ह कापालि जोहलांग ॥ चर्या ०, पद १०
(२) कहसन होलो डोम्बि तोहरि भाभरि आली ।
अन्ते कुलीन जन माभे कावाली ।
(३) तुलो डोम्बी हाउँ कपाली —वही, पद १०

३. शाखि करिब जालंधरि पाए ।
पाखि य राह्य मोरि पांडिआ चारे ॥ —वही, पद ३६

४ जालंधर के सिद्धान्त वाक्य में यह श्लोक है:
वन्दे तत्साथतेजो भुवनतिमिरहं भानुतेजस्करं वा,
सत्कर्म व्यापकं त्वा पवनगतिकरं व्योमवनिर्भरं वा
मुद्रानादि शूलैर्विमलरुचिधरं खर्पर भस्ममिश्र
द्वैत वाऽद्वैतरूपं द्वयत उत परं योगिनं शङ्करं वा —स०, भ०, सू०, पृ० २८

पाया जाता है^१। गोरक्षसिद्धांतसंग्रह (पृ० २०) पर कापालिक मत के प्रकट करने का मनोरंजक कारण बताया गया है। जब विष्णु ने चौबीस अवतार धारण किए और मत्स्य, कूर्म, नृसिंह आदि के रूप में तिर्यग् योनि के जीवों की सी क्रीड़ा करने लगे, कृष्ण के रूप में व्यभिचारि भाव प्रदूषण किया, परशुराम के रूप में निरपराध क्षत्रियों का निपात आरम्भ किया, तो इन अनर्थों से कुपित होकर श्रीनाथ ने चौबीस कापालिकों को भेजा। इन्होंने चौबीसों अवतारों से युद्ध करके उनका सिर या कपाल काटकर धारण किया ! इसीलिये ये लोग कापालिक कहलाए।

इस समय जयपुर के पावनाथ शाखा वाले अपनी परम्परा जालंधरनाथ और गोपीचन्द से मिलाते हैं। अनुश्रुति के अनुसार बारह पंथों में से छः स्वयं शिव के प्रवर्तित हैं और बाकी छः गोरखनाथ के। यह परम्परा लक्ष्य करने की है कि जालंधरिपा नामक जो संप्रदाय इस समय जीवित है वह जालंधरपाद का चलाया हुआ है। पहले इसे 'पा पंथ' कहते थे और नाथ-मार्ग से ये लोग स्वतंत्र और भिन्न थे। जालंधर या जालंधर नाथ को मत्स्येंद्रनाथ और गोरखनाथ से अलग करने के लिये कहा गया है। जालंधरनाथ औघड़ थे जब कि मत्स्येंद्रनाथ और गोरखनाथ कनफटा।^२ कान चीर कर मुद्रा धारण करने पर योगी लोग कनफटा कहलाते हैं परन्तु उनके पूर्व औघड़ कहे जाते हैं। परन्तु सिद्धान्त वाक्य से जालंधरपाद का जो श्लोक पहले उद्धृत किया गया है उससे पता चलता है कि मुद्रा नाद और त्रिशूल धारण करने वाले नाथ ही इनके उपास्य हैं। आजकल जालंधरिपा सम्प्रदाय के लोग गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित पावनाथी शाखा के ही हैं। परन्तु कानिपा सम्प्रदाय वाले, जिन्हें कोई-कोई जालंधरिपा से अभिन्न भी मानते हैं और जो लोग अपने को गोपीचन्द का अनुवर्ती मानते हैं, बारह पंथियों से अलग समझे जाते हैं।^३ सपेला या सेंपेरे इसी सम्प्रदाय के माने जाते हैं। एक अन्य परंपरा के अनुसार वामारग (वाममार्ग) संप्रदाय कानिपा पंथ से ही संबद्ध है।^३ इन बातों से यह अनुमान होता है कि कापालिक मार्ग का स्वतंत्र अस्तित्व था जो बाद में गोरखपंथी साधुओं में अन्तर्भुक्त हो गया है। गोरखपंथियों से कुछ बातों में ये लोग अब भी भिन्न हैं। गोरखपंथी लोग कान के मध्यभाग में ही कुण्डल धारण करते हैं पर कानिपा लोग कान की लोरी में भी उसे पहनते हैं। यह मुद्रा गोरखनाथी योगियों का चिह्न है गोरक्षपंथ में इसके अनेक आध्यात्मिक अर्थ भी बताये जाते हैं। कहते हैं यह शब्द मुद् (प्रसन्न होना) और रा (आदान, प्रदण) इन धातुओं से बना है। ये दोनों जीवात्मा और परमात्मा के प्रतीक हैं। चूँकि इससे देवता लोग प्रसन्न होते हैं और असुर

१. जालंधरो वसेन्नित्यमुत्तरापथमाश्रितः।

२. त्रिगसः गोरखनाथपेयश्चदि कनफटा योगी ज्ञः, पृ० ६७।

३. वही, पृ० ६१।

लोग भाग खड़े होते हैं इसलिये इसे साक्षात्कल्याणदायिनी मुद्रा माना जाता है^१। मुद्रा धारण के लिये कान का फाड़ना आवश्यक है और यह कार्य छुरी या छुरिका से ही होता है। इसीलिये छुरि को पनिषद् में छुरी का माहात्म्य वर्णित है^२। तात्पर्य यह कि जो साधु कान फाड़कर मुद्रा धारण नहीं करते उनका गोरक्षनाथ के मार्ग से संबंध संदेहास्पद हो है। इस आलोचना से स्पष्ट होता है कि जालंधर (वा जलधर) पाद और कृष्ण-पाद (कानिपा, कानुग, कान्हूपा) द्वारा प्रवर्तित मत नाथ-संप्रदाय के अन्तर्गत तो था परन्तु मत्स्येन्द्रनाथ-गोरखनाथ परम्परा से भिन्न था। बाद में चलकर वह गोरखनाथी शाखा में अन्तर्भूक्त हुआ होगा।

जो हो, जालंधरपाद और कृष्णपाद कर्णकुण्डल धारण करते थे, या नहीं यह निश्चय करना आज के वर्तमान उपलब्ध सामग्रियों के आधार बहुत कठिन है। परन्तु चर्यापद में शबरपाद का एक पद हमें ऐसा मिला है^३ जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि कम से कम शबरपाद या तत् स्वयं कर्णकुण्डल धारण करते थे या फिर उनके सामने ऐसे योगी जल्द थे जो कर्णकुण्डल धारण करते थे। पहली बात ज्यादा मान्य जान पड़ती है। इन शबरपाद को कृष्णपाद (कानपा) ने बहुत श्रद्धा और सम्मान के साथ याद किया है और एक दोहे में परम पद—महासुख के आवास—के प्रसंग में बताया है कि यही वह जालंधर नामक मझमेरु गिरि के शिखर का उष्णीष कमल है—जो साधकों का चरम प्राप्तव्य है—जहाँ स्वयं शबरपाद ने बास किया था।^४ यदि यह अनुमान सत्य हो कि शबर पादकिसी

१. मुद् मोदे तु रादाने जीवात्मपरमात्मनोः ।

उभयोरैक्यसंभूतिमुद्रेति पिकीर्तिता ॥

मोदन्ते देवसंघाश्च द्रवन्तेऽसुरराशयः ।

मुद्रेति कथिता साक्षात् सदाभद्रार्थदायिनी ।—सिद्धसिद्धान्तपद्धति

२. छुरिको संप्रवक्ष्यामि धारणं गसिद्धये ।

संप्राप्य न पुनर्जन्म योगयुक्तः प्रजायते ।

३. एकैली सबरी ए वन हिण्डइह

कर्ण कुण्डल वज्रधारी—चर्या० पद २८ ।

इस पर टीका—कर्णेति नानास्थाने कुण्डलादि पञ्चमुद्रा निरंशुकालंकारं कृत्वा वज्रमुपायज्ञानं विष्टय युगवनद्वरूपेण अत्र कायपर्वत वने हिण्डति क्रीडति ।

—बौ० गा० दो०, पृ० ४४ ।

४. बरगिरि शिहर उतुंग मुनि

शबरे जहि किअ याप ।

याउ सो लंघिअ पञ्चाननेहि

करिवर दुरिअ आस ॥ २५ ॥

—बौ० गा० दो०, पृ० १३० ।

प्रकार का कर्णकुण्डल धारण करते थे तो यह अनुमान भी असंगत नहीं है कि उनके प्रति नितरां श्रद्धाशील कानपा भी कर्णकुण्डल धारण करते होंगे। अद्वयवचन ने इस पद के इस शब्द की भी रूपक के रूप में व्याख्या की है।

यद्यपि यही विश्वास किया जाता है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने या गोरखनाथ ने ही कर्णकुण्डल धारण करने की प्रथा चलाई थी तथापि कर्णकुण्डल कोई नई बात नहीं है। इस प्रकार के प्राचीन प्रमाण मिलते हैं जिससे अनुमान होता है कि कर्णकुण्डलधारी शिवमूर्तियाँ बहुत प्राचीन काल में भी बनती थीं। एलोरा गुफा के कैलास नामक शिवमन्दिर में शिव की एक महायोगी मुद्रा की मूर्ति पाई गई है। इस मूर्ति के कान में बड़े बड़े कुण्डल हैं। यह मंदिर और मूर्ति सन् ईसवी की आठवीं शताब्दी की हैं। परन्तु ये कर्णकुण्डल कनफटा योगियों की भाँति नहीं पहने गये हैं। जिस ने बम्बई की लिटरेरी सोसायटी के अनुवादों से उद्धृत करके लिखा है कि सालसेटी, एलोरा और एलीफंटा की गुफाओं में, जो आठवीं शताब्दी की हैं, शिव की ऐसी अनेक योगी-मूर्तियाँ हैं जिनके कान में वैसे ही बड़े बड़े कुण्डल हैं जैसे कनफटा योगियों के होते हैं और उनको कान में उसी ढंग से पहनाया भी गया है। इसके अतिरिक्त मद्रास के उत्तरी आरकट जिले में परशुरामेश्वर का जो मंदिर है उसके भीतर स्थापित लिंग पर शिव की एक मूर्ति है जिसके कानों में कनफटा योगियों के समान कुण्डल हैं। इस मंदिर का पुनः संस्कार सन् ११२६ ई० में हुआ था इस लिये मूर्ति निश्चय ही उसके बहुत पूर्व की होगी। टी० ए० गोपीनाथ राव ने इंडियन एंटिकैरी के चालीसवें जिल्द (१९११ ई०) में इस लिंग का वर्णन दिया है। इनके मत से यह लिंग सन् ईसवी की दूसरी या तीसरी शताब्दी के पहले का नहीं होना चाहिए। इन सब बातों को देखते हुए यह अनुमान करना असंगत नहीं कि मत्स्येन्द्रनाथ के पहले भी कर्णकुण्डलधारी शिवमूर्तियाँ होती थीं। इससे परंपरा का भी कोई विरोध नहीं होता क्योंकि कहा जाता है कि शिवजी ने ही अपना वेश ज्यों का त्यों मत्स्येन्द्रनाथ को दिया था। एक अनुश्रुति के अनुसार तो शिव का वह वेश पाने के लिये मत्स्येन्द्रनाथ को दीर्घकाल तक कठोर तपस्या करनी पड़ी थी।

(३) गोरखनाथी शाखा

नाथपंथियों का मुख्य संप्रदाय गोरखनाथी योगियों का है। इन्हें साधारणतः कनफटा और दर्शनी साधु कहा जाता है। कनफटा नाम का कारण यह है कि ये लोग कान फाड़कर एक प्रकार की मुद्रा धारण करते हैं। इस मुद्रा के नाम पर ही इन्हें 'दरसनी' साधु कहते हैं। यह मुद्रा नाना धातुओं और हाथी दाँत की भी होती है। अधिक धनी महन्त लोग सोने की मुद्रा भी धारण करते हैं। गोरखनाथी साधु सारे भारतवर्ष में पाए जाते हैं। पंजाब, हिमालय के पाद देश, बंगाल और बम्बई में ये लोग 'नाथ' कहे जाते हैं। ये लोग जो मुद्रा धारण करते हैं वे दो प्रकार की होती हैं -- कुण्डल और दर्शनी। 'दर्शनी' का सम्मान अधिक है क्योंकि विश्वास किया जाता है

कि इसे धारण करने वाले ब्रह्म-साक्षात्कार कर चुके होते हैं। कृण्डल को 'पवित्री' भी कहते हैं।

इन योगियों की ठीक-ठीक संख्या कितनी है यह मर्दमगुमारी की रिपोर्टों से भली भाँति नहीं जाना जाता। जार्ज वेस्टन ग्रिम ने अपनी मृत्युवान पुस्तक गो र ख-नाथ ऐ ए ड दी क न फ टा यो गी ज में भिन्न-भिन्न वर्षों की मनुष्य-गणना की रिपोर्टों से इनकी संख्या का हिसाब बताया है। सन् १८९१ की मनुष्य गणना में सारे भारतवर्ष में योगियों की संख्या २१४५४६ बताई गई थी। इसी वर्ष आगरा और अवध के प्रांतों में औषड़ ५३१९, गोरखनाथी २८८१६ और योगी (जिनमें गोरखनाथी भी शामिल हैं) ७८३८७ थे। इनमें औषड़ों को लेकर समस्त गोरखनाथियों का अनुपात ४५ की सदी है। उसी रिपोर्ट के अनुसार योगियों में पुरुषों और स्त्रियों का अनुपात ४२ और ३५ का था। ये संख्याएँ विशेष रूप से मनोरंजक हैं क्योंकि साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि ये योगी लोग ब्रह्मचारी हुआ करते हैं। वस्तुतः इनमें गृहस्थ और घरबारी लोग बहुत हैं। यह समझना भूल है कि केवल हिंदुओं में ही योगी हैं। उस साल की पंजाब की रिपोर्ट से पता चलता है कि ३८१३७ योगी मुसलमान थे। सन् १९२१ की मनुष्य-गणना में इनकी संख्या इस प्रकार है :—

जोगी हिंदू	६२९९७८	पुरुष/स्त्री	३२५/३८५
जोगी मुसलमान	३११५८	"	१६/१५
फकीर हिंदू	१४११३२	"	८०/६१

मनुष्य-गणना की परवर्ती रिपोर्टों में इन लोगों का अलग से कोई उल्लेख नहीं है^१। इतना निश्चित है कि जोगियों में कनफटा साधुओं की संख्या बहुत अधिक है।

गोरखनाथी लोग मुख्यतः बारह शाखाओं में विभक्त हैं। अनुश्रुति के अनुसार स्वयं गोरखनाथ ने परस्पर विच्छिन्न नाथ पंथियों का संगठन करके इन्हें बारह शाखाओं में विभक्त कर दिया था। वे बारह पंथ ये हैं—सत्यनाथी, धर्मनाथी, राम-पंथ, नटेश्वरी, कन्हड़, करिलानी, बैराग, माननाथी, आईपंथ, पागलपंथ, धजपंथ और गंगानाथी। इन बारह पंथों के कारण ही शंकराचार्य के दशनामी संन्यासियों की भाँति इन्हें 'बारहपंथी योगी' कहा जाता है। प्रत्येक पंथ का एक एक विशेष 'स्थान' है जिसे ये लोग अपना पुण्य-क्षेत्र मानते हैं। प्रत्येक पंथ किसी पौराणिक देवता या महात्मा को अपना आदि प्रवर्तक मानता है। गोरखपुर के प्रसिद्ध सिद्ध महत बाबा गंभीरनाथ के एक बंगाली शिष्य ने, संभवतः गोरखपुर की परंपरा के आधार पर, इन बारह पंथों का विवरण इस प्रकार दिया है^२ :—

१. विशेष विवरण के लिये दे० 'गो र ख नाथ ऐ ए ड दी क न फ टा यो गी ज'

सं०	नाम	मूलप्रवर्तक	स्थान	प्रदेश	विशेष
१	सत्यनाथी	सत्यनाथ	पाताल भुवनेश्वर	उड़ीसा	सत्यनाथ स्वयं ब्रह्मा का ही नाम है। इसी लिये ये लोग 'ब्रह्मा के योगी' कहलाते हैं।
२	धर्मनाथी	धर्मराज (युधिष्ठिर)	दुर्लुदेल्क	नेपाल	...
३	रामपंथ	श्रीरामचंद्र	चौक तप्पे पंचौरा	गोरखपुर युक्तप्रान्त	इस समय ये लोग भी गोरख-पुर के स्थान को ही अपना स्थान मानते हैं।
४	नटेश्वरी	लक्ष्मण	गोरखटिला	भेलम (पंजाब)	इनकी दो शाखाएं हैं—नाटेश्वरी और दरियापंथी
५	कन्हड़	गणेश	मानफरा	कच्छ	...
६	कपिलानी	कपिल मुनि	गंगा सागर	बंगाल	इस समय बलवत्ते (दमदम) के पास 'गोरखवंशी' इनका स्थान है।
७	बैरागपंथ	भर्तृहरि	रतढोंडा	पुष्कर के पास अजमेर	..
८	माननाथी	गोपीचंद	अज्ञात	—	इस समय जोधपुर का महामंदिर मठ ही इनका स्थान है।
९	आई पंथ	भगवती विमला	जोगी गुफा या गोरख कुई	बंगाल के दिनाजपुर ज़िले में	..
१०	पागलपंथ	चौरंगनाथ (पूरन भगत)	अबोहर	पंजाब	...
११	धजपंथ	हनुमान जी	—	—	..
१२	गंगानाथी	भीष्म पिता-मह	जखवार	गुरुदासपुर (पंजाब)	...

एक अनुश्रुति के अनुसार शिव ने बारह पंथ चलाए थे और गोरखनाथ ने भी बारह ही पंथ चलाए थे। ये दोनों दल आपस में झगड़ते थे इसलिये बाद में स्वयं गोरखनाथ ने अपने छः तथा शिव जी के छः पंथों को तोड़ दिया और आजकल की बारह-पंथी शाखा की स्थापना की। यह अनुश्रुति पागल बाबा नाम के एक औघड़ साधु से सुनी हुई है। त्रिगस ने किसी और परंपरा के अनुसार लिखा है कि शिव के अठारह पंथ थे और गोरखनाथ के बारह। पहले मत के बारह को और दूसरे के छः पंथों को तोड़ कर आधुनिक बारह पंथी शाखा बनी थी ^१। इन दोनों अनुश्रुतियों में पहली अधिक प्रामाणिक होगी। क्योंकि सांप्रदायिक ग्रंथों में शिव के दो प्रधान शिष्य बताए गए हैं—मत्स्येन्द्रनाथ और जालंधरनाथ। मत्स्येन्द्र के शिष्य गोरखनाथ थे। जालंधरनाथ द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय कापालिक मार्ग होगा, इसका विचार हम पहले ही कर आए हैं। इन कापालिकों के बारह ही आचार्य प्रसिद्ध हैं। (आचार्यों और शिष्यों के नाम के लिये दे० पृ० ४ की टिप्पणी)। पुनर्गठित बारह संप्रदाय इस प्रकार हैं ^२—

शिवद्वारा प्रवर्तित :—

१. भूज (कच्छ) के कंठरनाथ
२. पेशावर और रोहतक के पागलनाथ
३. अफगानिस्तान के रावल
४. पंख या पंक
५. मारवाड़ के बन
६. गोपाल या राम के

गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित :—

१. हेठनाथ
२. आईपंथ के चोलीनाथ
३. चाँदनाथ कपिलानी
४. रतढोंडा, मारवाड़ का बैरागपंथ और रतननाथ
५. जयपुर के पावनाथ
६. धजनाथ महावीर

इन शाखाओं की बहुत-सी उपशाखाएँ हैं। कुछ प्रसिद्ध प्रसिद्ध उपशाखाओं का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है। परन्तु इतना ध्यान में रखना चाहिए कि इन बारह पंथों के बाहर भी ऐसे अनेक संप्रदाय हैं जिनका स्पष्ट संबंध इन छः मार्गों से नहीं जोड़ा जा सका है। हो सकता है कि वे गोरखनाथ द्वारा तोड़ दिए हुए कुछ पंथों के अनुयायी ही हों। ये लोग शिव या गोरखनाथ से अपना सम्बन्ध किसी न किसी तरह जोड़ ही लेते हैं।

१. त्रिगस : पृ० ६३

२. त्रिगस : पृ० ६३ के आधार पर। इन संप्रदायों की यह सर्वसम्मत सूची नहीं समझी जानी चाहिए।

ऊपर जिन बारह मुख्य पंथों के नाम गिनाए गए हैं वे ही पुराने विभाग हैं। पर आजकल बारह पंथों में निम्नलिखित पंथ ही माने जाते हैं—(१) सतनाथ, (२) रामनाथ, (३) धरमनाथ, (४) लक्ष्मणनाथ, (५) दरियानाथ, (६) गंगा-नाथ, (७) वैराग, (८) रावल या नागनाथ, (९) जालंधरिपा, (१०) आईपंथ, (११) कपिलानी और (१२) धजनाथ। गोरखपुर में सुनी हुई परंपरा के अनुसार चौथी संख्या नाटेशरी और पांचवी कन्हड़ है, आठवीं संख्या माननाथी, नवीं आईपंथ और दसवीं पागलपंथ है। ऊपर के संबंधों का विवेचन करने पर दोनों अनुश्रुतियों में कोई विशेष अंतर नहीं दिखता। केवल एक के अनुसार जो उपशाखा है वह दूसरी के अनुसार पंथ है। तेरहवां महत्त्वपूर्ण पंथ कानिग का है जिसके विषय में ऊपर (पृ० ७) थोड़ी चर्चा हो चुकी है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक पंथ हैं जिनका किसी बड़ी शाखा से संबंध नहीं खोजा जा सका। हाड़ी भारंग की चर्चा ऊपर हो चुकी है। वे लोग बंबई में रसोइए का काम करते पाए जाते हैं। गोरखनाथ के एक शिष्य सक्करनाथ थे जिन्हें उनके रसोइए ने स्वाद जानने के लिये पहले ही चखकर बनाई हुई दाल दी थी। इसी अपराध के कारण चार वर्ष तक उसे गले में हाड़ी बांधकर भीख मांगने का दण्ड दिया गया। बाद में सिद्धि प्राप्त करने के कारण इन्होंने अपना अलग पंथ चलाया। मुख्य स्थान पूने में है। इसके अतिरिक्त कायिकनाथी, पायलनाथी, उदयनाथी, आरयपंथ, फीलनाथी, चर्पटनाथी,^१ गैनी या गाहिणीनाथी^२, निरंजननाथ^३, वरंजोगी, पा-पंक, कामभज, काषाय, अर्धनारी, नायरी, अमरनाथ, कुंभीदास, तारकनाथ^४, अमापंथी, भृंगनाथ^५ अदि अनेक उपशाखाएँ हैं जिनका विस्तार समूचे भारत-वर्ष और सुदूर अफ़ग़ानिस्तान तक है।^६

एक दूसरी परंपरा के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ ने चार सम्प्रदाय चलाए थे—गोरख नाथी, पंगल या अरजनंगा (रावल) मीननाथ सिवतोर, पारसनाथ पूजा। अन्तिम दोनों जैन हैं।

१. वर्ण रत्नाकर के इकतीसवें सिद्ध, हठ० के १६ वें सिद्ध तथा तिग्गती परंपरा के ५६ वें सिद्ध का नाम चर्पटी या चर्पटीनाथ है।
२. नामदेव परंपरा के गैनीनाथ और बहिनीबाई की परंपरा के गाहिनी नामक सिद्ध का उल्लेख है।
३. हठ० के बीसवें सिद्ध।
४. तारकनाथ विलेशय के शिष्य थे—यो० सं० आ०, पृ० २४६
५. नेपालराज के कमंडलु में भृंगरूप से प्रवेश करने के कारण मत्स्येन्द्रनाथ का एक नाम भृंगनाथ था। कौल ज्ञान निर्याय पृ० ५८, श्लोक १७ में मत्स्येन्द्रनाथ को भृंगपाद कहा गया है।
६. त्रिगसः पृ० ७३-७४

गोरक्ष^१ के निम्नलिखित शिष्यों ने पंथ चलाए—

कपिल मुनि, करकाई, भूछटाई, सक्करनाथ, संतनाथ, संतोपनाथ और लक्ष्मणनाथ ।

कपिल मुनि के शिष्य अजयनाथ हुए जिन्होंने कपिलानाथ पंथ चलाया । इसी परम्परा में एक दूसरे सिद्ध गंगानाथ हुए जिनका अलग पंथ चला ।

करकाई शाखा में आईपंथ के प्रवर्तक चोलीनाथ हुए । इनका सम्बन्ध भूछटाई से भी बताया जाता है ।

सक्करनाथ का कोई अपना सम्प्रदाय नहीं है पर हाड़ी भरंग संप्रदाय उनके ही शिष्य का प्रवर्तन है ।

संतनाथ के शिष्य धर्मनाथ हुए जिन्होंने अपना पंथ चलाया । संतोपनाथ के शिष्य रामनाथ हुये । जाकिर पीर भी इन्हीं के साथ अपना सम्बन्ध बताते हैं ।

लक्ष्मणनाथ को शाखा में नटेशरी और दरियानाथ पड़ते हैं ।

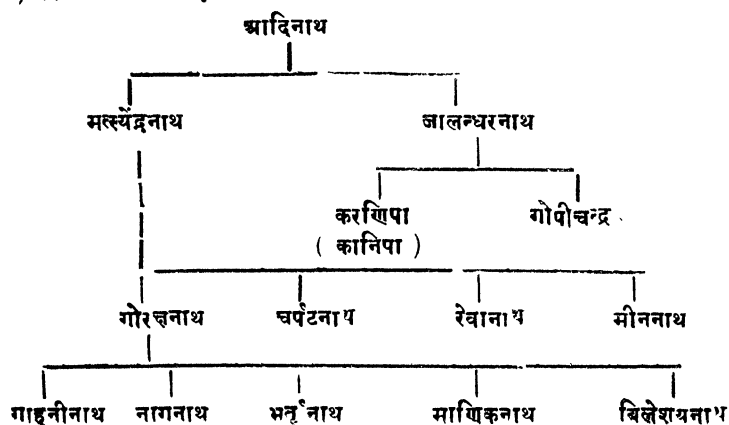
जालंधरनाथ के दो शिष्य हुए—भरथरीनाथ और कानिपा ।

कानिपा संप्रदाय से सिद्ध सांगरी संप्रदाय उद्भूत हुआ ।

(४) नाथ योगी का वेश

नाथ योगी को स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकता है । मेखला, सृंगी, सेली, गूदरी, खप्पर, कण्ठ, मुद्रा, बघंवर, भोला आदि चिह्न ये लोग धारण करते हैं । पहले ही बताया गया है कि कान फाड़कर कुंडल धारण करने के कारण ये लोग कनफटा कहे जाते हैं । कान फड़वाने की प्रथा किस प्रकार शुरू हुई इस विषय में नाना प्रकार की दन्तकथाएँ प्रचलित हैं । कुछ लोग बताते हैं कि स्वयं मत्स्येन्द्रनाथ (मछन्दरनाथ) ने इस प्रथा का प्रवर्तन किया । उन्होंने शिव के कानों में कुण्डल देखा था और उसे प्राप्त

१ यो गि सं प्र दा या वि ष्कृ ति के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ और जालन्धरनाथ (ज्वालेन्द्र-नाथ) की शिष्य परंपरा इस प्रकार है :—



करने के लिये कठिन तपस्या की थी, एक दूसरा विश्वास यह है कि गोपीचन्द्र की मार्थना पर जालन्धरनाथ ने इस पथ के योगियों को अन्य सम्प्रदाय वालों से विशिष्ट करने के लिये इस प्रथा को चलाया था। कुछ लोगों का कहना है कि गोरखनाथ ने भरथरी का कान फाड़कर इस प्रथा को चलाया था। भरथरी के कान में गुरु ने मिट्टी का कुण्डल पहनाया था। अब भी बहुत-से योगी मिट्टी का कुण्डल धारण करते हैं परन्तु इसके टूटने की सदा आशङ्का बनी रहती है इसलिये धातु या हरिण के सींग का मुद्रा धारण की जाती है। जो विधवा स्त्रियाँ सम्प्रदाय में दीक्षित होती हैं वे भी कुण्डल धारण करती हैं और गृहस्थ योगियों की पत्नियाँ भी इसे धारण करते पाई जाती हैं। गोरखपंथी लोग किसी शुभ दिन के (विशेष कर वसन्त पञ्चमी को) कान को चिरवाकर मंत्र के संस्कार के साथ इस मुद्रा को धारण करते हैं। उन लोगों का विश्वास है कि स्त्रियों के दर्शन से घाव पक जाता है इसलिये जब तक घाव अच्छा नहीं हो जाता तब तक स्त्री-दर्शन से बचने के लिये किसी कमरे में बंद रहते हैं, और फलाहार करते हैं^१ कान का फट जाना भावाजोखी का व्यापार माना जाता है। जिस योगी का कान खराब हो जाता है वह सम्प्रदाय से अलग हो जाता है और पुजारी का अधिकार खो देता है।^२ यह कर्णकुण्डल निस्संदेह योगी लोगों का बहुत पुराना चिह्न है परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो इसे नहीं धारण करते। ये लोग औघड़ कहे जाते हैं। औघड़ लोगों का जब कर्णमुद्रा-संस्कार हो जाता है तब उन्हें योगी कनकटा कहा जाता है। ऐसे भी औघड़ हैं जो आजीवन कर्णमुद्रा धारण करते ही नहीं। कहते हैं कि हिंगलाज में दो सिद्ध एक शिष्य का कान चीरने लगे थे पर हरबार छेद बन्द हो जाता था। तभी से औघड़ लोग कान चिरवाते ही नहीं।^३ सुधारक मनोवृत्ति के योगी लोग मानते हैं कि श्रीनाथ ने यह प्रथा इसलिये चलाई होगी कि कान चिरवाने की पीड़ा के भय से अनधिकारी लोग इस सम्प्रदाय में प्रवेश ही नहीं कर सकेंगे^४।

पद्मावत में मलिक मुहम्मद जायसी ने योगियों के वेश का सुन्दर वर्णन दिया है। उस पर से अनुमान किया जा सकता है कि योगियों का जो वेश आज है वह दीर्घ काल से चला आ रहा है। राजा ने हाथ में किंगरी सिर पर जटा, शरीर में भस्म, मेखजा, ऋंगी, योग की शुद्ध करने वाला धंधारी चक्र, रुद्राक्ष और अधार (आसन का पीड़ा) धारण किया था कंधा पहन कर हाथ में सौटा लिया था और 'गोरख गोरख' की २८ लगाता हुआ निकल पड़ा था, उसने कंठ में मुद्रा कान में रुद्राक्ष की माला, हाथ में कमण्डल, कंधे पर बघम्बर (आसन के लिये), पैरों में पाँवरी सिर पर छाता और वगल में खप्पर धारण किया था। इन सब को अपने गुरु रंग

१. सु० चं०, पृ० २४१

२. त्रिम्सः पृ० ८-९

३. द्वा० का० सें० प्रो० २४ भाग पृ० ३६८, त्रिम्स ने लिखा है कि औघड़ लोगों को

योगियों से आधी ही दक्षिणा मिलती है। वहीं वहीं समान भी मिलती है।

४. यो० सं० छा०

में रंगकर लाल कर लिया था ।^१ कबीरदास के अनेक पदों से पता चलता है कि जोगी लोग मुद्रा, नाद, कंथा, आसन, खप्पर, भोली, विभूति, बटुबा आदि धारण करते थे, यंत्र अर्थात् सारंगी यंत्र का व्यवहार करते थे (गोपीचन्द्र का चलाया हुआ होने के कारण सारंगी को गोपीयंत्र कहते हैं), मेखला और भस्म धारण करते थे । (क० प्र० २०५, २०६, २०७, २०८) और अजपा जाप करते थे (२०९)^२ इसी प्रकार सूरदास के भ्रमरगीत में गोपियों ने जिन योगियों की चर्चा की है उनका भी यही वेश वर्णित है ।

इन चिह्नों में किंगरी एक प्रकार की चिह्नकारी है जिसे पौरिये या भर्तृहरि के गीत गाने वाले योगी लिए फिरते हैं, मेखला मूँज की रस्सी का कटिवंध है^३ और सींगी हरिण के सींग का बना हुआ एक बाजा है जो मुँह से बजाया जाता है । औघड़ और योगी दोनों ही एक प्रकार का 'जनेव' धारण करते हैं जो काले भेड़े की ऊन से बनाया जाता है । हर कोई उसे नहीं बना सकता । संप्रदाय के कुछ लोग ही, जो इस विद्या के जानकार होते हैं, उसे बनाते हैं । ब्रिग्स (पृ० ११) ने लिखा है कि कुमायूँ के योगी रुई के सूत का 'जनेव' भी धारण करते हैं । इसी सूत में एक गोल 'पवित्री' बंधी रहती है जो हरिण की सींग या पीतल ताँबा आदि धातु से बनी होती है । इसमें रुई के सफेद धागे से शृंगी (सिंगी नाद) नाम की सीटी बंधी रहती है और रुद्राक्ष की एक मनिया भी भूलती रहती है । प्रातः और संध्या कालीन उपासना के पूर्व और भोजन ग्रहण करने के पूर्व योगी लोग इसे बजाया करते हैं । इस सिंगनाद के बंधे रहने के कारण ही 'जनेव' को 'सिंगीनाद-जनेव' कहते हैं । मेखला सब योगी नहीं धारण करते । कुछ योगी काले भेड़े के ऊन की बनी मेखला कमर में बांधते हैं । लंगोटी पहनने में इस मेखला का उपयोग होता है । एक और प्रकार की मेखला होती है जिसे धारण करने के बाद योगी को भिच्चा के लिये निकलना ही पड़ता है । इसे हाल मटंगा कहते हैं ।^४ ऐसे योगी भी हैं जो सिंगनाद जनेव नहीं धारण करते और दावा करते हैं कि ये चिह्न उन्होंने अन्तर में धारण किया है या चमड़े के नीचे पहने हुए हैं । मस्तनाथ नामक सिद्ध के विषय में प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने चमड़े

१. पञ्चावत, जोगी खंड, १२, १२८

२. बंगाल के पुराने नाथपंथी अपने को योगी या कापालिक कहते थे । वे कान में मनुष्य की हड्डियों का कुण्डल और गले में हड्डियों की ही माला धारण करते थे । पैरों में ये लोग नूपुर और हाथ में नर कपाल छेते थे और शरीर में भस्म लगाया करते थे — श्री सुकुमार सेनः प्राचीन बाग्लाओ बाङ्गाली, विरविद्या संग्रह सिरीज शान्ति निकेतन पृ० ३३ । ऐसा जान पड़ता है कि कर्णकुण्डल धारण करने की प्रथा बहुत पुरानी है साधनमाला नामक वज्रयानी साधन ग्रंथों में 'हेरुक' के ध्यान में कहा गया है कि बेकानों में नरास्थि की माला धारण करते हैं । इसकी चर्चा हम आगे करेंगे ।

३. सु० च०: पृ० २३८, २३९

४. ब्रिग्स: पृ० ११, १२

के नीचे जनेव दिखा दिया था। कबीरदास ने उसी योगी को योगी कहना उचित समझा था जो इन चिह्नों को मन में धारण करता है।^१

‘धंधारी’ एक तरह का चक्र है। गोरखपंथी साधु लोहे या लकड़ी की शलाकाओं के हेर फेर से चक्र बना कर उसके बीच में छेद करते हैं। इस छेद में कौड़ी या मालाकार धागे को डाल देते हैं। फिर मंत्र पढ़ कर उसे निकाला करते हैं। बिना क्रिया जाने उस चक्र में से सहसा किसी से डोरा या कौड़ी नहीं निकल पाती। ये चीजें चक्र की शलाकाओं में इस प्रकार उलझ जाते हैं कि निकालना कठिन पड़ जाता है। जो निकालने की क्रिया जानता है वह उसे सहज ही निकाल सकता है। यही ‘धंधारी’ या गोरखधंधा है। गोरखपंथियों का विश्वास है कि मंत्र पढ़ पढ़ कर गोरखधंधे से डोरा निकालने से गोरखनाथ की कृपा से ईश्वर प्रसन्न होते हैं और संसार-चक्र में उलझे हुए प्राणियों को डोरे की भांति इस भवजाल से मुक्त कर देते हैं।^२

रुद्राक्ष की माला प्रसिद्ध ही है। योगी लोग जिस माला को धारण करते हैं। उस में ३२, ६४, ८४ या १०८ मनके होते हैं। छोटी मालायें जिन्हें ‘सुमिरनी’ कहते हैं १८ या २८ मनकों की होती हैं और कलाई में बंधी रहती हैं। रुद्राक्ष शब्द का अर्थ रुद्र या शिव की आंख है। तंत्रशास्त्र के मत से यह माला जपकार्य में विशेष फलदायिनी होती है। इस रुद्राक्ष में जो खरबूजे के फाँक जैसी जो रेखायें होती हैं उसे ‘मुख’ कहते हैं। जप में प्रायः पंचमुखी रुद्राक्ष का विशेष महत्त्व है। एकमुखी रुद्राक्ष बड़ा शुभ माना जाता है। घर में उसके रहने से लक्ष्मी अविचल हो कर बसती हैं। जिसके गले में एकमुखी रुद्राक्ष हो उस पर शस्त्र की शक्ति नहीं काम करती—ऐसा विश्वास है। एकमुखी रुद्राक्ष असल में एकमुखी ही है या नहीं इस बात की परीक्षा के लिये प्रायः भेड़े के गले में बांध कर परीक्षा की जाती है। यदि भेड़े की गर्दन शस्त्र से कट जाय तो वह नकली माना जाता है। यदि न कटे तो सच्चा एकमुखी रुद्राक्ष समझा जाता है^३। ग्यारह मुख वाला रुद्राक्ष भी बहुत पवित्र समझा जाता है। गृहस्थ योगी साधारणतः दोमुख वाले रुद्राक्ष से जप करने को अधिक फलदायक मानते हैं।

‘अधारी’ (= आधार) काठ के ढंडे में लगा हुआ काठ का पीड़ा (आसा) है जिसे योगी लोग प्रायः लिये फिरते हैं और जहाँ कहीं रख कर उस पर बैठ जाते हैं।

१. ओ जोगी जाके मन में मुद्रा।

रात दिवस ना करई निद्रा ॥ टेक ॥

मन में आसण मन में रहणा। मन का जप तप मन सँ कहँणा ॥

मन में चपरा मन में सींगी। अनहदनाद बजावै रंगी ॥

पंच प्रजारि असम करि भूका। कहै कबीर ओ लहसै लंका।

क.अं. पद २०६, पृ० १५८

२. सु. चं : पृ० १२३९

३. वही : पृ० २४०

बिना अभ्यास के इस पर बैठ सकना असंभव है^१। कथा गेरुए रंग की सुजनी का चोलना है जो गले में डाल लेने से अंग को ढाँक लेना है। इसी को गूदरी कहते हैं। यह फटे पुगने चिथड़ों को बटोर कर सी ली जानी चाहिए^२। गेरुआ या लाल रंग ब्रह्म-चर्य का साधक माना जाता है। इसे धारण करने से वीर्यस्तंभ की शक्ति बढ़ती है। क्रुस्स ने एक दन्तकथा का उल्लेख किया है जिसके अनुसार पार्वती ने पहले पहल अपने रक्त से रंग कर एक चोलना गोरखनाथ को दिया था। कहते हैं तभी से लाल (गेरुआ) रंग योगी लोगों का रंग हो गया है। 'गौंटा' झाड़ू फूँक करने का डंडा है जो हाथ डेढ़ हाथ के काले रूखर के ऐसा होता है। बहुत से योगी इसे भैरवनाथ का और बहुत से गोरखनाथ का डंडा या सौंटा कहते हैं^३। योगी लोग शरीर में भस्म लगाते हैं और ललाट पर और बाहुमूल तथा हृदय देश पर भी त्रिपुण्ड्र लगाया करते हैं। गूदरी का धारण करना योगी के लिए आवश्यक नहीं है। बहुत योगी तो आरबंद (मेखला) से बंधी हुई लंगोटी ही भर धारण करते हैं और बहुत से ऐसे भी मितते हैं जो लंगोटी भी नहीं धारण करते^४। 'खप्पर' मिट्टी के चड़े के फोड़े हुये अर्द्ध भाग को कहते हैं। आज कल यह दर्यायी नारियल का बनता है। बहुत से योगी काँसे का भी खप्पर रखते हैं इसलिए खप्पर को 'काँसा' भी कहते हैं। खप्पर का एक मनोरंजक अवशेष 'जोगीड़े' नामक अश्लील गानों के गाते समय लिया हुआ चौड़े मुँह का वह घड़ा है जिसमें गुरु लोग आँख रखकर जादू से हाथ पर लिये फिरते हैं।^५

यो गिसंप्रदाया विष्कृति नामक ग्रंथ में^६ इन चिह्नों के धारण करने की विधि और कारण के बारे में यह मनोरंजक कहानी दी हुई है। जब मत्स्येन्द्रनाथ जी से प्रसन्न होकर शिवजी ने कहा कि तुम वर माँगो तो उन्होंने शिवजी का स्वरूप ही वरदान में माँगा। शिवजी ने पहले तो इतस्ततः किया पर मत्स्येन्द्रनाथ की तपस्या से प्रसन्न होकर अन्त में अपना वेश दान करने को राजी हो गए। फिर प्रथम तो सिर में विभूति डालकर भस्मस्नान कराया और उसका यह तात्पर्य बताया कि यह भस्म अर्थात् मृत्तिका है, इसके शरीर में धारण करने का अभिप्राय यह है कि योगी अपने को माना-पमान के अतीत जड़धरित्री के समान समझें या अग्नि-संयोग से भस्म रूप में परिणत हुए काष्ठ की तरह ज्ञानग्नि दग्ध होकर अपनी कठोरता आदि को छोड़ दे और ज्ञानाग्नि के संयोग से अपने कृत्यों को भस्मसात् कर दें। फिर जलस्नान कराया और उसके दो अभिप्राय बताए। एक तो यह कि मेघ जिस प्रकार जल को समान भाव से भूतमात्र के लिये वितरण करता है वसी प्रकार तुम समस्त प्राणियों के साथ

१. सु० चं : पृ० २४०

२. वही : पृ० २४०

३. ब्रिक्स : पृ० १६-२०

४. सु० : चं० पृ० २४१

५. यो० सं० आ० पृ० २०-२१

समान व्यवहार करना और दूसरा यह कि पानी जिस प्रकार तपन होने पर भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता उसी प्रकार तुम भी अपना स्वभाव न छोड़ना। इसके अनन्तर श्री महादेव जी ने तीसरे उन्हें 'नाद-जनेउ' पहनाया और उसका यह अभिप्राय समझाया: काष्ठादि का बनाया हुआ यह नाद है। नाद अर्थात् शब्द। इसके धारण करने का मतलब यह हुआ कि अब से शिष्य अपनी उत्पत्ति 'नाद' से समझे। (शब्द गुरु और श्रोता चेला—ऐसा योगियों का सिद्धान्त है) और यह ऊर्णादि निर्मित 'जनेउ' जिस प्रकार संसार के अन्य 'जनेउओं' से भिन्न है उसी प्रकार तुम अपने को संसार से भिन्न समझना। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु के धारण करने का ठीक-ठीक कारण समझने के बाद महादेव जी ने कुण्डलादि धारण अनेक चिह्न मत्स्येंद्रनाथ जी को दिये। तभी से संप्रदाय में यह प्रथा प्रचलित हुई। इतना लिखने के बाद ग्रंथकार ने बड़े खेद के साथ लिखा है कि आजकल संप्रदाय में इन अभिप्रायों को कोई नहीं जानता। इस ज्ञान के अभाव का कारण उन्होंने यह बताया है कि धनाढ्य महान्त लोग शिमला मंसूरी नैनीताल और आबू जैसी जगहों में हवा बदलने जाते हैं और उनके पीछे उनके स्थानों पर उन्हीं के नाम पर शिष्य बनाए जाते हैं। अब भला जिस शिष्य ने वेश ग्रहण करने के समय जिस व्यक्ति के शब्द को गुरु समझा है उसका मुह-मर्या भी नहीं देखा वह उन चिह्नों का क्या अभिप्राय समझ सकता है!

इन्दुबतूता नामक मिश्री पर्यटक जब भारत आया था तो उसने इन योगियों को देखा था। उसने लिखा है कि उन (योगियों) के केश पैर तक लम्बे होते हैं, सारे शरीर में भभूत लगी रहती है और तपस्या के कारण उनका वर्ण पीत हो गया होता है। चमत्कार प्राप्त करने की शक्ति प्राप्त करने के इच्छुक बहुत से मुसलमान भी इनके पीछे लगे फिरते हैं, मावश उन्नहर के सम्राट 'तरम शीरी', के कैप में बतूता ने इनको सर्व प्रथम देखा था। गिनती में ये पूरे पचास थे। इनके रहने के लिये धरती में गुफाएँ बनी हुई थीं और वहाँ ये अपना जीवन व्यतीत करते थे, केवल शौच के लिये बाहर आते थे और प्रातः सायं तथा रात्रि में शृंग के सदृश किसी वस्तु को बजाया करते थे।^१ इन्दुबतूता ने इन योगियों की अद्भुत करामातों को स्वयं देखा था। बतूता की गवाही पर यह मान लिया जा सकता है कि दाघ काल से साधारण जनता इन योगियों को भय की दृष्टि से देखती रही है। उन दिनों ग्वालियर के पास किसी बरौन नामक ग्राम में एक बाघ का बड़ा उपद्रव था। लोगों ने बतूता को बताया कि वह कोई योगी है जो बाघ का रूप धर के लोगों को खा जाता है ✓

कबीरदास के जमाने में ही योगियों का सैनिक संगठन हो चुका था। उन्होंने इन

१. इ० भा० या० : पृ० २६२-३

२. वही पृ० २८८

योगियों की इस विचित्र लीला का बड़ा मनोहर वर्णन दिया है ^१। सोलहवीं शताब्दी में इन योगियों से सिक्खों की घनघोर लड़ाई हुई थी। दिनोधर के मठ की दीवारों में शस्त्र फेंकने के लिये छिद्र बने हुए हैं जो निश्चय ही आत्मरक्षा के उद्देश्य से बने होंगे। कच्छ के योगी सोलहवीं शताब्दी में भयंकर हो चढ़े थे वे अतीथों को जबरदस्ती कनफटा बनाते थे। बाद में अतीथों ने संगठित होकर लोहा लिया था। इन अतीथों का प्रधान स्थान जूनागढ़ था। इस लड़ाई में योगियों की शक्ति टूट गई थी ^२।

(५) गृहस्थ योगी

नाथमत को मानने वाली बहुत सी जातियाँ घर बारी हो गई हैं। भारतवर्ष के हर हिस्से में ऐसी जातियों का अस्तित्व पाया जाता है। शिमला पहाड़ियों के नाथ अपने को गोरखनाथ और भरथरी का अनुयायी मानते हैं। ये लोग गृहस्थ होकर एक जाति ही बन गए हैं। यद्यपि ये भी कान चीर कर कुण्डल ग्रहण करते हैं पर इनकी मर्यादा कनफटे योगियों से हीन मानी जाती है। ये लोग उत्तरी भारत के महाब्राह्मणों के समान श्राद्ध के समय दान पाते हैं ^३। ऊपरी हिमालय के नाथों में भी कानचिरवा कर कुण्डल धारण करने की प्रथा है परन्तु घर में कोई एक या दो आदमी ही ऐसा करते हैं। ऐसा करने वाले 'कनफटा नाथ' कहलाते हैं। ये भी गृहस्थ हैं। और इनकी मर्यादा भी बहुत ऊँची नहीं है। हेसी जैसी नीच समझी जाने वाली जाति के लोग भी इनका अन्न जल नहीं ग्रहण करते ^४। अलमोड़े में सतनाथी और धर्मनाथी संप्रदाय के गृहस्थ योगी हैं। इनके परिवार का कोई एक लड़का कान में कुण्डल धारण कर लेता है ^५। योगियों में विवाह की प्रथा भी पाई जाती है। कहीं कहीं ब्राह्मण विवाह का संस्कार करते हैं और कहीं कहीं नाथ-ब्राह्मण नामक जाति। पंजाब में गृहस्थ योगियों को रावल कहा जाता है। ये लोग भीख माँगकर करामात दिखाकर हाथ देखकर अपनी जीविका चलाते हैं। पंजाब के संयोगी अब एक जाति ही बन गए हैं। अम्बाला के संयोगियों के बारह पंथ भी हैं पर ये सब गृहस्थ हैं। गढ़वाल के नाथ भैरव के उपासक

१. ऐसा जोग न देखा भाई। भूला फिर लिये गाफिलाई।
महादेव को पंथ चलावै। ऐसी बड़ी महंत कहावै।
हाट बजारें लावैं तारी। कच्चे सिद्धन माया प्यारी।
कब दत्ते मावासी गोरी। कब सुख देव तोपची जोरी।
नारद कब बंदूक चलाया। व्यासदेव कब बंब बजाया।
करहैं लराई मति कै मंदा। ई अतीत की तरकस बंदा।
भए विरक्त लोभ मन ठाना। सोना पहिरि लजावैं बाना।
घोरा घोरी कीम बटोरा। गाँव पाव जस चलैं करोरा ॥

—बी ज क ११वीं रमैनी

२. ग्लो० पं० दा० का० पृ० १६५

३. वही: पृ० १६५

४. वही: पृ० १३५

५. त्रिगुण: पृ० ४७

हैं, नादी-सेली पहनते हैं और सन्तान भी उत्पन्न करते हैं। अब यह भी एक अलग जाति बन गए हैं^१।

साधारणतः वयनजीवी जातियाँ जैसे तांती जुलाहे, गड़ेरिए, दरजी आदि नाथ मत के मानने वाले गृहस्थों में पड़ती हैं। सूत का रोज़गार योगी जाति का पुराना व्यवसाय है। बहुत सी गृहस्थ योगियों की जातियाँ मुतलमान हो गई हैं और अपने को अब भी गिरस्त या गृहस्थ कहती हैं। अलईपुरा के जुलाहे ऐसे ही हैं^२। हमने अपनी कबीर नामक पुस्तक में दिखाया है कि कबीरदास ऐसी ही किसी गिरस्त योगी जाति के मुसलमानी रूप में पैदा हुए थे। बुंदेलखंड के गड़ेरिए नाथ योगियों के अनुयायी हैं। उनके पुरोहित भी 'योगी' ब्राह्मण होते हैं जो उनके विवाहादि संस्कार करते हैं। विवाह के मंत्रों में गोरखनाथ और मछन्दरनाथ के नाम भी आते हैं^३। शेख फैजुल्लाह नामक बंगाली कवि की एक पुस्तक गोरक्ष विजय है। इसके संपादक श्री अब्दुल करीम साहब का दावा है कि पुस्तक पाँच छः सौ वर्ष पुरानी होगी। इस पुस्तक में कदली देश की जोगिन (अर्थात् योगी जाति की स्त्री) से गोरखनाथ को भुलावा देने के प्रसंग में इस प्रकार कहवाया गया है—“तुम जोगी हो, जोगी के घर जाओगे, इसमें भला सोचना विचारना क्या है। हमारा तुम्हारा गोत्र एक है। तुम बलिष्ठ योगी हो मैं जवान जोगिन हूँ, फिर क्यों न हम अपना व्यवहार शुरू कर दें, क्यों हम किसी की परवा करें... मैं चिकना सूत कात दूँगी, तुम उसकी महीन धोती बुनोगे और हाट में बेचने ले जाओगे और इस प्रकार दिन दिन सम्पत्ति बढ़ती जायगी जो तुम्हारी भोली और कंथा में अँटाए नहीं अँटेगी^४। इससे सिद्ध होता है कि बहुत प्राचीन काल से वयनजीवी जातियाँ योगी हैं। आधुनिक योगी भी सूत के द्वारा अनेक टोटका करते हैं और गोरखधंधे से सूते की ही करामात दिखाते हैं।

बंगाल में जुगी या योगी वयनजीवी जाति है। सन् १९२१ में अकेले बंगाल में इनकी संख्या ३६५९१० थी। आजकल ये लोग अपने को योगी ब्राह्मण कहते हैं^५। टिपरा जिले के कृष्ण चन्द्र दलाल ने इन्हें बदस्तूर ब्राह्मण बनाने और जनेऊ धारण करने का अन्दोलन किया था। इस प्रकार वयनजीवियों में इस मत का बहुत कुछ

१. गढ़वाल का इतिहास: पृ० २०१
२. श्री राय कृष्णदास जी के एक पत्र के आधार पर।
३. लोकवार्ता वर्ष १ अंक २ में श्री रामस्वरूप योगी का लेख द्रष्टव्य है। वैवाहिक शास्त्रोच्चार के मंत्र का एक अंश इस प्रकार है, ‘गाय गोरख की ओँ मछन्दर की, छेरी अत्रैपाख की, गाढ़र महादेव की चरती आय चरती आय जहाँ महादेव कीसि गी बाजै’ इत्यादि।
४. गोरक्ष विजय: कलकत्ता (१३२४ बं० ६न्) पृ० ६५-७
५. कबीर: पृ० ७
६. चित्तिमोहन सेन: भारत वर्ष में जाति भेद, पृ० १४४

प्रचार था। यह तो नहीं जाना जा सका कि सभी वयनजीवियों में १ योनि परंपरा के चिह्न हैं परंतु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वयनजीवों जातियों में अपनी वर्तमान स्थिति के बारे में असन्तोष है और वे सभी किसी ब्राह्मणपर परंपरा से संबद्ध अवश्य थीं।

२. बेन्स ने निम्नलिखित वयनजीवी जातियों का उल्लेख किया है :—

नाम	प्रदेश	१९०१ की जन संख्या
रुई सूत के वयनजीवी—पटनूली	पश्चिम भारत	९०४००
पटबे	उत्तर और मध्य भारत	७२०००
खतरी	पश्चिम भारत	५६२०००
ताँती	बंगाल	७७२३००
ततबा	बिहार	१९७९००
पेरिके	तामिल	६३०००
जणप्पन	"	८३०००
कपाली	बंगाल	१४४७००
धोर	दक्षिणात्य	२४४००
पांका	मध्यभारत	७२६७००
गांडा	पूर्व-मध्यभारत	२७७८००
डोंबा	बिहार	७६४००
कोरी	उत्तर भारत	१२०४७००
जुलाहा	उत्तर भारत	२९०७९००
बलाही	राजपूताना, उ० भा०	२८५१००
कैकोलन	तामिल	३५४७००
साले	दक्षिण	६३९३००
तोगट	कर्नाटक	६४५०००
देवांग	"	२८८९०००
नेयिगे	"	९७०००
जुगी	बंगाल	५३६६००
कोटी	दक्षिण, मध्यभारत	२७७४००
ऊन के वयनजीवी—गड्डी	पंजाब	१०३८००
गडरिया	उ० भा०	१२७२४००
धंगर हातकर	द० भा०	१०१५८००
कुडुवर	"	१०६८००
इडइयन	तामिल	७०२७००
भरवाड़	पश्चिम भा०	१०२९००

जिल्ला ने बंगाल के योगियों को दो श्रेणी का बताया है। दक्षिणी विक्रमपुर, त्रिपुरा और नोयाखाली के योगी मास्थ योगी कहलाते हैं और उत्तर विक्रमपुर और ढाका के योगी एकादशी कहलाते हैं।^१ रंगपुर जिले के योगियों का काम कपड़ा बुनना, रंगसाजी और चूना बनाना है। अब ये लोग अपना पेशा छोड़ते जा रहे हैं। इनके स्मारणीय महापुरुष हैं—गोरखनाथ, धीरनाथ, छायानाथ, और रघुनाथ आदि। इनके परम उपास्य देवता 'धर्म' है। इनके गुरु और पुरोहित ब्राह्मण नहीं होते बल्कि इनकी अपनी ही जाति के लोग होते हैं। पुरोहितों को 'अधिकारी' कहते हैं। तौरकर्म के समय बालकों का कान चीर देना निहायत जरूरी समझा जाता है। मृतक को समाधि दी जाती है। रंगपुर के योगियों का प्रधान व्यवसाय चूना बनाना और भीख मांगना है परन्तु ढाका और टिपरा (त्रिपुरा) जिले में उनका व्यवसाय वस्त्र बुनना ही है।^२ निजाम-राज्य के दवरे और रावल भी नाथ योगियों का गृहस्थ रूप है। इनके बच्चों के कान छेदने का संस्कार होता है और मृतकों को समाधि दी जाती है। बंबई प्रान्त के नाथों में जो मराठे और कर्नाटकीय हैं वे गृहस्थ हैं। कोंकण के गोसवी भी अपने को नाथ योगियों से संबद्ध बताते हैं। इनका भी कण-छेद संस्कार होता है। इस प्रकार की योगी जातियाँ बरार गुजरात महाराष्ट्र कर्नाटक, और दक्षिण भारत में भी पाई जाती हैं।^३

इस प्रकार क्या वैराग्यप्रवण और गार्हस्थप्रवण सैकड़ों योगी संप्रदाय और जातियाँ समूचे भारत में फैली हुई हैं। यह परंपरा वैदिक धर्म से भिन्न थी और अब भी बहुत कुछ है, इसका आभास ऊपर के विवरण से मिल गया होगा। हम आगे चल कर देखेंगे कि अनुमान निराधार नहीं है।

१. त्रिगुप्त. : पृ० ५१

२. गो पी चं दे र गा न : (कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, द्वितीय भाग, भूमिका

पृ० ३६-३७

३. त्रिगुप्त : (पृ० ४४ ६१) ने इस प्रकार की अनेक योगी जातियों का विवरण अपनी पुस्तक में दिया है। विशेष विस्तार के लिये वह ग्रंथ द्रष्टव्य है।

संप्रदाय के पुराने सिद्ध

हठ योग प्रदीपिका के आरंभ में ही नाथपंथ के अनेक सिद्धयोगियों के नाम दिए हुए हैं। विश्वास किया जाता है कि सिद्ध लोग आज भी जीवित हैं। हठ योग प्रदीपिका की सूची में जिन सिद्धों के नाम हैं वे ऐसे ही हैं जो कालदण्ड को खंडित करके ब्रह्माण्ड में विचर रहे हैं। नाम इस प्रकार हैं ^१ :-

आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, सारदानंद, भैरव, चौरंगी, मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्ष, विलेशय, मंथानभैरव, सिद्धबोध, कन्हड़ीनाथ, कोरंटकनाथ, सुरानंद, सिद्धपाद, चर्पटीनाथ, काण्ठीनाथ, पूज्यपाद, नित्यनाथ, निरंजननाथ, कापालिनाथ, विदुनाथ, काकचण्डीश्वर, मयनाथ, अक्षयनाथ, प्रभुदेव, घोड़ाचूलीनाथ, टिण्डिणीनाथ, भल्लरीनाथ नागबोध और खण्डकापालिका। इनमें से अनेक सिद्धों के नाम-कोई अनुश्रुति शेष नहीं रह गई है। कुछ के नाम तंत्रियों, योगियों और निर्गुणिया सन्तों की परंपरा में बचे हुए हैं और कुछ को अभिन्नता सद्ग्यानी और वज्रयानी सिद्धों से स्थापित की जा सकती है। कुछ सिद्धों के विषय में करामाती कहानियाँ प्रचलित हैं पर उनका ऐतिहासिक मूल्य बहुत अधिक नहीं है।

सबसे आदि में नव मूलनाथ हुए हैं जिन्होंने संप्रदाय का प्रवर्तन किया था— ऐसी प्रसिद्धि है। पर ये नौ नाथ कौन कौन थे इसकी कोई सर्वसम्मत परंपरा बची नहीं है। महायोगतंत्र में नवनाथों को भिन्नभिन्न दिशाओं में 'न्यास' करने की विधि बताई गई है। उस पर से नवनाथों के नाम इस प्रकार मालूम होते हैं—गोरक्षनाथ, जालंधरनाथ, नागार्जुन, सहस्रार्जुन, दत्तात्रेय, देवदत्त, जड़भरत, आदिनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ। कापालिकों के बारह शिष्यों की चर्चा पहले ही की जा चुकी है उनमें से कई ऐसे हैं जिनका नाम हठ योग प्रदीपिका के सिद्धयोगियों से अभिन्न है। ^२

योगि संप्रदाया विष्कृति में ^३ नवनारायणों के नवनाथों के रूप में अवतरित होने की कथा दी हुई है। परन्तु उसमें यह नहीं लिखा कि आविर्भाव नारायण ने किसका अवतार धारण किया था। फिर यह भी नहीं लिखा कि गोरक्षनाथ का अवतार किस नारायण ने लिया था। स्वयं महादेव ने भी एक 'नाथ' के रूप में अवतार धारण अवश्य किया था। ग्रंथकार ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि महादेव जी ने गोरक्षनाथ नामक व्यक्ति को नवनाथों के अवतरित होने के बाद उत्पन्न किया था। तो क्या नवनाथों में गोरक्षनाथ नहीं थे? जिन नारायणों ने अवतार धारण किया था वे इस

१. हठ योग प्रदीपिका

२. देखिए ऊपर पृ० ४

३. यो० सं० आ० : पृ० ११-१४

प्रकार हैं : (यद्यपि ग्रंथ में यह नहीं लिखा कि आविर्होत्रनारायण ने क्या अवतार धारण किया पर भूमिका में ^१ गोरक्षनाथ समेत जिन दस आचार्यों का नाम है उसमें नागनाथ का नाम भी है । संभवतः आविर्होत्रनारायण ने नागनाथ का अवतार लिया था ।)

१. कविनारायण	—	मत्स्येंद्रनाथ
२. करभाजननारायण	—	गाहनिनाथ
३. अन्तरिक्षनारायण	—	ज्वालेंद्रनाथ (जलंधरनाथ)
४. प्रबुद्धनारायण	—	करणिपानाथ (कानिपा)
५. आविर्होत्रनारायण	—	? नागनाथ
६. दिप्पलायननारायण	—	चर्पटनाथ (चर्पटी)
७. चमसनारायण	—	रेवानाथ
८. हरिनारायण	—	भर्तृनाथ (भरथरी)
९. द्रुमिलनारायण	—	गोपीचद्रनाथ

इन आठ नाथों के साथ आदिनाथ (महादेव) का नाम जोड़ लेने से संख्या नौ होगी । गोरक्षनाथ दसवें नाथ हुए । महार्णवतंत्र में जड़भरत का नाम नव नाथों में है परन्तु योगि संप्रदाय विष्कृति उन्हें नौ नाथों से अलग मानती है । एक और नाथों की सूची है जो इससे भिन्न है परन्तु गोरक्षनाथ का नाम उसमें भी नहीं आता । यह सूची सुधाकरचंद्रिका ^२ से ली गई है । इसके अनुसार नव नाथ ये हैं :

१. एकनाथ	४. उदयनाथ	७. संतोषनाथ
२. आदिनाथ	५. दण्डनाथ	८. कूर्मनाथ
३. मत्स्येंद्रनाथ	६. सत्यनाथ	९. जालंधरनाथ

नेपाल की परंपरा में एकदम भिन्न नाम गिनाए गए हैं । वे इस प्रकार हैं ^३ :—

१. प्रकाश	४. ज्ञान	७. स्वभा
२. विमर्श	५. सत्य	८. प्रतिभा
३. आनंद	६. पूर्ण	९. सुभग

इन सूचियों में गोरक्षनाथ का नाम न आने का कारण स्पष्ट है । गोरक्षपंथी लोगों का विश्वास है कि इन नौ नाथों की उत्पत्ति श्री गोरक्षनाथ (जिन्हें श्री नाथ भी कहते हैं) से हुई है । ये गोरक्ष के ही नव-विध अवतार हैं । गोरक्षपंथियों का सिद्धान्त है कि गोरक्ष ही भिन्न भिन्न समय में अवतार लेकर भिन्न भिन्न नाथान्तनाम से अवतरित हुए हैं और गोरक्ष ही अनादि अनन्त पुरुष हैं । उन्हीं की इच्छा से

१. योगसं० आ: पृ० ७

२. सु० चं०: पृ० २४१

३. नेपाल कैटलाग, द्वितीय भाग: पृ० १४३

ब्रह्मा विष्णु महादेव आदि हुए हैं। योगिसंप्रदाया विष्णुति में शिव के गोरक्षरूप धारण करने के विषय में यह मनोरंजक कथा दी हुई है—यह प्रवाद परंपरा से योगियों में प्रचलित है कि महादेव को वश करने की इच्छा से प्रकृति देवी ने एक बार घोर तप किया था। इसलिये देवी का मान रखने और अपने को बचाने के हेतु से महादेवजी ने स्वयं गोरक्ष नाम से प्रसिद्ध कृत्रिम पुतले महादेव का उससे विवाह किया। कभी रहस्य खुलने पर देवी ने फिर इसको वश करने का उद्योग किया, पर विफल हुई। 'पश्चिम दिशा से आई भवानी, गोरख छलने आई जियो।'—इत्यादि आख्यान से यह वृत्त आज तक गाया जाता है।^२

इन सभी सूचियों में सर्वसाधारण नाम इस प्रकार हैं—आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, जालंधरनाथ और गोरक्षनाथ। ये नाम तांत्रिक सिद्धों में भी परिचित हैं और तिब्बती परंपरा के सहजयानी बौद्ध सिद्धों में भी। ललितसहस्रनाम^३ में तीन प्रकार के गुरु बताए गए हैं—दिव्य, सिद्ध और मानव। ताराहस्य^४ में दो प्रकार के गुरुओं का बल्लेख है, दिव्य और मानव। प्रथम श्रेणी में चार हैं और द्वितीय श्रेणी में आठ। मानव दिव्यगुरु हैं—ऊर्ध्वकेशानंदनाथ, वशोकेशानंदनाथ, नीलकण्ठानंदनाथ और वृषभ्वजानन्दनाथ। मानवगुरु ये हैं—

- | | |
|-------------|--------------|
| १. वशिष्ठ | ५. विरूपाक्ष |
| २. मीननाथ | ६. महेश्वर |
| ३. हरिनाथ | ७. सुख |
| ४. कुलेश्वर | ८. पारिजात |

इनमें केवल मीननाथ नाम नाथपथियों में परिचित है। किन्तु अन्यान्य तंत्रों में मानव गुरुओं के जो नाम गिनाए गए हैं उनमें कई नाथ सिद्धों के नाम हैं। कौलावलीतंत्र^५ के अनुसार बारह मानव गुरु ये हैं :—

- | | | |
|-----------|-------------|--------------|
| १. विमल | ५. गोरक्ष | ९. विमलेश्वर |
| २. कृशर | ६. भोजदेव | १०. हुताशन |
| ३. भीमसेन | ७. मूलदेव | ११. समरानंद |
| ४. मीन | ८. रत्तिदेव | १२. संतोष |

१. सु० चं० : पृ० २४१

२. यो० सं० आ० : पृ० १३

३. ल० स० ना० : पृ० १५

४. ता० र० : पृ० ११५

५. विमलः कृशरश्चैव भीमसेनः सुसाधकः ।

मीनो गोरक्षश्चैव, भोजदेव प्रकीर्तितः ॥

मूलदेव रत्तिदेवो, विमलेश्वर हुताशनो ।

समरानंदसन्तोषौ, मानवोभ्याः प्रकीर्तिताः ॥

कौ० तं० : पृ० ७६

लगभग ये ही नाम श्या मा र ह स्य^१ में भी दिये हैं। श्या मा र ह स्य के नाम इस प्रकार हैं :—

१. विमल	६. गोरक्ष	११. विघ्नेश्वर
२. कुशर	७. भोजदेव	१२. हुताशन
३. भीमसेन	८. प्रजापति	१३. संतोष
४. सुधाकर	९. कुलदेव	१४. समयानंद
५. मीन	१०. वृत्तिदेव	

इन दोनों सूचियों में नाममात्र का भेद है। पहली सूची में सुधाकर और प्रजापति के नाम नहीं हैं। 'भीमसेन सुसाधकः' का 'सुसाधकः' शब्द मैंने विशेषण मान लिया है। ऐसा जान पड़ता है कि परवर्ती सूची में गलती से 'सुसाधक' का 'सुधाकर' हो गया है। और 'प्रकीर्तितः' का 'प्रजापतिः' हो गया है। जो हो, इनमें गोरक्षनाथ, मीननाथ, और संतोषनाथ तथा भीमनाथ नाथमतावलम्बियों के सुपरिचित हैं। इस प्रकार मीननाथ, गोरक्षनाथ आदि का अनेक परंपरा के सिद्धों में परिगणित होना उनके प्रभाव और प्राचीनत्व को सूचित करता है। एसियाटिक सोसायटी की लाइब्रेरी में एक तालपत्र की पोथी है जिसका नंबर ४८/३४—अक्षर बंगला और लिपिकाल लक्ष्मण सं० ३८८ दिया है। ग्रन्थकार कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर हैं जो मिथिला के राजा हरिसिंह देव (सन् १३००-१३२१ ई०) के सभासद् थे। इस पोथी का नाम वर्णरत्नाकर है। इस पोथी में चौरासी नाथ सिद्धों की तालिका दी हुई है। यद्यपि ग्रन्थकार उनकी संख्या चौरासी बताता है तथापि वास्तविक संख्या ७६ ही है।^२ लेखक के प्रमादवश शायद आठ नाम छूट गए हैं। इन ७६ नामों में अनेक पूर्वपरिचित हैं पर नये नाम ही अधिक हैं। तिब्बती परंपरा के चौरासी सहजयानी सिद्धों से इन में के कई सिद्ध अभिन्न हैं। दोनों सूचियों को आस पास रखकर देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि नाथ पंथियों और सहजयानियों के अनेक सिद्ध उभयसाधारण हैं। नीचे दोनों सूचियों दी गई हैं। पहली वर्णरत्नाकर के नाथ सिद्धों की है और दूसरी महा-पंडित श्री राहुल सांकृत्यायन की संगृहीत वज्रयानियों की है^३ :—

संख्या	नाथ सिद्ध	संख्या	सहजयानी सिद्ध	विशेष
१	मीननाथ	१	लूहिपा	
२	गोरक्षनाथ	२	लीलापा	

१. विमलकुशरश्चैव भीमसेनः सुधाकरः ।

मीनो गोरक्षरश्चैव, भोजदेवः प्रजापतिः ॥

कुलदेवो वृत्तिदेवो, विघ्नेश्वर हुताशनो ।

संतोषः समयानंदः पान्थु मां मानवाः सदा ॥ श्या० २० : पृ० २४

२. बी० गा० दो० भूमिका पृ० ३६

३. गं गा—पु रा त त्वां कः पौष माघ १६८६ पृ० २२१—२२४

सं०	नाथ सिद्ध	सं०	सहजयानी सिद्ध	विशेष
३	चौरंगीनाथ	३	विरूपा	नाथ सिद्ध (= ना० सि०)
४	बामरीनाथ	४	डोम्भीपा	
५	तन्तिपा	५	शबरीपा	ना० सि० ४७ से तु०
६	हालिपा	६	साहपा	
७	केदारिपा	७	कंकालीपा	
८	धोंगपा	८	मीनपा	ना० सि० १ से तु०
९	द्वारिपा	९	गोरक्षपा	ना० सि० ३
१०	विरूपा	१०	चौरंगीपा	ना० सि० ३
११	कपाली	११	वीणापा	
१२	कुमारी	१२	<u>शान्तिपा</u>	ना० सि० ४४ से तु०
१३	कान्ह	१३	तन्तिपा	ना० सि० ५ से तु०
१४	कनखल	१४	चमरिपा	
१५	मेखल	१५	खड्गपा	
१६	उन्मन	१६	नागार्जुन	ना० सि० २२
१७	काण्डलि	१७	कराहपा	ना० सि० १३ से तु०
१८	धोवी	१८	कर्णरिपा (आर्यदेव)	
१९	जालधर	१९	थगनपा	ना० सि० ४८ से तु०
२०	टोंगी	२०	नारोपा	
२१	मबह	२१	शलिपा (शीलपा), शृगाली पाद ?	ना० सि० ५५ से तु०

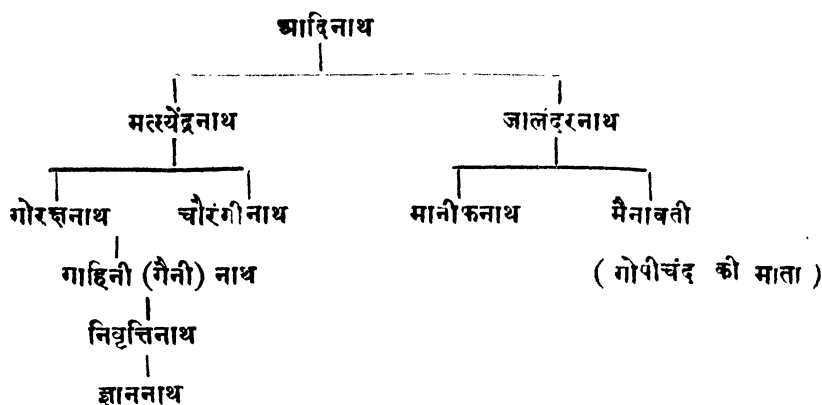
सं०	नाथ सिद्ध	सं०	शङ्खजयानी सिद्ध	विशेष
२२	नाग जर्जन	२२	तिलोपा	
२३	दौली	२३	झत्रपा	
२४	भिषाल	२४	भद्रपा	ना० सि० ३७ से तु०
२५	अचिति	२५	दोखंधिपा (द्विखंडिपा)	
२६	चम्पक	२६	अजोगिपा	
२७	ढेण्टस	२७	कालपा	
२८	मुम्बरी	२८	घोम्भपा	ना० सि० १८ से तु०
२९	बाकलि	२९	कंकणपा	
३०	तुजी	३०	कमरिपा (कंबलपा)	ना० सि० ३४ से तु०
३१	चर्पटी	३१	डेंगिपा	ना० सि० ८ ?
३२	भादे	३२	भदेपा	ना० सि० ३२ से तु०
३३	चाँदन	३३	तंधेपा (तंतिपा)	
३४	कामरी	३४	कुकुरिपा	
३५	करवत	३५	कुचिपा (कुसूलिपा)	
३६	धर्मशापतंग	३६	धर्मसा	ना० सि० ३६
३७	भद्र	३७	महीपा (महिलापा)	
३८	पातलिभद्र	३८	अचिन्तिपा	ना० सि० २५ से तु०
३९	पलिहिह	३९	भलहपा (भवपा)	
४०	भानु	४०	नलिनपा	
४१	मीन	४१	भूसुकपा	

सं०	नाथ सिद्ध	सं०	सहजयानी सिद्ध	विशेष
४२	निर्दय	४२	इन्द्रभूति	
४३	सवर	४३	मेकोपा	
४४		४४	कुड़ालिपा (कुदलिपा)	ना० सि० ७ से तु०
४५	भर्तृहरि	४५	कमरिपा (कम्मरिपा)	ना० सि० १२ से तु०
४६	भीषण	४६	जालंधरपा (जालधारक)	ना० सि० १९ से तु०
४७	भटी	४७	राहुजपा	
४८	गगनवा	४८	धर्मरिपा (धर्मरि)	
४९	गमार	४९	धोकरिपा	
५०	मेनुरा	५०	मेदनीपा (हालीपा?)	ना० सि० ६ से तु०
५१	कुमारी	५१	पंकजपा	
५२	जीवन	५२	घंटा (वज्रघंटा) पा	
५३	अघोसाधव	५३	जोगीपा (अजोगिपा)	
५४	गिरिचर	५४	चेलुकपा	
५५	सियारी	५५	गुंडरिपा (गोरुरपा)	
५६	नागवालि	५६	तुर्बिचरपा	
५७	विभवत्	५७	निर्गुणपा	
५८	सारंग	५८	जयानन्त	
५९	विविकिधज	५९	चर्पटीपा (पचरीपा)	ना० सि० ३१ से तु०
६०	मगरधज	६०	चम्पकपा	ना० सि० २६
६१	अचित	६१	भिखनपा	ना० सि० ४६ से तु०

सं०	नाथ सिद्ध	सं०	सहजयानी सिद्ध	विशेष
६२	विचित	६२	भलिपा	ना० सि० ६६ से तु०
६३	नेचक	६३		ना० सि० ५१ से तु०
६४	चाटल	६४	चवरि, (जवरि) अज- पालिपा	ना० सि० ४ से तु०
६५	नाचन	६५	मणिभद्रा (योगिनी)	ना० सि० ७४ से तु०
६६	भीलो	६६	मेखलापा (योगिनी)	ना० सि० १५ से तु०
६७	पाहिल	६७	कनखलापा (योगिनी)	ना० सि० १४ से तु०
६८	पासल	६८	कलकलपा	
६९	कमल-कंगारि	६९	कन्ताली (कन्थाली) पा	
७०	चिपिल	७०	धडुलि (रि)पा (दबडीपा ?)	
७१	गोविंद	७१	उधनि (उधलि) पा	
७२	भीम	७२	कपाल (कमल) पा	ना० सि० ६९ से तु०
७३	भैरव	७३	किलपा	
७४	भद्र	७४	सागरपा	
७५	भमरी	७५	सर्वभक्षपा	
७६	मुरुकुटी	७६	नागबोधिपा	ना० सि० ५६ से तु०
७७		७७	दारिकपा	ना० सि० ९ से तु०
७८		७८	पुतुलिपा	
७९		७९	पनहपा	
८०		८०	को छालिपा	
८१		८१	अनंगापा	

सं०	नाथ सिद्ध	सं०	सहजयानी सिद्ध	विशेष
८२		८२	लक्ष्मीकरा	
८३		८३	समुद्रपा	
८४	✓	८४	भलि (व्यालि) पा	

श्री ज्ञानेश्वर चरित्र में पं० लक्ष्मण रामचंद्र पांगारकर ने ज्ञाननाथ तक की गुरुपरम्परा इस प्रकार बताई है—



इस प्रकार यदि नवनाथों, कापालिकों, ज्ञाननाथ तक के गुरु सिद्धों और वर्ण रत्नाकर के चौरासी नाथ-सिद्धों के नाथ परंपरा में मान लिया जाय तो चौदहवीं शताब्दी के आरंभ होने के पूर्व लगभग सवा सौ सिद्धों के नाम उपलब्ध होते हैं नीचे इनकी सूची दी जा रही है। इनमें तंत्र ग्रंथों के मानव गुरुओं का उल्लेख नहीं है क्योंकि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे गुरु नाथ-सिद्ध होंगे ही। फिर नेपाली परंपरा के नाथ शिव के आनंद और शक्ति के प्रतीक से जान पड़ते हैं, व्यक्ति विशेष नहीं। आगे उन पर विचार करने का अवसर आएगा। यद्यपि नीचे की सूची में १३७ सिद्धों के नाम हैं पर उनमें से कई अभिन्न से जान पड़ते हैं। कन्ह, कन्हड़ी, करणिपा, काण्फोनाथ आदि एक ही सिद्ध के नाम के उच्चारण भेद से भिन्न रूप हैं। हठ योग प्रदीपिका के द्विष्टिणी, सहजयान सिद्ध डेण्डण और वर्ण रत्नाकर के डेण्टस एक ही सिद्ध हैं। वर्ण रत्नाकर की मेनुरा, मैना या मयनामती का ही नामान्तर जान पड़ता है। कालभैरवनाथ और भैरवनाथ एक ही हो सकते हैं और नागनाथ और नागार्जुन तथा नागबोध और नागबालि की विभिन्नता भी संदेह का विषय है। जहाँ संदेह ज्यादा है वहाँ हमने

अलग से नाम गिनाना ही उचित समझा परन्तु इन सिद्धों में सवा सौ के करीब ऐतिहासिक व्यक्ति अवश्य हैं और वे तेरहवीं शताब्दी (ईसवी सन् की) के समाप्त होने के पूर्व के ही हैं। स्पष्ट ही संप्रदाय के सर्वमान्य आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ, जालंधरनाथ, गोरक्षनाथ और कानिपा हैं क्योंकि इनका नाम सब ग्रंथों में पाया जाता है। आगे इन पर विचार करके ही अन्य सिद्धों पर विचार किया जायगा।

सूची में निम्नलिखित संकेत व्यवहृत हुए हैं:

व र्ण र त्ना कर=व०	गो र क्ष सि द्धा न्त र्ग प्र ह=गो०
म हार्य व तं त्र=म०	यो गि सं प्र दा या वि ष्कृ ति=यो०
ह ठ योग प्र दी पि का=ह०	सु धा कर चं द्रि का=सु०
ज्ञा ने श्व र च रि त्र =ज्ञा०	

सं०	नाम	आधार ग्रंथ	सं०	नाम	आधार ग्रंथ
१	अक्षय	ह०	१४	मलकंगारि	व०
२	अधोसाधव	व०	१५	कंथाधारी	ह०
३	अचित	व०	१६	कन्हड़ी	,,
४	अजपानाथ	यो०	१७	करवत	व०
५	अजपा	,,	१८	काण्हेरी	ह०, गो०
६	अतिकाल	का०	१९	काण्डालि	व०
७	अनादिनाथ	का०	२०	कान्ह (करणिपा)	व० (यो०), ज्ञा०
८	अवद्य	,,	२१	कामरी	व०
९	आदिनाथ	सब	२२	कापालि	ह०
१०	उदयनाथ	सु०, गो०	२३	काल	का०
११	उत्तमन	व०	२४	काल भैरवनाथ	,,
१२	एकनाथ	सु०, गो०	२५	कुमारी	व०
१३	कनखल	व०	२६	कूर्मनाथ	सु०, गो०

सं०	नाम	आधार ग्रंथ	सं०	नाम	आधार ग्रंथ
२७	केदारिपा	व०	४६	ज (जा) लंधर	सब
२८	कोरंडक	ह०	४७	जीवन	व०
२९	खण्ड कापालिक	ह०	४८	ज्ञाननाथ	ज्ञा०
३०	गगनपा	व०	४९	टोंगी	व०
३१	गमार	व०	५०	ढिण्डिणी	ह०
३२	गिरिवर	,,	५१	ढेण्टस	व०
३३	गाहिनी नाथ	ज्ञा०, यो०	५२	ततिपा	व०
३४	गोपीचन्द्रनाथ	यो०, गो०	५३	तारकनाथ	यो०
३५	गोरक्षनाथ	सब	५४	तुजी	व०
३६	गोविंद	व०	५५	दण्डनाथ	सु०, गो
३७	घोड़ा चूली	ह०	५६	दत्तात्रेय	म०
३८	चर्पट	का०, हा०, व०, गो०	५७	दारिपा	व०
३९	चाटल	व०	५८	देवदत्त	म०
४०	चम्पक	,,	५९	दौली	व०
४१	चाँदन	,,	६०	धर्मपा रतंग	,,
४२	चामरी	,,	६१	धोंगपा	,,
४३	चिपिल	,,	६२	धोरंग (दुरंगम)	यो०
४४	चौरंगी	ह०, व०, ज्ञा०	६३	धोबी	व०
४५	जड़भरत	म०, का०	६४	नागनाथ	यो०

सं०	नाम	आधार ग्रंथ	सं०	नाम	आधार ग्रंथ
✓ ६५	नागवालि	व०	८४	भद्र (२)	व०
६६	नागबोध	ह०	८५	भमरी	"
✓ ६७	नागार्जुन - ✓✓	का०, म०, व०	८६	भर्तृहरि	ब०, यो०
६८	नाचन	व०	८७	भवनाग्निः	गो०
६९	नित्यनाथ	ह०	८८	भल्लटि	ह०
७०	निरंजन	ह०, यो०	८९	भारे	व०
७१	निर्दय	व०	९०	भानु	"
७२	निवृत्तिनाथ	ज्ञा०	९१	भिषाल	"
७३	नीमनाथ	यो०	९२	भीमनाथ	का०, व०
७४	मेचक	व०	९३	भीषण	व०
७५	पलिहिह	"	९४	भीलो	वा०
७६	पातलीभद्र	"	९५	भुरुकुटी	व०
७७	पासल	"	९६	भूतनाथ	का०
✓ ७८	पूज्यपाद	ह०	९७	भूम्वरी	व०
७९	प्रभुदेव ✓✓	"	९८	भैरव	का०, व०
८०	बटुक	का०	९९	मगरधन	व०
८१	बाकलि	व०	१००	मत्स्येन्द्रनाथ	व० के सिवा सब
८२	भटी	व०	✓ १०१	मन्थानभैरव	ह०
८३	भद्र (१)	"	१०२	मय	ह०

सं०	नाम	आधार ग्रंथ	सं०	नाम	आधार ग्रंथ
१०३	मवह	व०	१२१	वैराग्य	का०
१०४	मलयार्जुन	का०	१२२	शंभुनाथ	यो०
१०५	महाकाल	"	१२३	श्रीकंठ	का०
१०६	माणिकनाथ	यो०	१२४	सत्यनाथ	का०, सु०, गो०
१०७	मालीपाव	गो०	१२५	सन्तोषनाथ	सु०, गो०
१०८	मीन ✓	ह०, व०, यो०, गो०	१२६	सवर	व०
१०९	मेखल	व०	१२७	सहस्रार्जुन	म०
११०	मेनुरा (मयनामती)	व० (झा०)	१२८	सारदानंद	ह०
१११	रेवानाथ	यो०	१२९	सान्ति	व०
११२	विकराल	का०	१३०	सारंग	व०
११३	विचित	व०	१३१	सिद्धपाद	ह०
११४	विंदुनाथ	ह०, यो०	१३२	सिद्धबोध	ह०
११५	विभवत्	व०	१३३	सियारी	व०
११६	विरूपा	व०	१३४	सुरानंद	ह०
११७	विरूपाक्ष	ह०	१३५	सूर्यनाथ	यो०
११८	विविगधज	व०	१३६	हरिश्चन्द्र	का०
११९	विलेशय	ह०, यो०	१३७	हालिपा	व०, गो०
१२०	वीरनाथ	का०			

कभी कभी परवर्ती ग्रंथों में इनके अतिरिक्त अन्य नाम भी आते हैं जो चौरासी सिद्धों में गिने गए हैं। प्राण संग लो नामक सिद्ध ग्रंथ में गुरु नानक के साथ चौरासी

सिद्धों के साथ साक्षात्कार का प्रसंग है। इन चौरासी सिद्धों में कई प्रकार के सिद्ध थे। कुछ सुरति-सिद्ध थे कुछ निरति-सिद्ध और कुछ कनक-सिद्ध। कुछ सिद्ध क्रोधो और तामसिक प्रकृति के भी थे। इस पुस्तक से निम्नलिखित संतों का पता लगता है—

१. परवत सिद्ध (पृ० १५४)
२. ईश्वरनाथ (पृ० १५५)
३. चरपटनाथ (पृ० १५५)
४. घुघूनाथ (पृ० १५६)
५. चंपानाथ (पृ० १५६)
६. खिथड़नाथ (कंथड़ि ?) (पृ० १६२)
७. भंगरनाथ (पृ० १६१)
८. धूर्मनाथ (ऊरमनाथ) (पृ० १६५)
९. धंगरनाथ (पृ० १६७)
१०. मंगलनाथ (पृ० १६९)
११. प्राणनाथ (पृ० १६९)

परवर्ती ग्रंथों में सिद्धों के नाम इतने विकृत हुए हैं कि कभी कभी भ्रम होता है कि दूसरा कोई सिद्ध है। इस प्रकार नागार्जुन नागाश्वरजन्द हो गए हैं, नेमिनाथ नीमनाथ बन गए हैं और कथाधारी खिथड़ हो गए हैं। संप्रदाय प्रवर्तक सिद्धों में कुछ तो पुराने हैं। कुछ नए हैं और कुछ ऐसे भी हैं जिनका मूल नाम विकृत हो कर कुछ का कुछ हो गया है।

मत्स्येन्द्रनाथ कौन थे ?

नाथ-परंपरा में आदिनाथ के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ ही हैं। हमने यह पहले देखा है कि आदिनाथ शिव का ही नामान्तर है। सो, मानव गुरुओं में मत्स्येन्द्रनाथ ही इस परम्परा के सर्वप्रथम आचार्य हैं। ये गोरखनाथ के गुरु थे। नेपाली अनुश्रुति के अनुसार ये अवलोकितेश्वर के अवतार थे नाथ-परंपरा के आदि गुरु माने जाते हैं और कौलाचार के वे सिद्ध पुरुष हैं। काश्मीर के शैवागमों में भी इनका नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। वस्तुतः मध्ययुग के एक ऐसे युगसंधिकाल में मत्स्येन्द्र का आविर्भाव हुआ था कि अनेक साधन मार्गों के ये प्रवर्तयिता मान लिए गए हैं। सारे भारतवर्ष में उनका नाम की सैकड़ों दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। प्रायः हर दन्तकथा में वे अपने प्रसिद्ध शिष्य गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) के साथ जड़ित हैं। यह कहना कठिन है कि इन दन्तकथाओं में ऐतिहासिक तथ्य कितना है, परन्तु नानामूलों से जो कुछ भी ऐतिहासिक तथ्य पाया जाता है उनसे दन्तकथाओं की यथार्थता बहुत दूर तक प्रमाणित हो जाती है। इसीलिये उनके काल, साधन-मार्ग और विचार-परंपरा के ज्ञान के लिये दन्तकथाओं पर थोड़ा-बहुत निर्भर किया जा सकता है।

प्रथम प्रश्न इनके नाम का है। योगि-संप्रदाय में 'मछन्दरनाथ' नाम प्रसिद्ध है। परवर्ती संस्कृत ग्रंथों में इसका शुद्ध रूप मत्स्येन्द्रनाथ दिया हुआ है। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि साधारण योगी मत्स्येन्द्रनाथ की अपेक्षा 'मछन्दरनाथ' नाम को ही अधिक पसंद करते हैं। श्री चन्द्रनाथ योगी जैसे सुधारक मनोवृत्ति के महात्मा को बड़े दुःख के साथ कहना पड़ा है कि मत्स्येन्द्रनाथ को मछन्दरनाथ और गोरक्षनाथ को गोरखनाथ कहना योगि संप्रदाय के घोर पतन का सबूत है (पृ. ४४८-९)। परन्तु बहुत प्राचीन पुस्तकों में इनके इतने नाम पाये गए हैं कि इनके प्राकृत नाम की प्राचीनता निस्सन्दिग्ध रूप से प्रकट होती है और यह बात सन्दिग्ध हो जाती है कि परवर्ती ग्रंथों में व्यवहृत मत्स्येन्द्रनाथ नाम ही शुद्ध और वास्तविक है। मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा रचित कई पुस्तकें नेपाल की दरबार लाइब्रेरी में सुरक्षित हैं। उनमें एक का नाम है कौल ज्ञान निणय। इसकी लिपि को देखकर स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने अनुमान किया था कि वह ईसवी सन् की नवीं शताब्दी का लिखा हुआ है।^१ हाल ही में कलकत्ता विश्वविद्यालय के (अब विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के) अध्यापक डा० प्रबोधचंद्र बागची ने उस पुस्तक का तथा मत्स्येन्द्रनाथ की लिखी अन्य चार पुस्तकों का बहुत सुन्दर संपादित संस्करण प्रकाशित कराया है। बाकी चार पुस्तकें ये हैं—अकुलवीरतंत्र—ए, अकुलवीरतंत्र—बी, कुलानन्द और ज्ञानकारिका। डा० बागची के अधुसंधान से ज्ञात हुआ

है कि वस्तुतः इन ग्रंथों की हस्तलिपि ईसवी सन की ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यभाग की है, नवीं शताब्दी की नहीं। इन पुस्तकों की पुष्पिका में आचार्य का नाम कई प्रकार से लिखा गया है। नीचे वे दिये जा रहे हैं—

कौलज्ञाननिर्णय में—मच्छन्नपाद, मच्छेन्द्रपाद, मत्स्येंद्रपाद और
मीनपाद

अकुलबीरतंत्र में — (ए) मीनपाद

” (बी) मच्छेन्द्रपाद

कुलानन्द में — मत्स्येंद्र

ज्ञानकारिका में — मच्छिन्द्रनाथपाद

मच्छेन्द्र, मच्छिन्द्र और मच्छेन्द्र आदि नाम मत्स्येंद्रनाथ के अपभ्रंश रूप हो सकते हैं पर 'मच्छन्न' शब्द मत्स्येंद्र का प्राकृत रूप किसी प्रकार नहीं हो सकता। इस नाम पर से हरप्रसाद शास्त्री का अनुमान है कि मत्स्येंद्रनाथ मछली मारने वाली कैवर्त जाति में उत्पन्न हुये थे। कौलज्ञाननिर्णय से भी मत्स्यन्न नाम का समर्थन होता है। इस ग्रंथ से पता चलता है कि मत्स्येंद्रनाथ थे तो ब्राह्मण परन्तु एक विशेष कारण से उनका नाम 'मत्स्यन्न' पड़ गया। कार्तिकेय ने कुलागमशास्त्र को चुरा कर समुद्र में फेंक दिया था तब उस शास्त्र का उद्धार करने के लिये स्वयं भैरव अर्थात् शिव ने मत्स्येंद्रनाथ का अवतार धारण कर समुद्र में घुसकर उस शास्त्र का भक्षण करने वाले मत्स्य का उदर विदीर्ण करके शास्त्र का उद्धार किया। इसी कारण से वे 'मत्स्यन्न' कहलाए।

यह ध्यान देने की बात है कि अभिनवगुप्तपाद ने भी 'मच्छन्द' नाम का ही प्रयोग किया है और रूपकात्मक अर्थ समझ कर उसकी व्याख्या की है। इनके मत से आतान-वितान वृत्त्यात्मक जाल को छिन्न करने के कारण उनका नाम 'मच्छन्द' पड़ा।^१ और तंत्रालोक के टीकाकार जयद्रथ ने भी इसी प्रकार का एक श्लोक उद्धृत किया है जिसके अनुसार 'मच्छ' चपल चित्तवृत्तियों को कहते हैं। ऐसी वृत्तियों को छेदन करने के कारण ही वे 'मच्छन्द' कहलाए।^२ कबीर संप्रदाय में अब भी 'मच्छ' शब्द मन अर्थात् चपल चित्तवृत्तियों को कहते हैं।^३ यह परंपरा अभिनवगुप्त तक जाती है। उसके पहले भी ऐसी परंपरा नहीं रही होगी यह नहीं कहा जा सकता। प्राचीनतर बौद्ध सिद्धों के पदों से इस प्रकार के प्रमाण संग्रहित किए जा सके हैं कि 'मत्स्य' प्रज्ञा का वाचक था। इस प्रकार मत्स्येंद्रनाथ की जीवितावस्था में ही, मच्छन्न के प्रतीकात्मक अर्थ में उनका कदा जाना असंगत कल्पना नहीं है।

१. रागारुणं ग्रंथिविलावकीर्णं यो जालमातान वितान वृत्ति -

कलोभितं बाह्यपथे चकार स्यात्मे स मच्छन्दविभुः प्रसन्नः । १.१७

—तंत्रालोक : प्रथम भाग पृ० २५

२. मच्छाः पाशाः समाख्याताश्चपलाश्चित्तवृत्तयः ।

छेदितास्तु यदा तेन मच्छन्दस्तेन कीर्तितः ॥

३. विचारदास की टीका : पृ० ४०

एक और प्रश्न उठता है कि मत्स्येंद्रनाथ और मीननाथ एक ही व्यक्ति हैं या भिन्न भिन्न। हठयोगप्रदीपिका में मीननाथ को मत्स्येंद्रनाथ से पृथक् व्यक्ति बताया गया है। डा० बागची कहते हैं कि यह बात बाद की कल्पना जान पड़ती है। कौलज्ञाननिर्णय में कई जगह मीननाथ का नाम आने से उन्हें इस विषय में कोई संदेह नहीं कि मत्स्येंद्रनाथ और मीननाथ एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। सांप्रदायिक अनुश्रुतियों के अनुसार मीननाथ मत्स्येंद्रनाथ के पुत्र थे।^१ डा० बागची इस मत को परवर्ती कल्पना मानते हैं। परन्तु सिद्धों की सूची देखने से जान पड़ता है कि यह परंपरा काफी पुरानी है। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार मीननाथ मत्स्येंद्रनाथ के पिता थे।^२ इस प्रकार यह एक विचित्र उलझन है। (१) कौलज्ञाननिर्णय के अनुसार मीननाथ मत्स्येंद्रनाथ से अभिन्न हैं (२) सांप्रदायिक अनुश्रुति में वे मत्स्येंद्रनाथ के पुत्र हैं, और (३) तिब्बती परंपरा में वह स्वयं मत्स्येंद्रनाथ के ही पिता हैं, फिर (४) नेपाल में प्रचलित विश्वास के अनुसार वे मत्स्येंद्रनाथ के छोटे भाई हैं !!

वर्णरत्नाकर में प्रदत्तनाथ सिद्धों की सूची काफी पुरानी है। इसमें प्रथम सिद्ध का नाम मीननाथ है और ४१ वें सिद्ध का नाम मीन है। प्रथम सिद्ध मीननाथ निश्चय ही मत्स्येंद्रनाथ हैं। इकतालीसवें मीन कोई दूसरे हैं जो मीननाथ की शिष्य परंपरा में पड़ने के कारण उनके पुत्र मान लिये गये होंगे। परन्तु वर्णरत्नाकर से स्पष्ट रूप से दो बातें मालूम होती हैं—(१) यह कि मीननाथ और मत्स्येंद्रनाथ एक ही प्रथम नाथ सिद्ध के दो नाम हैं और (२) यह कि हठयोगप्रदीपिका में मत्स्येंद्र के अतिरिक्त भी जो एक मीन नाम आता है उसका कारण यह है कि वस्तुतः ही नाथ परंपरा में एक और भी मीन नामधारी सिद्ध हो चुके हैं।

मत्स्येंद्रनाथ और मीननाथ के एक होने का एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण यह है कि तंत्रालोक की टीका में जयद्रथ ने दो पुराने श्लोक उद्धृत किए हैं इनमें शिव ने कहा है कि मीननाथ नामक महासिद्ध 'मच्छन्द' ने कामरूप नामक महापीठ में मुक्त योग पाया था।^३ निस्संदेह टीकाकार के मन में कौलज्ञाननिर्णय नामक ग्रंथ ही रहा होगा क्योंकि उन्होंने लिखा है कि यह मच्छन्द 'सकुलकुल शास्त्रों के अवतारक रूप में प्रसिद्ध हैं'।^४ यह लक्ष्य करने की बात है कि कौलज्ञान की पुष्टिका में बराबर मच्छन्द या मत्स्येंद्रनाथ को योगिनी कौलज्ञान का अवतारक बताया गया है।^५

१. यो० सं० आ०: पृ० २२७ और आगे।

२. बौ० गा० दो०: पृ० ४॥ ३; गंगापुरातत्त्वांक: पृ० २२१

३. औरव्या औरवात् प्राप्तं योगं व्याप्य ततः प्रिये।

तत्सकाशात्तु सिद्धेन मीनाख्येन बरानने।

कामरूपे महापीठे मच्छन्देन महात्मना।

—तंत्रालोक टीका: पृ० २४

४. स च (मच्छन्दः) सकलकुलशास्त्रावतारकतया प्रसिद्धः।—वही

५. तु०—पदावतारितं ज्ञानं कामरूपी स्वया मया

—कौ० ज्ञा० नि०: १६।२१

इस प्रकार यह निर्विवाद है कि प्राचीन काल में मत्स्येंद्रनाथ का नाम ही मीन या मीननाथ माना जाता था ।

ये मत्स्येंद्रनाथ कौन थे और किस कुल तथा देश में उत्पन्न हुए थे ? इनके रचित ग्रंथ क्या क्या हैं ? इनका साधन मार्ग क्या था और कैसा था ? इत्यादि प्रश्न सहज-समाधेय नहीं हैं । सारे देश में इनके तथा इनके गुरु भाई जालंधरनाथ और शिष्य गोरक्षनाथ के संबंध में इतनी तरह की दन्तकथाएँ प्रचलित हैं कि उनके आधार पर ऐतिहास को खोज निकालना काफी कठिन है । फिर भी सभी परंपराएँ कुछ बातों में मिलती हैं इसीलिये उन पर से ऐतिहासिक कंकाल का अनुमान हो सकता है ।

किसी किसी पंडित ने बौद्ध सहजयानियों के आदि सिद्ध^१ लुईपाद और मत्स्येंद्रनाथ को एक ही व्यक्ति बताने का प्रयत्न किया है । लुई शब्द को लोहित (= रोहित = मत्स्य) शब्द का अपभ्रंश मान कर इस मत की स्थापना की गई है । इस कल्पना का एक और भी कारण यह है कि तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार लुईपाद का एक और नाम मत्स्यान्गाद (= मछली की अँतड़ी खाने वाला) दिया हुआ है^२ यह नाम मच्छन्न नाम से मिलता है । इस प्रकार उर्युक्त कल्पना को बल मिलता है । यदि यह कल्पना सत्य हो तो मत्स्येंद्रनाथ का समय आसानी से मालूम हो सकता है । लुईपाद के एक ग्रंथ में दीपंकर श्री ज्ञान ने सहायता दी थी । ये दीपंकर श्रीज्ञान सन् १०३८ ई० में ५८ वर्ष की उमर में विक्रमशिला से तिब्बत गए थे^३ । अतएव लुईपाद का समय इसीके आस-पास होगा । परन्तु कई कारणों से लुईपाद और मत्स्येंद्रनाथ के एक व्यक्ति होने में संदेह है । हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है कि नेपाल के बौद्ध लोग गोरक्षनाथ पर तो बहुत नाराज हैं पर मत्स्येंद्रनाथ को अवलोकितेश्वर का अवतार मानते हैं । सुप्रसिद्ध तिब्बती ऐतिहासिक तारानाथ ने लिखा है कि गोरक्षनाथ पहले बौद्ध थे । उस समय उनका नाम अनंगवज्र था (यद्यपि शास्त्री जी को कोई विश्व-सनीय प्रमाण मिला है कि गोरक्षनाथ का पुराना नाम अनंगवज्र नहीं बल्कि रमणवज्र था ।) इसलिये नेपाली बौद्ध उन्हें धर्मत्यागी समझ कर घृणा करते हैं । परन्तु मत्स्येंद्रनाथ पर जब उनकी श्रद्धा है तो मानना पड़ेगा कि वे धर्मत्यागी नहीं हो सकते । शास्त्री जी का अनुमान है कि मत्स्येंद्रनाथ कभी बौद्ध थे ही नहीं, क्योंकि मत्स्येंद्रनाथ का पूर्व नाम मच्छन्न था अर्थात् वे मछली मारने वाले कैवर्त थे । बौद्धों के स्मृतिग्रंथों में लिखा है कि जो लोग निरन्तर प्राणि-हत्या करते हैं उनको—जैसे जाल फेंकने वाले मज्जाह, कैवर्त आदि को—बौद्धधर्म में दीक्षित नहीं करना चाहिए । इसलिये मच्छन्ननाथ बौद्ध नहीं हो सकते । वे नाथपंथियों के ही गुरु थे फिर भी नेपाली बौद्धों

१. राहुल जी के मत से सहजयानियों के आदि सिद्ध सरह थे, लुई नहीं ।

२. बौ० गा० दो०: पृ० १५

के उपास्य हो सके हैं।^१ शास्त्रीजी की युक्ति संपूर्ण रूप से ग्राह्य नहीं मालूम होती क्योंकि बौद्ध सिद्धों में कम से कम एक मोनपा ऐसे अवश्य हैं जिनकी जाति मछुआ है।^२ परन्तु आगे हम जो विचार करने जा रहे हैं उससे इतना निश्चित है कि शास्त्री जी का यह मन्तव्य कि मत्स्येंद्रनाथ कभी बौद्ध थे ही नहीं ठीक है। तिब्बती ऐतिहासिक तारानाथ के अनुसार गोरक्षनाथ पहले बौद्ध तांत्रिक ही थे पर बारहवीं शताब्दी में सेन राजवंश के अंत के साथ वे शिव (ईश्वर) के उपासक हो गए क्योंकि वे मुसलमान विजेताओं का विरोध नहीं करना चाहते थे।^३

गोरक्षशतक के दूसरे श्लोक में मोननाथ को अपना गुरु मानकर गोरक्ष-नाथ ने स्तुति की है। वही श्लोक गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह (पृ० ४०) में विवेकमार्तण्ड का कहकर उद्धृत है। इसमें मोननाथ की स्तुति है। प्रसंग से ऐसा जान पड़ता है कि ये मोननाथ मत्स्येंद्रनाथ ही हैं। इसमें कहा गया है कि जिन्होंने मूलाधारबंध उड्डियानबंध, जालंधरबंध आदि योगाभ्यास से हृदय कमल में निश्चय दीप की ज्योति सरीखी परमात्मा की कला का साक्षात्कार करके युग-कल्प आदि के रूप में चक्कर काटने वाले काल के रहस्यों को तथा समस्त तत्त्वों को योगाभ्यास से जय कर लिया था और स्वयं ज्ञान और आनंद के महासमुद्र श्री आदिनाथ का स्वरूप हो गए थे उन श्री मोननाथ की प्रणाम है^४। उसी ग्रंथ में मोननाथ का कहा हुआ एक श्लोक है जिसमें बताया गया है कि योगी लोग जिस शिव की उपासना करते हैं उनके कोपानल से कामदेव जलकर भस्म हो गया था। इस पर से ग्रंथ संग्रहीता ने निष्कर्ष निकाला है कि योगी लोग कामभाव के विरोधी हैं और उनका मत पूर्ण ब्रह्मचर्य पर

१. बी. गा. दो० : पृ० १६

२. राहुल सांकृत्यायन : गंगा, पुरातत्त्विक, पृ० २११

३. (१) गे शि स्टे दे स बु धि स्मु ट्रा० इ न-इ थिड ए न, ट्रा० शीफनेर० सेंट पीटर्सवर्ग सन् १८६६, पृ० १७४, २५५, ३२३.

(२) लेवी, ल ने पा ल, : पृ० ३५५ और आगे

(३) ग्रियर्सन० इ. रे ए. : पृ० ३२८

४. अन्तर्निश्चलितात्मदीपकलिका स्वाधारवेधादिभि —

र्यो योगीयुगकल्पकालकलनातत्वं च यो गीयते ।

ज्ञानान्मोदमहोदधिः समभवद्यत्रादिनाथं स्वयं

व्यक्ताव्यक्तगुणाधिकं तमनिशं श्री मोननाथं भजे ॥

गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में यह श्लोक अशुद्ध रूप में उद्धृत है। इसका शुद्ध रूप पं० महीधर शर्मा की पुस्तक में उपलब्ध है। तदनुसार द्वितीय पंक्ति के 'यो गीयते' के स्थान में 'जेगीयते' पाठ होना चाहिए। तृतीय पंक्ति के आरंभ में 'ज्ञानामोदमहोदधिः' होना चाहिये और 'आदिनाथ' के स्थान में 'आदिनाथः' पाठ होना चाहिए (— गो० प०, पृ०, ७) इसका यही शुद्ध रूप गोरक्ष-शतक में भी मिलता है (ग्रिंस, पृ० १८४)।

आधारित है^१। स्पष्ट ही स्मरदीपिका के ग्रंथकार मीननाथ^२ यह मीननाथ नहीं हो सकते क्योंकि दोनों के प्रतिपाद्य परस्पर-विरुद्ध हैं। वस्तुतः स्मरदीपिकाकार कोई दूसरे मीननाथ हैं और नाथ मार्ग से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह ध्यान देने की बात है कि गोरक्षशतक के टीकाकार लक्ष्मीनारायण भी मत्स्येंद्रनाथ और मीननाथ को एक ही मानते हैं^३।

नेपाल दरबार लाङ्गोरी में नित्याहिकतिलकम् नामक पुस्तक है। इस में एक जगह पचीस कौल सिद्धों के नाम, जाति, जन्मस्थान, चर्यानाम, गुप्तिनाम, कीर्तिनाम और उनकी शक्तियों के नाम दिए हुए हैं। डा० बागची ने कौल ज्ञान निर्णय की भूमिका में इस सूची को उद्धृत किया है। इस सूची में एक नाम मत्स्येंद्रनाथ भी है। इसके अनुसार मत्स्येंद्रनाथ का विवरण इस प्रकार है—

नाम—विष्णुशर्मा

जाति—ब्राह्मण

जन्मभूमि—वाण (बंग देश)

चर्यानाम—श्री गौडीशदेव

पूजानाम—श्री पिप्पलीशदेव

गुप्तिनाम—श्री भैरवानन्द नाथ

कीर्तिनाम—तीन थे। ये भिन्नभिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न सिद्धियों को दिखाने से प्राप्त हुए थे। प्रथम कीर्तिनाम वीरानन्दनाथ था, पर जब इंद्र से अनुगृहीत हुए तब इन्द्रानन्ददेव हुआ; फिर जब मर्कट नदी में बैठ कर समस्त मत्स्यों को कर्षित किया तो मत्स्येंद्रनाथ नाम पड़ा। यह कीर्तिनाम ही देश-विश्रुत हुआ है।

शक्ति नाम—इनकी शक्तिका नाम श्री ललितभैरवी अम्बा पापू था। चंद्रद्वीप के बारे में तरह-तरह के अटकल लगाए गए हैं। किसी के मत से वह कलकत्ते के दक्षिण में अवस्थित सुंदर वन है (क्योंकि सुन्दर वस्तुतः 'चंद्र' का ही परवर्ती रूपान्तर है) और किसी किसी के मत से नवाखाली जिले में। पागलबाबा ने मुझे बताया था कि चंद्रद्वीप कोई आसाम का पहाड़ी स्थान है जो नदी के बहाव से घिरकर

१. परमहंसास्तु कामनिषेधयन्ति स निषेधो न भवत्येवम्। कथम् ? तदुक्तं श्री मीननाथेन—

हरकोपानलेनैव भस्मीभूतः कृतः स्मरः।

अर्द्धगौरीशरीरो हि तेन तस्मै नमोऽस्तुते।

अतो महासिद्धा विपरीत्या तु त्यागमेव कुर्वन्ति। —गो० सि० सं०, पृ० ६६-६७

२. नागरसर्वस्व (पद्मश्री-विरचित) बंबई १८२१ की टिप्पणी में प० तनसुखराम शर्मा ने मीननाथ नामक एक कामशास्त्रीय आचार्य की पुस्तक स्मरदीपिका से अनेक वचन उद्धृत किए हैं।

३. लेवी (ल नेपा ल ; जि० १, पृ० १५५) ने लिखा है कि श्री नाथ महाराज जोशी साखर (सार्थ ज्ञानेश्वरी १८-१७५४) ने मीननाथ का अनुवाद मत्स्येंद्रनाथ किया है। इस पर टीका करते हुए ब्रिग्स ने (पृ० २३०) लिखा है कि बंगाल में मीननाथ मत्स्येंद्रनाथ से भिन्न माने जाते हैं। कहना व्यर्थ है कि यह बात आंशिक रूप में ही सत्य है।

द्वीप जैसा बन गया है। अब भी योगी लोग उस स्थान पर तीर्थ करने जाते हैं। चंद्रद्वीप कामरूप के आस पास ही कोई जगह होगी क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने कामरूप में साधना की थी। तंत्रालोक की टीका से भी इसी अनुमान की पुष्टि होती है। नदी के बहाव से घिरे हुए स्थान को पुराने जमाने में द्वीप कहते थे। 'नवद्वीप' नामक प्रसिद्ध विद्यापीठ-नगर इसी प्रकार के बहावों के मध्य में स्थित नौ छोटे छोटे टापुओं (द्वीपों) को मिला कर बसा था। रत्नाकरजोषमकथा नामक भोटग्रंथ से भी चंद्रद्वीप का लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी के भीतर होना पुष्ट होता है (गंगा, पुरातत्त्वांक पृ० २४४), परन्तु कौलज्ञाननिर्णय १६ वें पटल से जान पड़ता है कि चंद्रद्वीप कहीं समुद्र के आस-पास था। योगिसंप्रदायविष्कृति (पृ० २२) में चंद्रगिरि नामक स्थान को गोरक्षनाथ की जन्मभूमि कहा गया है। यह स्थान गोदावदरी गंगा के समीपवर्ती प्रदेश में बताया गया है।

मत्स्येंद्रनाथ—विषयक कथाएँ और उनका निष्कर्ष

मत्स्येंद्रनाथ-विषयक मुख्य कहानियाँ नीचे संग्रह की जा रही हैं:—

(१) कौलज्ञान निर्णय १६-२९-३६

भैरव और भैरवी चंद्रद्वीप में गए हुए थे। वहाँ भक्तिकेय उनके शिष्य रूप में पहुँचे। अज्ञान के प्राबल्य से उन्होंने महान् कुलागम शास्त्र को समुद्र में फेंक दिया। भैरवने समुद्र में जा कर मछली का पेट फाड़ कर उस शास्त्र का उद्धार किया इस कार्य से कार्तिकेय बहुत क्रुद्ध हुए। उन्होंने एक बड़ा-सा गड्ढा खोदा और छिपकर दुवारा उस शास्त्र को समुद्र में फेंक दिया। इस बार एक प्रचण्डतर शक्तिशाली मत्स्य ने उसे खा लिया। भैरवने शक्ति-तेज से एक जाल बनाया और उस मत्स्य को पकड़ना चाहा। पर वह प्रायः उतना ही शक्ति सम्पन्न था जितना स्वयं भैरव थे। हार कर भैरव को ब्राह्मण वेश त्याग करना पड़ा। उस महामत्स्य का उदर फिर से विदीर्ण करके उन्होंने कुलागम शास्त्र का उद्धार किया।

(२) बंगला में मीननाथ (मत्स्येंद्रनाथ) के उद्धार के संबंध में दो पुस्तकें प्राप्त हुई हैं। एक है फयजुल्ला का गोरक्षविजय और दूसरी श्यामादास का मीनचेतन। दोनों पुस्तकें वस्तुतः एक ही हैं। इनमें जो कहानी दी हुई है उसे श्री सुकुमार सेन के बंगलासाहित्य के इतिहास पृ० ९३७ से संक्षिप्त रूप में संग्रह किया जा रहा है:—

आद्य और आद्या ने पहले देवताओं की सृष्टि की। बाद में चार सिद्धों की उत्पत्ति हुई। पश्चात् एक कन्या भी उत्पन्न हुई, नाम रखा गया, गौरी। आद्य के आदेश से शिव ने गौरी से विवाह किया और पृथ्वी पर चले आए। चारों सिद्धों ने, जिनके नाम मीननाथ गोरक्षनाथ, हाड़िपा (जालंधरनाथ) और कानपा (कानूपा कृष्णपाद) थे, वायुमात्र के आहार से, योगाभ्यास आरंभ किया। गोरक्षनाथ मीननाथ के सेवक हुए और कानपा (कानफा) हाड़िपा (हाड़िफा) के। उधर एक दिन गौरी ने शिव के गले में मुण्डमाल देखकर उसका कारण पूछा। शिव ने बताया कि वस्तुतः वे मुण्ड गौरी के ही हैं। गौरी हैरान ! क्या कारण कि वे बराबर मरती रहती हैं और शिव कभी नहीं मरते। पूछने पर शिव ने बताया कि यह गुप्त रहस्य सब के सुनने योग्य नहीं है। चलो हम लोग क्षीर सागर में 'टंग' (= डोंगी) पर बैठ कर इस ज्ञान के विषय में वार्तालाप करें। दोनों ही क्षीर सागर में पहुँचे, इधर श्री मीननाथ मछली बन कर टंग के नीचे बैठ गए। देवी को सुनते सुनते जब नींद आ गई तब भी मीननाथ हुँकारी भरते रहे। इस आवाज से जब देवी की निद्रा टूटी, तो वे कह उठीं कि मैंने तो महाज्ञान सुना ही नहीं। शिव विचारने लगे कि यह हुँकारी किसने भरी। देखते हैं तो 'टंग' के नीचे मीननाथ हैं। उन्होंने क्रुद्ध हो कर शाप दिया कि इस एक समय महाज्ञान भूल जाओगे।

आदिगुरु शिव कैलास पर्वत पर चले गए और वहीं रहने लगे। गौरी ने उनसे बार बार आग्रह किया कि वे सिद्धों को विवाह करके वंश चलाने का आदेश दें। शिव ने कहा कि सिद्ध लोगों में काम-विकार नहीं है। गौरी ने कहा कि भला यह भी संभव है कि मनुष्य के शरीर में काम विकार हो ही नहीं, आप आज्ञा दें तो मैं परीक्षा लूँ। शिव ने आज्ञा दे दी। चारों सिद्ध चार दिशाओं में तप कर रहे थे—पूरुब में हाड़िफा, दक्षिण में कानफा, पश्चिम में गोरक्ष और उत्तर में मीननाथ। देवी को परीक्षा का अवसर देने के लिये शिव ने ध्यान बल से चारों सिद्धों का आवाहन किया। चारों उपस्थित हुए। देवी ने भुवनमोहिनी रूप धारण करके सिद्धों को अन्न परोसा। चारों ही सिद्ध उस रूप पर मुग्ध हुए। माननाथ ने मन ही मन सोचा कि यदि ऐसी सुंदरी मिले तो आनन्द केलि से रात काटूँ। देवी ने उन्हें शाप दिया कि तुम महाज्ञान भूलकर कदली देश में सोलह सौ सुंदरियों के साथ कामकौतुक में रत होगे। हाड़िफा ने ऐसी सुन्दरी का झाड़ूदार होने में भी कृतार्थ होने की अभिलाषा प्रकट की और फलस्वरूप मयनामतो रानी के घर में झाड़ूदार होने का शाप पाया। हाड़िफा के पुत्र गाभूर सिद्ध (पुस्तक में ये अचानक आते हैं) ने इस सुन्दरी को पाने के लिये हाथ पैर कटा देने पर भी जीवन को सफल माना और बदले में कामार्त सौतेली माँ से अपमान पाने का शाप मिला।^१ कानफा ने मन ही मन सोचा कि ऐसी सुन्दरी मिले तो प्राण देकर भी कृतार्थ होऊँ और इसीलिए देवी ने उन्हें शाप दिया कि तुम तुर्मान देश में डाहुका (?) होओ। पर गोरक्ष ने सोचा कि ऐसी सुन्दरी मेरा माता हो तो उसकी गोद में बैठकर स्नेह पाऊँ और दूध पीऊँ। गोरक्षनाथ परीक्षा में खरे उतरे और वर भी पाया, पर देवी ने उनकी कठोरतर परीक्षा लेने का संकल्प किया। शापानुसार सभी सिद्ध तत्तत् स्थानों में जाकर फल भोगने लगे। गोरक्षनाथ एक बार बकुल वृक्ष के नीचे बैठे समाधिस्थ हुए थे देवी ने उन्हें नानाभाव से योगभ्रष्ट करना चाहा पर वे अन्त तक खरें उतरे। वे रास्ते में नग्न हो गई, गोरक्ष ने विल्व पत्र से उनका शरीर ढंक दिया, मक्खी बनकर गोरक्ष के उदर में प्राविष्ट हो पीड़ा देने लगीं। गोरक्ष ने श्वास रुद्ध करके उन्हें बुरा तह छका दिया। अन्त में देवी राक्षसी बनकर मनुष्य बलि लेने लगीं। शिव जो के द्वारा अनुरुद्ध होकर गोरक्ष ने देवी का उद्धार किया और उनके स्थान पर एक मूर्ति प्रतिष्ठित की। प्रवाद है कि कलकत्ते में काली रूप से पूजा जाने वाली मूर्ति वही मूर्ति है। देवी ने प्रसन्न होकर सुन्दर स्त्रीरत्न पाने का वर देकर गोरक्ष को अनुगृहीत किया। देवी के वर की मान-रक्षा के लिये शिवने माया से एक कन्या उत्पन्न की जिसने गोरक्षनाथ को पति रूप में वरण किया। गोरक्ष उसके घर में जाकर छः महीने के बालक बन गये और दूध पीने के लिये मचलने लगे। कन्या बड़े फेर में पड़ी। गोरक्षनाथ ने उससे कहा कि मुझ में काम विकार तो होने से रहा पर तुम्हें हमारा कोपीन या करपटी धोकर उसका पानी पी जाओ, तुम्हें पुत्र होगा। आदेश के अनुसार कन्या ने करपटी धोकर जलपान कर लिया। जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम करपटीनाथ पड़ा।

इसके बाद गोरक्षनाथ वकुल वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हुए। उधर कानपा ठीक उनके सिर पर से उड़ते हुए आकाशमार्ग से कहीं जा रहे थे। छाया देखकर गोरक्षनाथ ने सिर ऊपर उठाया और क्रोधवश अपना खड़ाऊँ ऊपर फेंका। खड़ाऊँ ने कानपा को पकड़ कर नीचे किया। गोरक्षनाथ के सिर पर से उड़ने के अविचार का फल उन्हें हाथोंहाथ मिला। पर कानपा ने व्यंग्य करते हुए कहा कि बड़े सिद्ध बने हो, कुछ गुरु का भी पता है कि वे कहाँ हैं। कदलीदेश में महाज्ञान भूलकर स्त्रियों के साथ वे बिहार कर रहे हैं। उनकी शक्ति समाप्त हो गई। यमराज के कार्यालय में देख कर आ रहा हूँ कि उनकी आयु के तीन ही दिन बाकी हैं। बड़े सिद्ध हो तो जाओ, गुरु को बचाओ। गोरक्षनाथ ने कहा—मुझे तो समझा रहे हो। कुछ अपने गुरु की भी खबर है तुम्हें? मेहरकुल की महाज्ञानशीलारानी मयनामतो के पुत्र गोपीचंद ने उन्हें मिट्टी में गड़वा रखा है इस प्रकार अपने-अपने गुरु की बात जानकर दोनों सिद्ध उनके उद्धार के लिये अग्रसर हुए। पहले तो गोरक्षनाथ ने यमराज के कार्यालय में जाकर गुरु की आयुक्षीणता को ही मिटा दिया फिर उसी मौलसिरी के नीचे लौट आए और लंग और महालंग नामक दो शिष्यों को लेकर गुरु के उद्धार के लिए कदली वन में प्रविष्ट हुए। वेश उन्होंने ब्राह्मण का बनाया। ब्राह्मण देखकर लोग उन्हें प्रणाम करने लगे, गोरक्षनाथ को भी आशीर्वाद देना पड़ा। पर यह आशीर्वाद पत्राधारी ब्राह्मण का तो था नहीं। सिद्ध गोरक्षनाथ के मुँह से निकला था। फल यह होने लगा कि सब पापी-तापी दुःख मुक्त होने लगे। गोरक्षनाथ ने इस वेश को ठीक नहीं समझा। उन्होंने योगी का वेश धारण किया। कदली देश के एक सरोवर के तट पर वकुल वृक्ष के नीचे समासीन हुए। उस सरोवर से एक कदली नारी आई थी। वह गोरक्षनाथ को देख कर मुग्ध हो गई। उसी से गोरक्षनाथ को पता लगा कि उनके गुरु मीननाथ सोलह सौ सेविकाओं द्वारा परिवृता मंगला और कमला नामक पटरानियों के साथ बिहार कर रहे हैं। वहाँ योगी का जाना निषिद्ध है। जाने पर उनका प्राणदण्ड होगा। केवल नर्तकियाँ ही मीननाथ का दर्शन पा सकती हैं। गुरु के उद्धार के लिए गोरक्षनाथ ने नर्तकी का रूप धारण किया पर द्वारी के मुख से इस अपूर्व सुन्दरी की रूप संपत्ति की बात सुन कर रानियों ने मीननाथ के सामने उसे नहीं आने दिया। अन्त में गोरक्षनाथ ने द्वार से ही मर्दल की ध्वनि की। आवाज सुन कर मीननाथ ने नर्तकी को बुलाया। मर्दल ध्वनि के साथ गोरक्षनाथ ने गुरु को पूर्ववर्ती बातों का स्मरण कराया और महाज्ञानका उपदेश दिया। सुनकर मीननाथ को चैतन्य हुआ। रानियों ने बिंदुनाथ पुत्र को लेकर क्रंदन करके मीननाथ को विचलित करना चाहा पर गोरक्षनाथ ने बिंदुनाथ को मृत बनाकर और बाद में जीवित करके फिर उन्हें तत्वज्ञान दिया। कदली नारियों ने भी गोरक्षनाथ का प्राण लेने का षड्यंत्र किया। सो गोरक्षनाथ ने उन्हें शाप दिया वे चमगादड़ हो गईं। फिर गुरु और बिंदुनाथ को लेकर गोरक्षनाथ अपने स्थान विजय नगर में लौटे।

(३) लेवी ने ल ने पा ल जि० १ पृ० ३४७-३५५ में नेपाल में प्रचलित दो कहानियों का संग्रह किया है। ग्रियर्सन ने इ० २० ए० में और बागची ने कौल ज्ञा-

न निर्णय की भूमिका में इन कहानियों का सार दिया है। यो० सं० आ० में भी यह कहानी कुछ परिवर्तित रूप में पाई जाती है। नीचे इन तीनों कहानियों का संप्रह किया जा रहा है : -

(क) नेपाल में प्रचलित बौद्धकथा

बौद्ध कथा में मत्स्येंद्रनाथ को अवलोकितेश्वर समझा गया है। मत्स्येंद्रनाथ एक पर्वत पर रहते थे जिस पर चढ़ना कठिन था। गोरक्षनाथ उनके दर्शन के लिये गये हुए थे पर पर्वत पर चढ़ना दुष्कर समझकर उन्होंने एक चाल चली। नौ नागों को बाँधकर वे बैठ गये जिसका परिणाम यह हुआ कि नेपाल में बारह वर्ष तक वर्षा नहीं हुई। राजा नरेंद्रदेव के गुरु बुद्धदत्त कारण समझ गये और अवलोकितेश्वर को ले आने का संकल्प करके कपोतक पर्वत पर गये। उनकी सेवा से प्रसन्न होकर अवलोकितेश्वर ने उन्हें एक मंत्र दिया और कहा कि इसके जप से वे आकृष्ट होकर जपकर्ता के पास आ जायेंगे। घर लौट कर बुद्धदत्त ने मंत्र जप का अनुष्ठान किया। मंत्र शक्ति से आकृष्ट होकर अवलोकितेश्वर भृंग बन कर कमण्डलु में प्रविष्ट हुए। उस समय राजा नरेंद्र देव सो रहा था। बुद्धदत्त ने लात मारकर उसे जगाया और इशारा किया कि कमण्डलु का मुख बन्द कर दे। वैसा करने पर अवलोकितेश्वर नेपाल में ही बँधे रह गये और नेपाल में प्रचुर वर्षा हुई। तभी से बुगम नामक स्थान में आज भी मत्स्येंद्रनाथ की यात्रा होती है।^१

(ख) बुद्ध पुराण नामक ग्रंथ में ब्राह्मणों में प्रचलित कहानी है। महादेव ने एक बार पुत्राभिलाषिणी किसी स्त्री को खाने के लिये भभूत दी। अविश्वास होने के कारण उस स्त्री ने उसे गोबर में फेंक दिया। बारह वर्ष बाद जब वे उस तरफ लौटे तो उस स्त्री से बालक के बारे में पूछा। स्त्री ने कहा कि उसने उस भभूत को गोबर में फेंक दिया था। गोबर में देखा गया तो बारह वर्ष का दिव्य बालक खेलता हुआ पाया गया। महादेव ही मत्स्येंद्र थे और बालक गोरक्षनाथ। मत्स्येंद्रनाथ ने उसे शिष्य रूप में साथ रख लिया। एक बार गोरक्षनाथ नेपाल गए पर वहाँ लोगों ने उनका उचित सम्मान नहीं किया फलतः रुष्ट होकर गोरक्षनाथ बादलों को बाँध कर बैठ गए और नेपाल में बारह वर्ष का घोर अकाल पड़ा। नेपाल के सौभाग्य से मत्स्येंद्रनाथ धर से पधारे और गुरु को समागत देखकर गोरक्षनाथ को अभ्युत्थान आदि से उनका सम्मान करना पड़ा। उठते ही बादल छूट गए और प्रचुर वर्षा हुई इसीलिये मत्स्येंद्रनाथ के उस उपकार की स्मृतिरक्षा के लिये उत्सव यात्रा प्रवर्तित हुई।

(३) यो गि सं प्र दा या वि ष्कृ ति में कहानी का प्रथम भाग (अध्याय ३ में) कुछ अन्तर के साथ दिया हुआ है। पुत्र लाभ की कामना करने वाली सरस्वती नामक ब्राह्मणी ने जो गोदावरी गंगा के समोपवर्ती चंद्रगिरि नामक स्थान के ब्राह्मण सुराज की पत्नी थी भभूत को फेंक नहीं दिया था बल्कि खा गई थी और उसी के गर्भ

१. और भी देखिये : डी० राइट : हि स्ट री ऑ फ ने पा ल : कैम्ब्रिज, १८७७ पृ० १४० और आगे।

में गोरक्षनाथ आविर्भूत हुए थे । कहानी का दूसरा भाग भी परिवर्तित रूप में पाया जाता है (अध्याय ४९) । इस ग्रंथ के अनुसार नेपाल में एक मत्स्येन्द्री जाति थी जिस पर तत्कालीन राजा और राजपुरुष लोग अत्याचार कर रहे थे । यह जाति गोरक्षनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की पूजा करती थी । उनकी कहुण कहानी सुनकर ही गोरक्षनाथ ने नेपाल के राजा को दंड देने के लिये तीन वर्ष तक अकाल उत्पन्न कर दिया था । राजा के गलती स्वीकार करने और मत्स्येन्द्रियों पर अत्याचार न करने का आश्वासन देने के बाद गुरु गोरक्ष ने कृपा की और प्रचुर वर्षा हुई । राजा ने मत्स्येन्द्रनाथ के सम्मान में शानदार यात्रा प्रवर्तित की, पर असल में वह दिखावा भर था । अपने पुराने दुष्कृत्यों को वह दुहराता ही रहा । लाचार हो कर गुरु गोरक्षनाथ ने वसन्त नामक अपने अकिंचन शिष्य को मिट्टी के पुतले बनाने का आदेश दिया । गुरु की कृपा से ये पुतले सैनिक बन गए । इन्हीं को लेकर वसन्त ने महीन्द्रदेव पर चढ़ाई की । बाद में पराजित महीन्द्रदेव ने वसन्त को राज्य का उत्तराधिकारी स्वीकार किया और इस प्रकार सं० ४२० में गोरखा राज्य प्रतिष्ठित हुआ ।

(४) योगि संप्रदाया विष्कृति में मत्स्येन्द्रनाथ संबंधी कथाएं

नारद जी से पार्वती को यह रहस्य मालूम हुआ कि शिव जी ने गले में जो मुण्डमाल धारण किया है, वह उनके ही पूर्व जन्मों के कपाल हैं ; अमरकथा न जानने के कारण ही वे मरती रहती हैं और उसके जानने के कारण ही शिव अमर बने हुए हैं । पार्वती के अत्यन्त आग्रह पर शिव जी ने अमरकथा सुनाने के लिये समुद्र में निर्जन स्थान चुना । इधर कविनारायण मत्स्येन्द्रनाथ के रूप में एक भृगुवंशीय ब्राह्मण के घर अवतरित हुए थे । पर गंडान्त योग में पैदा होने के कारण उस ब्राह्मण ने उन्हें समुद्र में फेंक दिया था । एक मछली बारह वर्ष तक उन्हें निगले रही और वे उसके पेट में ही बढ़ते रहे । पार्वती को सुनाई जाने वाली अमरकथा को मछली के पेट से इस बालक ने सुना और बाद में शिवजी द्वारा अनुगृहीत और उद्धृत होकर महासिद्धि हुआ (अध्याय २) । इस बालक ने (मत्स्येन्द्र ने) अपनी अपूर्व सिद्धि के बल से इनुमान, वीरवैताल, वीरभद्र, भद्रकाली, वीरभद्र और चमुण्डा देवी को पराजित किया (अध्याय ५-१०) परन्तु दो बार ये गृहस्थी के चक्र में फंस गए । प्रथम बार तो प्रयागराज के राजा के मरने से शोकाकुल जनसमूह को देखकर गोरक्षनाथ ने ही उनसे राजा के मृत शरीर में प्रवेश करके लोगों को सुखी करने का अनुरोध किया और मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने मृत शरीर की बारह वर्ष तक रक्षा करने की अवधि दे कर राजा के शरीर में प्रवेश किया । बारह वर्ष तक वे सानंद, गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते रहे । किसी प्रकार रानियों को रहस्य मालूम हो गया और उन्होंने मत्स्येन्द्रनाथ के मृत शरीर को नष्ट कर देना चाहा । पर वीरभद्र उस शरीर को ले गए और वह नष्ट होने से बच गया । अपने पुराने बैर के कारण वीरभद्र उस शरीर को लौटाना नहीं चाहते थे, परन्तु गोरक्षनाथ की अद्भुत शक्ति के सामने उन्हें झुकना पड़ा और मत्स्येन्द्रनाथ को फिर अपना शरीर प्राप्त हुआ । इसी समय मत्स्येन्द्रनाथ के माणिकनाथ नामक पुत्र उत्पन्न हुए

जो बाद में चल कर बहुत बड़े सिद्ध योगी हुए। एक दूसरी बार त्रियादेश (अर्थात् सिंहल देश) की रानी ने अपने रुग्ण-क्षीण पति से असन्तुष्ट हो कर अन्य योग्य पुरुष की कामना करती हुई हनुमान जी की कृपा प्राप्त की। हनुमान जी ने स्वयं गृहस्थों के बंधन में बंधना अस्वीकार किया, पर मत्स्येन्द्रनाथ को ले आ दिया। रानियों ने राज्य में योगियों का आना निषेध कर दिया था। गोरक्षनाथ गुरु का उद्धार करने आए तो हनुमान जी ने बाधा दी। व्यर्थ का झगड़ा मोल न ले कर गोरक्षनाथ ने बालक-वेश बना राज्य में प्रवेश किया। उसी समय कलिंगा नामक अपूर्व नृत्य-चतुरा वेश्या मत्स्येन्द्रनाथ के अन्तःपुर में नाचने जा रही थी। गोरक्षनाथ ने साथ चञ्चना चाहा और स्त्री-वेश, वनाने और तबला बजाने में अपनी निपुणता का परिचय देकर उसे साथ ले चलने को राजी किया। रात को अन्तःपुर में कलिंगा का मनोहर नृत्य हुआ और मत्स्येन्द्रनाथ मुग्ध हो रहे। गोरक्षनाथ ने मंत्र-बल से तबलची के पेट में पीड़ा उत्पन्न कर दी और इस प्रकार कलिंगा ने निरुपाय होकर उनसे तबला बजाने का अनुरोध किया। अवसर देख कर गोरक्षनाथ ने तबले पर 'जागो गोरखनाथ आ गया' की ध्वनि की और गुरु को चैतन्य-लाभ कराया। रानी ने बहुत प्रकार से गोरक्षनाथ को बश करना चाहा और मत्स्येन्द्रनाथ भी वह सुख छोड़कर अन्यत्र जाने में बहुत पशोपेश करते रहे पर अन्त तक गोरक्षनाथ उन्हें क्षणभंगुर विषय-सुख से विरक्त करने में सफल हुए। इसी समय मत्स्येन्द्रनाथ के दो पुत्र हुए थे—परशुराम और मीनराम, जो आगे चलकर बड़े सिद्ध हुए (अध्याय २३) यह कथा सुधाकर चन्द्रिका (पृ० २४०) में संक्षिप्त रूप में दी हुई है। इसके अनुसार गोरखनाथ ने तबले से यह ध्वनि निकाली थी—'जाग मछन्दर गोरख आया ।'

(५) नाथचरित्र की कथा

पं० विश्वेश्वर नाथ जी रेड ने सरदार म्यूजियम, जोधपुर से सन् १९३७ ई० में नाथचरित्र, नाथपुराण और मेघमाला नामक पुस्तकों से और उनके आधार पर बने हुए चित्रों से नाथ-परंपरा की कुछ कथाएँ संगृहीत की हैं। नाथचरित्र नामक ग्रन्थ आज से लगभग सौ-सवासौ वर्ष पहले महाराजा मान सिंह जी के समय में संप्रद किया गया था, जो किसी कारण-वश पूरा नहीं हो सका। इस पुस्तक पर महाराजा मानसिंह की एक संस्कृत टीका भी प्राप्त हुई है। प्रथम दो पुस्तकें मारवाड़ी भाषा में हैं और अन्तिम (मेघमाला) संस्कृत में। इस संप्रद से मत्स्येन्द्रनाथ संबंधी दो कथाएँ उद्धृत की जा रही हैं।

(१) एक बार मत्स्येन्द्रनाथ संसारपर्यटन को निकले। मार्ग में जिस समय वह एक नगर में पहुँचे, उस समय वहाँ के राजा का स्वर्गवास हो गया और उसके नौकर उसके शरीर को वैकुण्ठी में रखकर जलाने को ले चले। इस पर मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने शरीर की रक्षा का भार अपने साथ के शिष्यों को सौंप कर 'परकाय-प्रवेश' विद्या के बल से उस राजा के शरीर में प्रवेश किया। इससे वह राजा जी उठा और उसके साथ वाले सब हर्ष मनाने लगे। इस प्रकार राज-शरीर में रहकर मत्स्येन्द्रनाथ ने बहुत समय तक भोग-विलास का आनन्द लिया। इसी बीच एक पक्ष के अवसर

पर दरद्वार में योगी लोग इकट्ठे हुए। वहाँ पर मत्स्येन्द्र के शिष्य गोरक्षनाथ और कनीपाव के बीच विवाद हो गया और कनीपाव ने गोरक्ष को उनके गुरु मत्स्येन्द्र-नाथ के भोग विलास में फँसे रहने का ताना दिया। यह सुन गोरक्ष राजा के शरीर में स्थित मत्स्येन्द्रनाथ के पास गए और उन्हें समझा कर वहाँ से चलने को तैयार किया। यह हाल जान रानी परिमला, जो विमलादेवी का अवतार थी, बहुत चिन्तित हुई। इसपर मत्स्येन्द्र ने रानी से फिर मिलने की प्रतिज्ञा की। अन्त में मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के जाने पर रानी ने अग्नि-प्रवेश कर वह शरीर त्याग दिया और कुछ काल बाद एक राजा के यहाँ जयन्ती नामक कन्या के रूप में जन्म लिया। उसके बड़े होने पर पूर्व प्रतिज्ञानुसार मत्स्येन्द्र वहाँ पहुँचे और उससे विवाह कर कदलीवन में उसके साथ विहार करने लगे। देवताओं और सिद्धों ने वहाँ जाकर उनकी स्तुति की और नाथ जी ने पहुँच कर मत्स्येन्द्र और जयन्ती को आशीर्वाद दिया।

(२) एक बार मत्स्येन्द्रनाथ कामरूप देश में जाकर तप करने लगे। परन्तु जब वहाँ का राजा मर गया, तब उन्होंने मृत राजा के शरीर में प्रवेश कर उसकी मंगला नामक रानी के साथ विहार किया। इसी प्रकार उन्होंने उस राजा की अन्य रानियों के साथ भी आनन्दोपभोग किया। इससे उनके दो पुत्र उत्तराक्ष और कुल्लुआदि रानियों ने मत्स्येन्द्र को पहचान लिया अन्त में गोरक्षनाथ वहाँ आ पहुँचे और अपने गुरु मत्स्येन्द्र और उनके दोनों पुत्रों को लेकर वहाँ से चल दिए। परन्तु बहुत काल तक भोगासक्त रहने के कारण मत्स्येन्द्र का मन अभी तक सुवर्ण और रत्नादि में फँसा हुआ था। यह देख गोरक्ष ने मार्ग के एक पर्वत-शिखर को अपनी सुराही के जल का छीटा देकर सुवर्ण का बना दिया। अपने शिष्य की इस सिद्धि को देख मत्स्येन्द्र ने अपने गले के आभूषण वगैरह तोड़ कर फेंक दिए। इसके बाद गोरक्षनाथ ने सुवर्ण को कलह का मूल समझा, सुराही के जल से सुवर्ण-शिखर को स्फटिक का बना दिया। परन्तु इससे भी उसको सन्तोष न हुआ। इसलिये उसने तीसरी बार सुराही का जल लेकर, उसे गेरू (गैरिक) का बना दिया।

आगे पहुँचने पर मत्स्येन्द्र ने अपने दोनों पुत्रों को पास के एक नगर में भिक्षा माँग लाने के लिये भेजा। उनमें से एक तो पवित्र भिक्षा न मिलने से खाली हाथ लौट आया, और दूसरा एक चमार के दिग्गज भोज्य पदार्थों को ले आया। यह देख मत्स्येन्द्र ने पहले पुत्र को पार्श्वनाथ होने का वर दिया और दूसरे को श्वेताम्बरी जैन होने का शाप दिया। इसके बाद वे सब कदलीवन को गए, और वहाँ पर मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के बीच अनेक विषयों पर वार्तालाप होता रहा।

६. निष्कर्ष

गोरक्षनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ विषयक समस्त कहानियों के अनुशीलन से कई बातें स्पष्ट रूप से जानी जा सकती हैं। प्रथम यह कि मत्स्येन्द्रनाथ और जालंधरनाथ समसामयिक थे दूसरी यह कि मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ के गुरु

थे और जालंधरनाथ कानुपा या कृष्णपाद के गुरु थे। तीसरी यह कि मत्स्येंद्रनाथ कभी योग मार्ग के प्रवर्तक थे फिर सयोगवश एक ऐसे आचार में सम्मिलित हो गए थे जिसमें स्त्रियों के साथ अबाध संसर्ग मुख्य बात थी—संभवतः यह वामाचारी साधना थी। चौथी यह कि शुरू से ही जालंधरनाथ और कानुपा की साधना-पद्धति मत्स्येंद्रनाथ और गोरक्षनाथ की साधना-पद्धति से भिन्न थी। यह स्पष्ट है कि किसी एक का समय भी मालूम हो जाय तो बाकी कई सिद्धों के समय का पाता आसानी से लग जायगा। समय मालूम करने के लिये कई युक्तियाँ दी जा सकती हैं। एक एक कर के हम उन पर विचार करें।

(१) सबसे प्रथम तो मत्स्येंद्रनाथ द्वारा लिखित की लज्जा निर्णय ग्रंथ का लिपि-काल निश्चित रूप से सिद्ध कर देता है कि मत्स्येंद्रनाथ ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्ववर्ती हैं।

(२) हमने ऊपर देखा है कि सुप्रसिद्ध काश्मीरी आचार्य अभिनव गुप्त ने अपने तन्त्रालोक में मच्छन्द विभु को नमस्कार किया है। ये 'मच्छन्द विभु' मत्स्येंद्रनाथ ही हैं, यह भी निश्चित है। अभिनवगुप्त का समय निश्चित रूप से ज्ञात है। उन्होंने ई. स. १०११ ई० में लिखी थी और क्रमस्तोत्र की रचना सन् ९९१ ई० में की थी। इस प्रकार अभिनवगुप्त सन् ईसवी की दसवीं शताब्दी के अन्त में और ग्यारहवीं शताब्दी के आदि में वर्तमान थे।^१ मत्स्येंद्रनाथ इससे पूर्व ही आविर्भूत हुए होंगे।

(३) पंडित राहुल सांकृत्यायन ने गंगा के पुरातत्त्वों के ८४ वज्रयानी सिद्धों की सूची प्रकाशित कराई है। इसके देखने से मालूम होता है कि मीनपा नामक सिद्ध जिन्हें तिब्बती परंपरा में मत्स्येंद्रनाथ का पिता कहा गया है, पर जो वस्तुतः मत्स्येंद्रनाथ से अभिन्न हैं, राजा देवपाल के राज्य-काल में हुए थे। राजा देवपाल ८०९-४९ ई० तक राज्य करते रहे (चतुराशीति सिद्धप्रवृत्ति, तन्त्रजूर ८६।१। कॉडियर पृ० २४७) इससे यह सिद्ध होता है कि मत्स्येंद्रनाथ नवीं शताब्दी के मध्य भाग में और अधिक से अधिक अन्त्य भाग तक वर्तमान थे।

(४) गोविन्दचंद्र या गोरोचंद्र का संघ जालंधरपाद से बनाया जाता है। वे कानफा के शिष्य होने से जालंधरपाद की तीसरी पुस्त में पढ़ने हैं। इधर तिरुमलय की शैललिपि से यह तथ्य उद्धार किया जा सका है कि दक्षिण के राजा राजेंद्रचोल ने माणिकचंद्र के पुत्र गोविन्दचंद्र को पराजित किया था। बंगला में गोविन्दचंद्रेरगान नाम से जो पोथी उपलब्ध हुई है उसके अनुसार भी गोविन्दचंद्र का किसी दक्षिणस्थ राजा का युद्ध वर्णित है। राजेन्द्रचोल का समय १०६३ ई०—१११२ ई० है।^२ इस से अनुमान किया जा सकता है कि गोविन्दचंद्र ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य भाग में वर्तमान थे। यदि जालंधरपाद उनसे सौ वर्ष पूर्ववर्ती हों तो

१. पुस्त. के. दे; संस्कृत पोष्टिकसः जिन्द १, पृ० १०५

२. दीनेशचंद्र सेन : बंगभाषा ओ साहित्य ।

भी उनका समय दसवीं शताब्दी के मध्य भाग में निश्चित होता है। मत्स्येन्द्रनाथ का समय और भी पहले निश्चित हो चुका है। जालंधरपाद उनके समसामयिक थे इस प्रकार उनकी कष्ट-कल्पना के बाद भी इस बात से पूर्ववर्ती प्रमाणों की अच्छी सहायता नहीं बैठती।

(५) वज्रयानी सिद्ध कण्डपा ने स्वयं अपने गानों में जालंधरपाद का नाम लिया है। तिब्बती परंपरा के अनुसार ये भी राजा देवपाल (८०९-८४९ ई०) के समकालीन थे^१ इस प्रकार जालंधरपाद का समय इनसे कुछ पूर्व ही ठहरता है।

(६) कन्थड़ी नामक एक सिद्ध के साथ गोरक्षनाथ का संबंध बताया जाता है। प्रबंधचिन्तामणि में एक कथा आती है कि चौलुक्य राजा मूलराज ने एक मूलेश्वर नाम का शिवमंदिर बनवाया था। सोमनाथ ने राजा के नित्य नियत बदन-पूजन से सन्तुष्ट होकर अणहिलपुर में अवतीर्ण होने की इच्छा प्रकट की। फल-स्वरूप राजाने वहाँ त्रिपुरुषासाद नामक मंदिर बनवाया। उसका प्रबंधक होने के लिये राजा ने कन्थड़ी नामक शैवसिद्ध से प्रार्थना की। जिस समय राजा उस सिद्ध से मिलने गया उस समय सिद्ध को बुखार था, पर अपने बुखार को उसने कथा में संक्रमित कर दिया। कथा कांपने लगी। राजा ने कारण पूछा तो उसने बताया कि उसी ने कथा में उबर सक्रमित कर दिया है। थड़े छल-बल से उस निस्पृह तपस्वी को राजा ने मंदिर का प्रबंधक बनवाया।^२ कहानी के सिद्ध के सभी लक्षण नाथपंथी योगी हैं। इस लिये यह कन्थड़ी निरचय ही गोरक्षनाथ के शिष्य ही होंगे। प्रबंधचिन्तामणि की सभी प्रतियों में लिखा है कि मूलराज ने संवत् ९९३ की आषाढ़ी पूर्णिमा को राज्य-भार ग्रहण किया था। केवल एक प्रति में ९९८ संवत् हैं^३। इस हिसाब से जो काल अनुमान किया जा सकता है, वह पूर्ववर्ती प्रमाणों से निर्धारित तिथि के अनुकूल ही है। ये ही गोरक्षनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ का काल निर्णय करने के ऐतिहासिक या अर्द्ध-ऐतिहासिक आधार हैं। परन्तु प्रायः दन्तकथाओं और साम्प्रदायिक परंपराओं के आधार पर भी काल-निर्णय का प्रयत्न किया जाता है। इन दन्तकथाओं से सम्बद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों का काल बहुत समय जाना हुआ रहता है। बहुत से ऐतिहासिक व्यक्ति गोरक्षनाथ के साक्षात् शिष्य माने जाते हैं। उनके समय की सहायता से भी गोरक्षनाथ के समय का अनुमान किया जा सकता है। ब्रिग्स ने इन दन्तकथाओं पर आधारित काल को चार मोटे विभागों में इस प्रकार बांट लिया है:—

१. (१) कबीर, नानक आदि के साथ गोरक्षनाथ का संवाद हुआ था, इस पर दन्तकथाएँ भी हैं और पुस्तकें भी लिखी गई हैं। यदि इन पर से गोरक्षनाथ का काल-निर्णय किया जाय, जैसा की बहुत से पंडितों ने किया भी है, तो चौदहवीं शताब्दी के ईषत् पूर्व या मध्य में होगा। (२) गुणा की कहानी, पश्चिमी नाथों की अनु-

१. गंगापुरातर्वांक : पृ० २२४

२. प्र. वि. पृ० १२-१३

३. वही. पृ० २०

श्रुतियाँ, बंगाल की शैवपरम्परा और धर्मपूजा का संप्रदाय दक्षिण के पुरातत्त्व के प्रमाण, ज्ञानेश्वर की परंपरा आदि को प्रमाण माना जाय तो यह काल १०० ई० के चरम ही जाता है। तेरहवीं शताब्दी में गोरखपुर का मठ ढहा दिया गया था, इसका ऐतिहासिक सबूत है। इसलिये निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गोरक्षनाथ १२०० ई० के पहले हुए थे। इसकाल के कम से कम एक सौ वर्ष पहले तो यह काल होना ही चाहिए (३) नेपाल के शैव-बौद्ध परंपरा के नरेन्द्रदेव, उदयपुर के बापरा रावल, उत्तर-पश्चिम के रसालू और होदो, नेपाल के पूर्व में शंकराचार्य से भेट आदि पर आधारित काल ८ वीं शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक के काल का निर्देश करते हैं। (४) कुछ परंपराएँ इससे भी पूर्ववर्ती तिथि की ओर संकेत करती हैं। त्रिगस दूसरे नंबर के प्रमाणों पर आधारित काल को उचित काल समझते हैं, पर साथ ही यह स्वीकार करते हैं कि यह अन्तिम निर्णय नहीं है। जब तक और कोई प्रमाण नहीं मिल जाता तब तक वे गोरक्षनाथ के विषय में इतना ही कह सकते हैं कि गोरक्षनाथ १२०० ई० से पूर्व, संभवतः ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ में, पूर्वी बंगाल में प्रादुर्भूत हुए थे^१। परन्तु सब मिलाकर वे निश्चित रूप से जोग देकर कुछ नहीं कहते और जो काल बताते हैं उसे क्यों अन्य प्रमाणों से अधिक युक्तिसंगत माना जाय, यह भी नहीं बताते। हम आगे 'संप्रदाय भेद'-नामक अध्याय में तिथि की इस बहु-रूपता के कारण का अनुसंधान करेंगे।

हमें ऊपर के प्रमाणों के आधार पर नाथमार्ग के आदि प्रवर्तकों का समय नवीं शताब्दी का मध्य-भाग ही उचित जान पड़ता है। इस मार्ग में इस के पूर्ववर्ती सिद्ध भी बाद में चल कर अन्तर्भुक्त हुए हैं और इसलिये गोरक्षनाथ के संबंध में ऐसी दर्जनों दन्तकथाएँ चल पड़ी हैं, जिनको ऐतिहासिक मध्य मान लेने पर तिथि-संबंधी झमेला खड़ा हो जाता है। आगे हम इसकी युक्तिसंगत संगति बैठा सकेंगे।

मत्स्येन्द्रनाथ जी जिस कदली देश या ख्रीदेश में नये आचार में जा फंसे थे; वह कहाँ है? मीनचेतन और गोरक्ष विजय में उसका नाम कदली देश बताया गया है और योगिसंप्रदायविवेकति में 'त्रियादेश' अर्थात् सिंहल द्वीप कहा गया है। सिंहल देश प्रथमकार की व्याख्या है। भारतवर्ष में ख्रीदेश नामक एक ख्रीप्रधान देश की ख्याति बहुत पुराने जमाने से है। नाना स्थानों के रूप में इसे पहचानने की कोशिश की गई है। हिमालय के पार्वत्य अञ्चल में ब्रह्मपुर के उत्तरी प्रदेश को जो वर्तमान गढ़वाल और कामायूँ के अन्तर्गत पड़ता है, पुराना खोराज्य बताया गया है। सातवीं शताब्दी में इसे 'सुर्वण गोत्र' कहते थे (विक्रमांकचरित १८-४७; गरुडपुराण ५५ अ०)। कहते हैं इस देश की रानी प्रमीला ने अर्जुन के साथ युद्ध किया था^२ (जैमिनिभारत अ० २२)। कभी कभी कुलून देश (कुल्लू) को भी ख्रीदेश कहा गया है। ह्रण्तसंग ने सतलज के उद्गम-स्थान के पास किसी खो-राज्य का संधान पाया था। आर्टकिन्सन के हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स, से भी यह तथ्य प्रमा-

१ त्रिगस, पृ० २४३ ४

२. मंदलाल दे: जिओग्राफिकल डिक्शनरी, पृ० १६४

णित हुआ है। किसी किसी पंडित ने कामरूप को ही स्त्रीदेश कहा है। शीरग ने व स्त न टि बे ट नामक पुस्तक में (पृ० ३३८) तिब्बत के पूर्वी छोर पर बसे किसी स्त्रीराज्य का जिक्र किया है, जहाँ को जनता बराबर किसी स्त्री को ही अपनी शसिका चुनती है।^१ यह लक्ष्य करने की बात है कि गो र क्ष विजय में स्त्रीदेश न कह कर कदली देश कहा गया है। महाभारत में कदली-वन की चर्चा है (वन पर्व १४६ अ०)। कहते हैं कि इस कदली देश में अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान्, धिभीषण, कृपाचार्य, और परशुराम ये सात विराजीवी सदा निवास करते हैं। हनुमान् जी ने भीमसेन जीसे कहा था कि इस के बाद दुरारोह पर्वत है, जहाँ सिद्ध लोग ही जा सकते हैं। मनुष्य की गति वहाँ नहीं है (वनपर्व १४६, १२-१३)। प० सुधाकर द्विवेदी ने लिखा है कि देहरादून से लेकर हृषीकेश बदरिकाश्रम और उसके उत्तर के हिमालय प्रान्त सब कजरीवन (कदली वन) कहे जाते हैं।^२ पदमावत में लिखा है कि गोरीचंद जोगी हो कर कजरीवन (कदली वन) में चले गये थे।^३ इन सब बातों से प्रमाणित होता है कि यह हिमालय के पाददेश में अवस्थित कमायूँ गढ़वाल के अन्दर पड़ने वाला प्रदेश है। योगिसप्रदायाविष्कृति में जिस परम्परा का उल्लेख है उसमें भी हनुमान नाम आता है। हनुमान जी कदलीवन में ही रहते हैं, इसलिये इसी कदलीवन को वहाँ गलती से सिंहलद्वीप समझ लिया गया है। परन्तु त्रियादेश कह कर संदेह का अवकाश नहीं रहने दिया गया है। एक और विचार यह है कि स्त्रीदेश कामरूप ही है। कामसूत्र की जयमंगला टीका में लिखा है कि बज्रावतंस देश के पश्चिम में स्त्रीराज्य है। प० तनसुखराम ने नागरसर्वस्व नामक बौद्ध कामशास्त्रीय ग्रंथ की टिप्पणी में लिखा है कि यह स्थान भूतस्थान अर्थात् भोटान के पास कहीं है।^४ इस पर से भी यह अनुमान पुष्ट होता है कि कदलीदेश असाम के उत्तरी इलाके में है। तंत्रालोक की टीका और कोलज्ञाननिर्णय से यह स्पष्ट है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने कामरूप में ही कौल साधना की थी। इसलिये कदलीवन या स्त्रीदेश से वस्तुतः कामरूप ही उद्दिष्ट है। कुल्लुत, सुवर्ण गोत्र, भूतस्थान, कामरूप में भिन्न भिन्न ग्रंथकारों के स्त्रीराज्य का पता बताना यह साबित करता है कि किसी समय हिमालय के पार्वत्य अंचल में पश्चिम से पूर्व तक एक विशाल प्रदेश ऐसा था जहाँ स्त्रियों की प्रधानता थी। अब भी यह बात उत्तर भारत की तुलना में, बहुत दूर तक ठीक है।

इन सारे वक्तव्यों का निष्कर्ष यह है कि मत्स्येन्द्रनाथ चंद्रगिरि नामक स्थान में पैदा हुए थे जो कामरूप से बहुत दूर नहीं था और या तो बंगाल के समुद्री किनारे पर कहीं

१. जिओग्राफिकल डिक्शनरी पृ० १६४.

२. सु. च, पृ० २५२-३

३. जड भल होत राज अड भोगू। गोपीचंद नहिं साधत जोगू॥

उहड भितरि जड देख परेवा। तजा राज कजरी बन सेवा ॥

४. नागरसर्वस्व, पृ० ६७

था, या जैसा कि तिब्बती परम्परा से स्पष्ट है, ब्रह्मपुत्र से बिरे हुए किसी द्वीपाकार भूमि पर अवस्थित था। इतना निश्चित है कि वह स्थान पूर्वी भारतवर्ष में कामरूप के पास कहीं था। इनका प्रादुर्भाव नवीं शताब्दी में किसी समय हुआ था। शुरू शुरू में वह एक प्रकार की साधना का व्रत ले चुके थे, परन्तु बाद में किसी ऐसे आचार में जा फँसे थे जिसमें स्त्रियों का साहचर्य प्रधान था और यह आবার ब्रह्मचर्यमय जीवन का परिपन्थी था। वे जिस स्थान में इस प्रकार के नये आचार में व्रतो हुए थे वह स्थान स्त्रीदेश या कदलीदेश था जो कामरूप ही हो सकता है। इस मायाजाल से उनका उद्धार उन्हीं के प्रधान शिष्य गोरक्षनाथ ने किया और एक बार वे फिर अपने पुराने मार्ग पर आ गए। अब विचारणीय यह है कि मत्स्येन्द्रनाथ का मत क्या था और क्या उस मत की जानकारी से हमें ऊपर की दन्तकथाओं के समझने में मदद मिलती है? आगे के अध्याय में हम इसी बात को समझने का प्रयत्न करेंगे।

मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा अवतारित कौलज्ञान

(१) कौलज्ञाननिर्णय

कौल ज्ञान निर्णय के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ कौल मार्ग के प्रथम प्रवर्तक हैं । तंत्रालोककोटीका (पृ० २४) में उन्हें सकल-कुल-शास्त्र का अवतारक कहा गया है । परन्तु कौल ज्ञान निर्णय में ही ऐसे अनेक प्रमाण हैं, जिनसे मालूम होता है कि यह कौलज्ञान एक कान से दूसरे कान तक चलता हुआ दीर्घकाल से (६-९) और परम्परा-क्रम से चला आ रहा था (१४-९) ग्रंथ में कई कौल-संप्रदायों की चर्चा भी है । चौदहवें पटल में रोमकूपादि कौल (१४-३२) वृणोत्थ कौलिक (१४-३३), वड्डिकौल (१४-३४), कौल सद्भाव (१४-३७) और पदोत्तिष्ठ कौल शब्द आये हैं । विद्वानों ने इनका संप्रदायपरक तात्पर्य बनाया है ।^१ परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि ये शब्द संप्रदायपरक न होकर 'सिद्धिपरक' हैं । यद्यपि चौदहवाँ पटल 'देव्युवाच' से शुरू होता है, पर सारा पटल देवी की उक्ति के रूप में नहीं है, बल्कि भैरव के उत्तर के रूप में है, क्योंकि इसमें देवी को संबोधन किया गया है । उत्तर देने के ढंग से लगता है कि भैरव (=शिव) ऐसे ध्यान की विधि बता रहे हैं, जिसमें मंत्र, प्राणायाम और चक्रध्यान की धरुरत नहीं होती और फिर भी वह परम सिद्धिदायक होता है ।^२ इस पटल की पुष्टिका से भी पता चलाता है कि यह ध्यान-योग मुद्रा का प्रकरण है । इसीलिये मुझे ये शब्द सिद्धिपरक जान पड़ते हैं । ये संप्रदायवाचक नहीं हैं । परन्तु सोलहवें पटल में लिखा है :—

भक्तियुक्ताः समत्वेन सर्वे शृण्वन्तु कौलिकम् ॥ ४६ ॥

महाकौलात् सिद्धकौलं सिद्धकौलात् मसादरम्(?)

चतुर्युगविभागेन अवतारं चोदितं मया । ४७ ॥

ज्ञानादौ निर्णितिः कौलं द्वितीये महत्सङ्गम् ।

तृतीये सिद्धामृतं नाम कलौ मत्स्योदरं प्रिये ॥ ४८ ॥

ये चास्मिन्निर्गता देवि वर्णयिष्यामि तेऽखिलम् ।

एतस्माद् योगिनीकौलात् नाम्ना ज्ञानस्य निर्णयौ ॥ ४९ ॥

इन श्लोकों से जान पड़ता है कि आदि युग में जो कौलज्ञान था वह द्वितीय अर्थात् त्रेता युग में 'महत्कौल' नाम से परिचित हुआ, तृतीय अर्थात् द्वापर में 'सिद्धामृत' नाम से और इस कलिकाल में 'मत्स्योदर कौल' नाम से प्रकट हुआ है । प्रसंग से ऐसा लगता

१. बागची : कौ० ज्ञा० नि०, भूमिका पृ० ३३-३४; शुद्धिपत्र में रोमकूपादि कौलिक को छोड़ देने को कहा गया है ।

२. उपाध्याय : भारतीयदर्शन, पृ० २३८

है कि ४० वें श्लोक में पंचमी विभक्ति का प्रयोग 'अनन्तर' अर्थ में हुआ है। इस श्लोक का 'मसादरम्' पद शायद 'मत्स्योदरम्' का रात रूप है और ४६ वें श्लोक के श्रृण्वन्तु क्रिया का कर्म है। संक्षेप में इन श्लोकों का अर्थ यह हुआ कि भक्तियुक्त होकर सब लोग उस तत्त्व को समानभाव से सुनें (जिसे भैरव ने अब तक सिर्फ पार्वती और पडानन आदि को ही सुनाया है) — महाकौल के बाद सिद्धकौल और सिद्धकौल के बाद मत्स्योदर का अवतार हुआ। इस प्रकार चार युगों में शिव ने चार अवतार धारण किए। प्रथम युग में उनके द्वारा निर्णीत ज्ञान का नाम था 'कौलज्ञान', द्वितीय में निर्णीत ज्ञान का नाम 'सिद्धकौल', तृतीय में निर्णीत ज्ञान का नाम 'सिद्धामृत' और चतुर्थ-युग में अवतारित ज्ञान का नाम 'मत्स्योदर' है। इनसे (=मत्स्योदर) विनिर्गत ज्ञान का नाम योगिनीकौल है।

इसी प्रकार इक्कीसवें पटल में अनेक कौल मार्गों का उल्लेख है। इन श्लोकों पर से डा० बागची अनुमान करते हैं कि मत्स्येन्द्रनाथ सिद्ध या सिद्धामृत मार्ग के अनुवर्ती थे और उन्होंने योगिनीकौल मार्ग का प्रवर्तन किया था। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि नाथपंथी लोग अपने को सिद्धमार्ग का अनुयायी कहते हैं और परवर्ती साहित्य में 'सिद्ध' शब्द का प्रयोग नाथपंथी साधुओं के लिये हुआ है। यह स्पष्ट है कि द्वापर युग का सिद्धमार्ग उस श्रेणी का नहीं था जिसे बाद में मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने कौलज्ञान के रूप में अवतारित किया। दन्तकथाओं से यह स्पष्ट है कि मत्स्येन्द्रनाथ अपना असली मत छोड़कर कदली देश की स्त्रियों की माया में फँस गए थे। ये कदली-स्त्रियाँ योगिनी थीं, यह बात गोरक्ष विजय आदि ग्रंथों से स्पष्ट है। कौल ज्ञान निर्णय से भी इस बात की पुष्टि होती है कि जिस साधनमार्गपरक शास्त्र की चर्चा इस ग्रंथ में हो रही है वह शास्त्र कामरूप की योगिनियों के घर-घर में विद्यमान था और मत्स्येन्द्रनाथ उसी कामरूपी स्त्रियों के घर से अनायास-लब्ध शास्त्र का सार संकलन कर सके थे।^१ तंत्रालोक की टीका के जो श्लोक हमने पहले उद्धृत किए हैं, उन से भी पता चलता है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने कामरूप में साधना की थी। कामरूप की योगिनियों के मायाजाल से गोरक्षनाथ ने मत्स्येन्द्रनाथ का उद्धार किया था, यह भी दन्तकथाओं से स्पष्ट है। योगिसंप्रदाय विष्कृति में एक प्रसंग इस प्रकार का भी है कि वाममार्गी लोग गोरक्षनाथ को अपने मार्ग में ले जाना चाहते थे।^२ बाद में क्या हुआ, इस विषय में उक्त ग्रंथ मौन है। परन्तु सारी बातों पर विचार करने से यह अनुमान पुष्ट होता है कि मत्स्येन्द्रनाथ पहले सिद्ध या सिद्धामृत मार्ग के अनुयायी थे, बाद में कामरूप में वाममार्गी साधना में प्रवृत्त हुए और वहाँ से कौलज्ञान अवतारित किया और इसके पश्चात् अपने प्रवीण शिष्य गोरक्षनाथ के द्वारा उद्बुद्ध होकर फिर पुराने रास्ते पर आ गए।

• ध्यान देने की बात यह है कि 'कुल' शब्द का प्रयोग भारतीय साधना-साहित्य में बहुत हुआ है, परन्तु सन् ईसवी की आठवीं शताब्दी के पहले इस प्रकार के अर्थ में

१. तस्य मध्ये इमं नाथ सारभूतं समुद्धृतं । २२/२०

कामरूपे इदं शास्त्रं योगिनीनां गृहे गृहे ॥ २२। १०।

२. यो० सं० आ०, ४६ अध्याय।

कदाचित् ही हुआ है। बौद्ध तांत्रिकों में संभवतः डोम्बी हेरुक ने ही इस शब्द का प्रयोग इससे मिलते-जुलते अर्थ में दिया है। सा ध न मा ला में एक साधना के प्रसंग में उन्होंने कहा है कि कुल-सेवा से ही सर्व-काम-प्रदायिनी शुभ सिद्धि प्राप्त होती है।^१ इस शब्द की व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया है कि पाँच ध्यानी बुद्धों से पाँच कुलों की उत्पत्ति हुई है। अक्षोभ्य से वज्र-कुल, अमिताभ से पद्म कुल, रत्नसंभव से भावरत्न-कुल, वैरोचन से चक्र-कुल और अमोघसिद्धि से कर्म-कुल उत्पन्न हुए थे।^२ प्रो० विनयतोष भट्टाचार्य ने डोम्बी हेरुक का काल सन् ७७७ ई० माना है। कौ ल ज्ञा न नि र्ण य से इस प्रकार की कुलकल्पना का कोई आभास नहीं मिलता। परन्तु इतना जरूर लगता है कि शुरू शुरू में वे सिद्ध मार्ग या सिद्ध-कौल मार्ग के उपासक थे। कौलज्ञान उनके परवर्ती, और संभवतः मध्यवर्ती जीवन का ज्ञान है।

प्रश्न यह है कि वह सिद्धपति क्या था जिसके अनुयायी मत्स्येन्द्रनाथ थे और जिसे छोड़कर उन्होंने अन्य मार्ग का अवलंबन किया था? दन्तकथाओं से अनुमान होता है कि वह मार्ग पूर्ण ब्रह्मचर्य पर आश्रित था, देवी अर्थात् शक्ति उसकी प्रतिद्वन्दिनी थी और उसमें स्त्रीसंग पूर्णरूप से वर्जित था। गोरक्षनाथ ने कामरूप से मत्स्येन्द्रनाथ का उद्धार करके उन्हें इसी मत में फिर लौटा लिया था।

कौ ल ज्ञा न नि र्ण य में निम्नलिखित विषयों का विस्तार है— सृष्टि, प्रलय, मानस लिंग का मानसोपचार से पूजन, निग्रह-अनुग्रह-क्रामण-हरण, प्रतिमाजल्पन, घट पाषाण-स्फेटन आदि सिद्धियाँ, भ्रान्तिनिरसन ज्ञान, जीवस्वरूप, जरा-मरण, पलित (केशों का पकना) का निवारण, अकुल से कुल की उत्पत्ति तथा कुल का पूतनादि गुरुपंक्ति, सिद्धरंक्ति और योगिनी पंक्ति, चक्रध्यान, अद्वैतचर्या, पात्रचर्या, न्यास-विधि शीघ्र सिद्धि देने वाली ध्यानमुद्रा, महाप्रलय के समय भैरव की आत्मरक्षा, भव्यविधान तथा कौलज्ञान का अवतारण, आत्मवाद, सिद्धपूजन और कुलद्वीप-विज्ञान, देहस्थ चक्रस्थिता देवियाँ, कपाल भेद, कौलमार्ग का विस्तार, योगिनी संचार और देहस्थ सिद्धों की पूजा।

इन विषयों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि कौलज्ञान सिद्धिपरक विद्या है और यद्यपि शास्त्र में अद्वैत भाव की चर्चा है, पर मुख्यतः यह उन अधिकारियों के लिये लिखा गया है जो कुल और अकुल—शक्ति और शिव—के भेद को भूल नहीं सके हैं। इसके विपरीत अ कु ल वी र तं त्र का अधिकारी वह है जिसे अद्वैत ज्ञान हो गया है और जो अच्छी तरह समझ चुका है कि कुल और अकुल में कोई भेद नहीं है, शक्ति और शिव अविच्छिन्नभाव से विराज रहे हैं। यद्यपि कौ ल ज्ञा न नि र्ण य हृदय स्थित

१. कुलसेवा भवेत् सिद्धिः सर्वकाम प्रदा शुभा ।

२. अक्षोभ्यवज्रमित्युक्तं अमिताभः पद्ममेव च ।

रत्नसंभवो भावरत्नः वैरोचनस्तथागतः ॥

अमोघः कर्ममित्युक्तं कुलान्वेतानि संचिपेत् ।

३. सा ध न मा ला, प्रस्तावना, पृ० ४०-४१

अनेक पद्म-चक्रों की चर्चा करता है, पर यह लक्ष्य करने की बात है कि 'कुण्डली' शब्द भी उसमें नहीं आया है। कुण्डलीयोग या कुण्डलिनीयोग परवर्ती नाथपंथियों की सर्वमान्य साधना है। फिर 'समरस' या 'सामरस्य' की भी कोई चर्चा नहीं है। केवल अकुलवीरतंत्र में ये दोनों शब्द आते हैं। वहाँ कुण्डली और सहज, ये दोनों योग कौल मार्गों में विहित हैं, ऐसा स्पष्ट लिखा है। 'कुण्डली' कृत्रिम (कृत्रिम) अर्थात् दुरुह साधना से प्राप्य योग है और 'सहज' समरस में स्थिति-वश प्राप्य योग है (अकुलवीरतंत्र, बी० ४३) कुण्डली योग में द्वैतभाव (प्रेय-प्रेरकभाव) बना रहता है और सहज में वह लुप्त हो गया होता है (४४)। कौलानिर्णय में इसी प्रेय-प्रेरक भाव के मध्यम अधिकारी के लिये चक्रध्यान की साधना विहित है, पर अकुलवीरतंत्र में उस सहज-साधना की चर्चा है जो प्रेय-प्रेरक रूप द्वैत भावना के अतीत है। इसमें ध्यान-धारणा-प्राणायाम की जरूरत नहीं, (अ० बी० तंत्र—बी० ११२), इडा-पिंगला और चक्रध्यान अनावश्यक हैं (१२३—१२५)। यह सहज समर-सानंद का प्रदाता अकुलवीरमार्ग है—कौलमार्ग की समस्त विधियाँ यहाँ अनावश्यक हैं। इस तंत्र का स्वर गोरक्षसंहिता से पूरी तरह मिलता है। क्या कौलज्ञान-निर्णय मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा प्रवर्तित योगिनीकौल का द्योतक है और अकुलवीरतंत्र उनके पूर्व परित्यक्त और बाद में स्वीकृत सिद्धमत का? दोनों को मिलाने पर यह धारणा दृढ़ ही होती है।

फिर यह भी प्रश्न होता है कि बौद्ध सहजयानी और वज्रयानी सिद्धों से इस मत का क्या संबंध था। डा० बागची ने कौलज्ञाननिर्णय की भूमिका में बताया है कि बौद्ध सिद्धों की कई बातों से कौलज्ञाननिर्णय की कई बातें मिलती हैं। (१) सहज पर जोर देना, (२) बाह्याचार का विरोध, (३) कुलक्षेत्र और पीठों की चर्चा, (४) वज्रीकरण का प्रयोग, (५) पंचपवित्र आदि बौद्ध पारिभाषिक शब्द सूचित करते हैं कि इस साधना का संबंध बौद्ध साधना से था अवश्य। इस बात में तो कोई सन्देह ही नहीं कि जिन दिनों मत्स्येन्द्रनाथ का प्रादुर्भाव हुआ था उन दिनों बौद्ध और ब्राह्मण तंत्रों में बहुत सी बातें मिलती-जुलती रही होंगी। एक दूसरे पर प्रभाव भी जरूर पड़ता रहता होगा। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि मत्स्येन्द्रनाथ तिब्बती परंपरा में भी बहुत बड़े सिद्ध माने जाते हैं और नेपाल के बौद्ध तो उन्हें अवलोकितेश्वर का अवतार ही मानते हैं। इसलिये उनकी प्रवर्तित साधना में ऐसी कोई बात जरूर रही होगी जिसे लोग विशुद्ध बौद्ध समझ सकते। ऊपर की पाँच बातें बौद्ध तंत्रों में भूरिशः आती हैं, पर ब्राह्मण तंत्रों में भी उन्हें खोज निकालना कठिन नहीं है। यह कह सकना बहुत कठिन है कि जिन तंत्रों में या उपनिषदों में ये शब्द आए हैं वे बौद्ध तंत्रों के बाद के ही हैं। कई ग्रंथ नये भी हैं और कई पुराने भी। इन विषयों की जो चर्चा हुई है वह इतनी अल्प और अपर्याप्त है कि उस पर से कुछ निश्चय पूर्वक कहना साहसमात्र है। परन्तु नाथ-परंपरा की सभी पुस्तकों के अध्ययन से ऐसा ही लगता है कि पुराना सिद्धमार्ग मुख्य रूप से योगपरक था और पंचमकारों या पंचपवित्रों की व्याख्या उसमें सदा रूपक के रूप में

ही हुआ करती थी। यह उल्लेख योग्य बात है कि कौल ज्ञान निर्णय में जो परंपरा बताई गई है वहाँ शिव (भैरव) के विभिन्न युग के कई अवतारों का उल्लेख तो है पर कहीं भी बुद्ध या बोधिसत्व अवतार का नाम नहीं है। अवलोकितेश्वर के अवतार का भी उसमें पता नहीं है। इसके विरुद्ध सहजयानी सिद्धों की पोथियों में बराबर तथागत का नाम आता है और वे अपने को शायद कहीं भी कौल नहीं कहते। मत्स्येन्द्रनाथ ने जित्त प्राचीन कौलमार्ग की चर्चा की है वह निश्चय ही शाक्तमत था, बौद्ध नहीं। अकुल बीर तंत्र में बौद्धों को स्पष्ट रूप से मिथ्यावादी और मुक्ति का अपात्र बताया गया है।^१

(२) कुल और अकुल

कुल और अकुल शब्द के अर्थ पर भी विचार कर लेना चाहिए। कौल लोगों के मत से 'कुल' का अर्थ शक्ति है और 'अकुल' का अर्थ शिव है। कुल से अकुल का संबंधस्थापन ही 'कौल' मार्ग है।^२ इसलिये कुल और अकुल को मिला कर समरस बनाना ही कौल साधना का लक्ष्य है और 'कुल' और 'अकुल' का सामरस्य (= समरस होना) ही कौल ज्ञान है। 'कुल' शब्द के और भी अनेक अर्थ किए गए हैं, परन्तु यही मुख्य अर्थ है। शिव का नाम अकुल होना उचित ही है क्योंकि उनका कोई कुल-गोत्र नहीं है, आदि अन्त नहीं है।^३ शिव की सिसृक्षा अर्थात् सृष्टि करने की इच्छा का नाम ही शक्ति है। शक्ति से समस्त पदार्थ उत्पन्न हुए हैं, शक्ति शिव की प्रिया है। परन्तु शिव और शक्ति में कोई भेद नहीं है। चन्द्रमा और चन्द्रिका का जो संबंध है वही शिव और शक्तिका संबंध है।^३ सिद्ध सिद्धान्त संग्रह के चतुर्थ उपदेश में कहा गया है कि शिव अनन्य, अखण्ड, अद्वय, अविनश्वर, धर्म-हीन और निरंग हैं, इसीलिये

१. संबादयन्ति ये केचिन्यायवैरोपिकास्तथा ।
बौद्धास्तु अरहन्ता ये सोमसिद्धा तवादिनः ॥ ७ ॥
मीमांसा पंचखेताश्च वामसिद्धान्तदक्षिणाः ।
इतिहासपुराणां च भूततत्त्वं तु गारुडम् ॥ ८ ॥
एभिः शैवागमैः सर्वैः परोक्षं च विधान्वितैः ।
सविकल्पसिद्धिसंचारं तत्परं पापबंधवित् ॥ ९ ॥
विकल्प बहुलाः सर्वे मिथ्यावादा निरर्थकाः ।
न ते मुञ्चन्ति संसारे अकुलबीरविवर्जिताः ॥ १० ॥

— अकुल बीर तंत्र—ए०

१. कुलं शक्तिरिति मोक्तमकुलं शिव उच्यते ॥

कुलेऽकुलेऽपि संबंधः कौलमित्यभिधीयते ॥ — सौ भाग्य भास्कर, पृ० ५३

३. शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ।

अन्तरं नैव जानीराष्ट्र अन्तर्वन्दिकथोरिव ॥

गो० सि० सं० में अकुल, पृ० ६७

उन्हें 'अकुल' कहा जाता है।^१ चूँकि शक्ति सृष्टि का हेतु है और समस्त जगत रूपी प्रपंच की प्रसृतिका है इसलिये उसे 'कुल' (= वंश) कहते हैं।^२ शक्ति के बिना शिव कुछ भी करने में असमर्थ हैं।^३ इकार शक्ति वा वाचक है और शिव में से इकार त्रिकाल देने से वह 'शिव' हो जाता है।^४ इसी लिये शक्ति ही उपास्य है। इस शक्ति की उपासना करने वाले शाक्त लोग ही कौल हैं। यह मत बौद्ध धर्मसाधना से मूलतः भिन्न है। इस साधना के लक्ष्य हैं अखण्ड, अद्वय और अविनश्वर शिव और बौद्ध साधना का लक्ष्य है नैरात्म्य भाव। वे लोग किसी अविनश्वर सत्ता में विश्वास नहीं रखते। कौल ज्ञान निर्णय में भी शिव और शक्ति के उपर्युक्त संबंध का प्रतिपादन है।^५ कहा गया है कि जिम प्रकार वृत्त के बिना छाया नहीं रह सकती, अग्नि के बिना धूप नहीं रह सकती उसी प्रकार शिव और शक्ति अविच्छेद्य हैं, एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती।^६

कौल मार्ग का अत्यन्त संचिप्त और फिर भी अत्यन्त शक्तिशाली उपस्थापन कौलोपनिषद् में दिया हुआ है। इस उपनिषद् के पढ़ने से इस मत के साधकों का अडिग विश्वास और रुढ़िबिरोधी मनोभाव स्पष्ट हो जाता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध नैरात्म्यवाद से इस मत का मौलिक भेद है। यह उपनिषद् सृष्टि रूप में लिखी गई है। आरम्भ में कहा गया है कि ब्रह्म का विचार हो जाने के बाद ब्रह्मशक्ति (धर्म) की जिज्ञासा होती है। ज्ञान और बुद्धि ये दोनों ही धर्म (शक्ति) के स्वरूप हैं। जिन में एकमात्र ज्ञान ही मोक्ष का कारण है; और मोक्ष वस्तुतः सर्वात्मता सिद्धि (अर्थात् समस्त जागतिक प्रपंचों के साथ अपने को अभिन्न समझने) को कहते हैं। प्रपंच से तात्पर्य पाँच विषयों (शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध) से है। इन पाँच विषयों को जानने वाला प्राण-विशिष्ट जीव भी अभिन्न ही है। फिर योग और मोक्ष दोनों ज्ञान हैं, अधः

१. वर्णगोत्रादिराहिः यादेक एवाकुलं मतम् ।

अनन्त्वादखण्डत्वादद्वयत्वादानाशनात्

निर्धर्मत्वादनंगत्वदकुलस्यान्निरन्तरम् । - सि० लि० सं० ४।१०-१२

२. कुलस्य सामरस्येति सृष्टिहेतुः प्रकाशभूः ।

सा चापरंपरा शक्तिराज्ञेश्वर्यापरं कुलम् ।

प्रपञ्चस्य समस्तस्य जगद्गुणप्रवर्तनात् ॥ - सि० लि० सं० ४।१२-१३

३. शिवोऽपिशक्तिरहितः कर्तुं शक्तो न किंचन ।

शिवः स्वशक्तिसहितो ह्याभासाद् भासको भवेत् ॥ बही० ४। १६

४. शिवोऽपिशवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः ।

—दे बी भा ग व त का बचन

५. अकुलंतु इमं भद्रे यत्राहं तिष्ठते सदा । कौ० ज्ञा० नि० १६-४१

६. न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः ।

अन्योऽन्यं च प्रवर्तते अग्निधूमौ यथा प्रिये ।

न वृक्षरहिता छाया न च्छाया रहसिो दुःखः ॥ १७ द - ६

का कारण अज्ञान है, परन्तु यह अज्ञान भी ज्ञान से भिन्न नहीं है। मतलब यह कि यद्यपि ब्रह्म का कोई धर्म नहीं है फिर भी अविद्या के कारण ब्रह्म को ही मनुष्य नानाखरधर्मारोप के साथ देखता है; यह अविद्या भी ज्ञान (अर्थात् ब्रह्म की शक्ति) ही है। प्रपञ्च ही ईश्वर है और अनित्य भी नित्य है क्योंकि वह भी ब्रह्मशक्ति का रूप ही है। अज्ञान ही ज्ञान है और अधर्म ही धर्म है (इसका मतलब यह है कि ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति में कोई भेद नहीं है) यही मुक्ति है। जीव के पाँच वंधन हैं — (१) अनात्मा में आत्म बुद्धि, (२) आत्मा में अनात्म बुद्धि, (३) जीवों में परस्पर भेद ज्ञान (४) ईश्वर (अर्थात् उपास्य) और आत्मा (अर्थात् उपासक) में भेद बुद्धि, और (५) चैतन्य अर्थात् पर ब्रह्म से आत्मा को पृक्क समझने की बुद्धि ये पाँचों वंधन भी ज्ञानरूप ही हैं क्योंकि ये सभी ब्रह्मशक्ति के विलास हैं। इन्हीं वंशों के कारण मनुष्य जन्म-मरण के चक्रों में पड़ता है। इसी देह में मोक्ष है। ज्ञान यह है : — समस्त इन्द्रियों में नयन प्रधान है, नयन अर्थात् आत्मा। धर्मवैरुद्ध कार्य करणीय हैं; धर्म विहित करणीय नहीं है (यहाँ धर्म का तात्पर्य धर्मशास्त्र से है जो सीमित जीवन के विधि-निषेध का व्यवस्थापक माना जाता है) सब कुछ शक्ति (शक्ति) का रूप है। इस मार्ग के साधक के लिये वेद मान्य नहीं है गुरु एक ही होता है और अन्त में सर्वैक्यता बुद्धि प्राप्त होती है। मन्त्रसिद्धि के पूर्व वेदादि त्याग करना चाहिए उपासना-पद्धति को प्रकट नहीं करना चाहिये। अन्याय ही न्याय है। किसी को कुछ नहीं गिनना चाहिए। अपना रहस्य शिष्य-भिन्न किसी को नहीं बताना चाहिए। भीतर से शक्त, बाहर से शैव और लोक में वैष्णव होकर रहना—यही आचार है। आत्मज्ञान से ही मुक्ति होती है। लोकनिन्दा वर्जनीय है। अध्यात्म यह है — व्रताचरण न करे, नियम-पूर्वक न रहे, नियम मोक्ष का बाधक है, कभी कौल संप्रदाय की स्थापना नहीं करनी चाहिए। सब में समता की बुद्धि रखनी चाहिए; ऐसा करनेवाला ही मुक्त होता है—वही मुक्त होता है।

संक्षेप में कौलोपनिषद् का यही मर्म है। इसमें स्पष्टतः ही ऐसी बहुत सी बातें हैं जो अपरिचित श्रोता के चित्त को झटकार देती हैं। थोड़ी और चर्चा करके उस का रहस्य समझ लेना चाहिए क्योंकि नाथसंप्रदाय की साधना को इन बातों ने प्रभावित किया है। ब्रह्मा एडपुराण के उत्तरखंड में एक स्तोत्र है ललितासहस्रनाम। इस स्तोत्र पर सौभाग्यराय नामक काशी के महाराष्ट्रीय पंडित ने सौभाग्यभास्कर नामक पाण्डित्यपूर्ण टीका लिखी थी, जो अब निर्णयसागर प्रेस से छप गई है। भास्करराय ने नाम के श्वरतंत्र के अन्तर्गत जो नित्यापोडशकारणवर्णन है उस पर भी १६५४ श्लोकों में से तुल्यनाम की टीका लिखी थी। इन टीकाओं में कई स्थलों पर 'कुल' शब्द की अनेक प्रकार की व्याख्याएँ दी हुई हैं। आधुनिक पंडितों ने 'कुल' शब्द का अर्थ-विचार करते समय प्रायः ही सौभाग्यराय की व्याख्याएँ उद्धृत की हैं। संक्षेप में उन्हें यहाँ संप्रद किया जा रहा है।

१. (१) भारतीयदर्शन, पृ० ५४१ और आगे

(२) कौलमार्गरहस्य, पृ० ४-८ ॥४॥

(३) कौ० ज्ञा० नि०, भूमिका, पृ० ३६-३८-३६-३८

(१) दार्शनिक अर्थ—संसार के सभी पदार्थ ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान इन तीन विभागों में विभक्त हैं। ज्ञाता ज्ञान का कर्त्ता है और ज्ञेय उसका विषय। जानने की क्रिया का नाम ज्ञान है। जगत् के जितने पदार्थ हैं वे सभी 'मेरे' ज्ञान के विषय हैं इसलिये "मैं" ज्ञान का कर्त्ता हुआ। और 'मैं जानता हूँ'—यह ज्ञान क्रिया है। इस प्रकार एक ज्ञान समवायसंबंध से ज्ञाता मैं, विषयतासंबंध से ज्ञेय मैं और तादात्म्य संबंध से ज्ञानक्रिया में रहा करता है। मैं 'घट को जानता हूँ' इस स्थल पर 'ज्ञान' को प्रकाशित करने के लिये ज्ञान की आवश्यकता है, परन्तु मैं 'ज्ञान को जानता हूँ' इस स्थल पर ज्ञान को प्रकाशित करने के लिये भिन्न ज्ञान की जरूरत नहीं है। क्योंकि ज्ञान अपने को आप ही प्रकाशित करता है—वह स्वप्रकाश है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न द्रव्यों को प्रकाशित करने के लिये दीप की आवश्यकता होती है पर दीप को प्रकाशित करने के लिये दूसरे दीप की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वह स्वप्रकाश है, इसी प्रकार ज्ञान भी अपने को आप ही प्रकाशित करता है। सो, यह जगत् ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान के रूप में त्रिपुटीकृत है। इस त्रिपुटीकृत जगत् के समस्त पदार्थ ज्ञान रूप धर्म के एक होने के कारण 'सजातीय' हैं और इसीलिये वे 'कुल' (= जाति) कहे जाते हैं। इस कुल संबंधी ज्ञान को ही कौलज्ञान कहते हैं। अर्थात् समस्त जागतिक पदार्थों का त्रिपुटीभाव से जो ज्ञान है, वही कौलज्ञान है। और भी स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता है कि ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, जगत् ब्रह्ममय है, वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है—इस प्रकार का जो परिपूर्ण अद्वैतज्ञान है वही कौलज्ञान है। जो लोग इस ज्ञान के साधक हैं वे भी इसीलिये कौल कहे जाते हैं।

२—वंशपरक अर्थ—'कुल' शब्द का साक्षात्संकेतित अर्थ वंश है। यह दो प्रकार का होता है—(१) विद्या से और (२) जन्म से। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में इस बात को इस प्रकार कहा गया है कि सृष्टि दो प्रकार की होती है। नादरूपा और बिन्दुरूपा। नादरूपा सृष्टि गुरुपरंपरा से और बिन्दुरूपा जन्मपरंपरा से। चूंकि इस मार्ग में परम शिव से लेकर परम गुरु तक चली आती हुई ज्ञान परंपरा का ही प्रधान्य है, इसलिये विद्याक्रम को ही 'कुल' कहा जाता है। इसी कुल के अनुवर्ती 'कौल' हैं।

३—रहस्यपरक अर्थ—(१) कुल का अर्थ जाति है। एक ही जाति के वस्तुओं में अज्ञानवश भिन्नजातीयता का भान हो गया होता है। उदाहरण भी चेतन है उपासक भी चेतन है। इन दोनों को एक ही 'कुल' की वस्तु बताने वाले शास्त्र भी कुल शास्त्र हुए इन शास्त्रों को मानने वाले इसीलिये कौल कहे जाते हैं।

४—योगपरक अर्थ—सौ भाग्य भास्कर (पृ० ३५) में 'कुल' शब्द का एक योगपरक अर्थ भी दिया हुआ। 'कु' का अर्थ पृथ्वी है और 'ल' का अर्थ 'लीन' होना। इस आगे चलकर देखेंगे कि पृथ्वीतत्त्व मूलाधार चक्र में रहता है। इसलिये मूलाधार

चक्र को 'कुल' कहते हैं। इसी मूलाधार से सुषुम्ना नाड़ी मिली हुई है जिसके भीतर से बठकर कुण्डलिनी सहस्रार चक्र में परमशिव से सामरस्य प्राप्त करती है। इसीलिये लक्षणा वृत्ति से सुषुम्ना को भी 'कुल' कहते हैं।^१ तत्त्वसार नामक ग्रंथ में कुण्डलिनी को शक्तिरूप में बताया गया है। शक्ति ही सृष्टि है, और सृष्टि ही कुण्डली।^२ इसी-लिये कुण्डलिनी को भी कुल कुण्डलिनी कहा जाता है।

(३) दार्शनिक सिद्धान्त

तंत्रमत दार्शनिक दृष्टि से सत्कार्यवादी है। जो वस्तु कभी थी ही नहीं वह कभी हो नहीं सकती। कार्य को अव्यक्त-वस्था का नाम ही 'कारण' है और कारण की व्यक्तावस्था का नाम ही 'कार्य' है।

प्रलयकाल में समग्र जगत्प्रपञ्च को अपने आप में विलीन करके और समस्त प्राणियों के वर्मरुत को सूक्ष्म रूप से अपने में स्थापन करके एकमात्र अद्वितीय पर-शिव विराजमान रहते हैं। सृष्टि का चक्र जब फिर शुरू होता है (क्योंकि प्रलय-कालीन प्राणियों का अवशिष्ट कर्मफल परिष्कृत होने को शेष रह गया होता है और इसी वर्मरुत के परिष्कार के लिये जगत्प्रपञ्च फिर शुरू होता है) तो शिव में अव्यक्त भाव से स्थित शक्ति फिर से 'सिसृत्ता' के रूप में व्यक्त होती है। यह प्रथम आविर्भूता आद्या शक्ति ही 'त्रिपुरा' है। तत्त्रिक लोगों का सिद्धान्त है कि यद्यपि परब्रह्म सदा वर्तमान रहते हैं तथापि इस त्रिपुरा शक्ति के बिना वे कुछ भी करने में समर्थ नहीं होते। यह शक्ति स्वयं आविर्भूत होती है और स्वयमेव सृष्टिविधान करती है। 'सिसृत्ता' शब्द का अर्थ है सृष्टि की इच्छा। यद्यपि यह शक्ति इच्छारूपा है तथापि चिन्मात्र (परब्रह्म) से उत्पन्न होने के कारण यह चिद्रूपा भी है। शक्ति ने ही सृष्टि विधान के द्वारा जगत् को ज्ञान, ज्ञान और ज्ञेय रूप में कल्पित किया है। इस प्रकार ज्ञान-ज्ञेय जगत् रूप त्रिपुटीकृत जगत् की पुगेवनिनी आविर्भूता होने के कारण ही यह शक्ति 'त्रिपुरा' कही जाती है।^३ मत्स्येंद्रनाथ के कौल ज्ञान में इस शक्ति का इसी नाम से निर्देश नहीं पाया जाता पर यह स्पष्ट रूप से जान पड़ता है कि तत्त्रिकों के सृष्टितत्त्व को वे भी उसी प्रकार मानते हैं। परन्तु यदि तत्रशास्त्र

१. वेदशास्त्रपुराणानि समान्य गणिका इव ।

सा पुनः शांकरि मुद्रा प्राप्ता कुलवधूरिव ॥

—गो० सि० सं०, पृ० १३

२. तत्त्वसारेऽयमेवार्थो निरूपणपदे कृतः ।

सृष्टिस्तु कुण्डली स्याता सर्वभावमता हि सा ॥

५/३०
सि० सि० सं०, ४। १० ॥

३. त्रिपुरा परमा शक्तिराद्या ज्ञानादितः प्रिये ।

स्थूलसूक्ष्मविभेदेन त्रैलोक्योत्पत्तिमातृका ॥

कवलीकृतनिःशेष तत्त्वग्रामस्वरूपिणी ।

तस्या परिणतायान्तु न कश्चित् पर इष्यते ॥

वा म के श्व र तं त्र (४। ४-५) के इन श्लोकों पर सेतुबंध टीका (१३४-५) देखिए ।

सत्कार्यवादी है तो ऊपर के बताए हुए सिद्धान्त में एक आपत्ति हो सकती है। जो वस्तु कभी थी ही नहीं वह कभी उत्पन्न भी नहीं हो सकती; फिर जगत् शक्ति से उत्पन्न कैसे हो सकता है? इसके उत्तर में बताया गया है कि वस्तुतः शक्ति प्रलयकाल में ३६ तत्त्वात्मक जगत् को कवलीकृत करके अर्थात् अपने आप में स्थापित करके अव्यक्त रूप में स्थित रहती है और वस्तुतः जगत् उसकी व्यक्तावस्था का ही नाम है। फिर प्रश्न होता है कि क्यों न शिव को ही जगत् का कारण मान लिया जाय? यदि जगत् को सूक्ष्म रूप से अव्यक्त अवस्था में शक्ति धारण करती है तो शक्ति को भी तो सूक्ष्म रूप में शिव धारण किए होते हैं। फिर शक्ति को जगत् का कारण क्यों माना जाय? शिव ही वास्तविक और आदि कारण हुए। तांत्रिक लोग ऐसा नहीं मानते। वा म वे श्व र तं त्र (४।५) में कहा गया है कि जब शक्ति जगत् रूप में व्यक्त होती है तो उस अवस्था में परशिव नामक किसी पदार्थ की उसे आकांक्षा नहीं होती। जो शाक्त तंत्र के अनुयायी नहीं हैं वे ब्रह्म की शक्तिमाया को ब्रह्म मानते हैं, किन्तु तांत्रिक लोग परशिव की शक्ति को चिद्रूपा अर्थात् चेतन मानते हैं। चूंकि यह जगत् भी चिद्रूपा शक्तिका परिणाम है, इसीलिये यह स्वयं भी चिद्रूप है। (कौ. मा. र.) कौल ज्ञान निर्णय में मत्स्येंद्रनाथ ने जब कहा है कि शिव की इच्छा से समस्त जगत् की सृष्टि होती है और उसी में सब कुछ लीन हो जाता है तो वस्तुतः उनका तात्पर्य यही है कि शक्ति ही जगत् का कारण है। क्योंकि शिव की इच्छा (सिसृत्ता) ही शक्ति है, यह बात हमने पहले ही लक्ष्य की है।

इस प्रकार परम शिव के सिसृत्त होने पर शिव और शक्ति ये दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं, परम शिव निर्गुण और निरञ्जन हैं, शिव सगुण और सिसृत्ता रूप उगधि से विशिष्ट। शिव का धर्म ही शक्ति है। धर्मी और धर्म अलग अलग नहीं रह सकते। इसीलिये मत्स्येंद्रनाथ ने कहा है कि शक्ति के बिना शिव नहीं होते और शिव के बिना शक्ति नहीं रह सकती (कौ० ज्ञा० नि० १७ द)। ये (१) शिव और (२) शक्ति ३६ तत्त्वों के प्रथम दो हैं। पहले बताया गया है कि समस्त जगत् प्रपञ्च का मूल कारण शक्ति है। शक्ति ही अपने भीतर समस्त जगत् को धारण किए रहती है। शक्ति द्वारा जगत् की अभिव्यक्ति होने के समय शिव के दो रूप प्रकट होते हैं। प्रथम अवस्था में इस प्रकार का ज्ञान होता है कि मैं ही शिव हूँ। यही सदाशिव तत्त्व है। सदाशिव जगत् को अपने से अभिन्न (अहं=मैं)-रूप में जानते हैं। इनका यह 'मैं' का भाव (=अहं-ता) ही पराङ्मता या पूर्वाङ्मता कहलाता है। दूसरी अवस्था को ईश्वरतत्त्व—जो जगत् को अपने से भिन्न-रूप (इदं—यह) में देखता है—कहते हैं। सो जगत् अहं रूप में समझनेवाला तत्त्व (३) सदाशिव है और इदं रूप में समझने वाला तत्त्व (४) ईश्वर है। इस प्रकार प्रथम चार तत्त्व हुए—(१) शिव (२) शक्ति (३) सदाशिव (४) ईश्वर। सदाशिव जगत् को अहंरूप में देखते हैं। 'जगत् मैं ही हूँ' इस प्रकार की सदाशिव की शक्ति को (५) शुद्ध विद्या कहते हैं और यह जगत् मुझसे भिन्न है—इस प्रकार ईश्वर की वृत्ति का नाम (६) माया है। शुद्ध विद्या को अच्छादन करनेवाली को अविद्या कहते हैं—कुछ लोग इसे विद्या भी कहते हैं। यह

सातवां तत्व है। इस सातवें तत्व से आच्छन्न होने पर जो सर्वज्ञ था वह अपने को 'किञ्चिज्ज्ञ' अर्थात् 'थोड़ा जानने वाला' समझने लगता है। फिर क्रमशः माया के बंधन से शिव की सब कुछ करने की शक्ति [सर्ववृत्त्व] संकुचित होकर 'कुछ करने' की शक्ति बन जाती है, इसे बला कहते हैं; फिर उनको 'नित्यवृत्ता' संकुचित हो अपूर्ण 'वृत्ति' का रूप धारण करती है—यही राग तत्त्व है; उनका नित्यत्व संकुचित होकर छोटी सीमा में बंध जाता है, इसे काल तत्त्व कहते हैं, और उनकी सर्वव्यापकता भी संकुचित होकर नियत देश में संकोण हो जाती है—इसे नियति तत्व कहा जाता है। इस प्रकार माया के बाद उसके ६ संकोचकारी तत्व या कंचुक प्रकट होते हैं और उन्हें क्रमशः—(७) विद्या या अविद्या (८) कला (९) राग (१०) कात और (११) नियति ये तत्व उत्पन्न होते हैं। इन ६ कंचुकों से बद्ध शिव ही 'जीव' रूप में प्रकट हैं, जीव तेरहवाँ तत्व है। यही सांख्य लोगों का 'पुरुष' है। इस के बाद का क्रम वही है जो सांख्यों का है। तांत्रिक और शैव लोग सांख्य के २४ तत्वों के अतिरिक्त पूर्वाक्त बारह तत्वों को अधिक मानते हैं।

चैद्वह्वां तत्व प्रकृति है जो सत्व, रजः और तमः इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम है। प्रकृति को ही चित्त कहते हैं। रजोगुणप्रधान अन्तःकरण को मन कहते हैं यह सकल्प का हेतु है। इस अवस्था में सत्व और तमः ये दो गुण अभिभूत रहते हैं। इसी प्रकार जब रजः और तमः गुण अभिभूत रहते हैं और सत्वगुण प्रधान होता है उस अवस्था का नाम बुद्धि है। वह निश्चयात्मक ज्ञान का हेतु है। तथा जब सत्व और रज ये दोनों गुण अभिभूत रहते हैं और सत्वगुण प्रधान होता है तो इस अवस्था का नाम अहंकार है। इसमें भेद ज्ञान प्रधान होता है। इस प्रकार जब नामक तत्व के बाद (१४) प्रकृति (१५) मन (१६) बुद्धि और (१७) अहंकार ये चार और तत्व उत्पन्न हुए।

इसके बाद पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच क्रमेन्द्रिय, पांच तन्मात्र और पांच स्थूल महाभूत ये पंद्रह तत्व उत्पन्न होते हैं। यही तांत्रिकों के ३६ तत्व हैं। यही शैव योगियों को भी मान्य हैं। किन्तु कोलज्ञान निर्णय में इन की कोई स्पष्ट चर्चा नहीं मिलती।

भगवान् सदाशिव ने अपने पांच मुखों से पांच आम्नायों का उपदेश दिया था— (१) सद्योजात नामक पूर्वमुख से पूर्वाम्नाय, (२) अवार नामक दक्षिण मुख से दक्षिणाम्नाय, (३) तत्पुरुष नामक पश्चिम मुख से पश्चिमाग्नाय, (४) वामदेव नामक उत्तर मुख से उत्तराम्नाय और (५) ईशान नामक ऊपरी मुख से ऊर्ध्वाम्नाय। इन पांच आम्नायों में इन्हीं ३६ तत्वों का निर्णय हुआ है।^१ ऊपर के विवरण से इनका क्रम विदित होगा। सब तत्वों का यहाँ फिर से एकत्र संकलन किया जा रहा है—

- | | |
|-----------|---------------------|
| १. शिव | ५. शुद्धविद्या |
| २. शक्ति | ६. माया |
| ३. सदाशिव | ७. विद्या (अविद्या) |
| ४. ईश्वर | ८. कला |

९. राग	२३. पाणि (हाथ)
१०. काल	२४. पाद (चरण)
११. नियति	२५. पायु
१२. जीव	२६. उपस्थ
१३. प्रकृति	२७. शब्द
१४. मन	२८. स्पर्श
१५. बुद्धि	२९. रूप
१६. अहंकार	३०. रस
१७. श्रोत्र	३१. गंध
१८. त्वक्	३२. आकाश
१९. चक्षु	३३. वायु
२०. जिह्वा	३४. तेज
२१. घ्राण	३५. जल
२२. वाक्	३६. पृथ्वी

इन ३६ तत्त्वों में प्रथम दो—शिव और शक्ति—‘शिवतत्त्व’ कहे जाते हैं। कारण यह है कि इन दो तत्त्वों में सत्-चित्त-आनंद ये तीनों ही अनावृत और सुस्पष्ट रहते हैं। इसके बाद के तीन तत्त्व—सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या—विद्यातत्त्व कहे जाते हैं, क्योंकि इनमें आनन्द-अंश तो आवृत रहता है परन्तु सत् और चित्त-अंश अनावृत रहते हैं। बाका इकतीस तत्त्व ‘आत्मतत्त्व’ कहे जाते हैं, क्योंकि उनमें आनंद और चित्त ये दोनों ही आवृत रहते हैं और केवल ‘सत्’ (=सत्ता) अंश ही प्रकट और अनावृत रहता है। चित्त-अंश के आवृत रहने के कारण ये तत्त्व जड़वत् प्रतीत होते हैं। इस प्रकार सारे ३६ तत्त्व तीन ही तत्त्वों के अन्तर्गत आ जाते हैं—(१) शिवतत्त्व (२) विद्यातत्त्व और (३) आत्मतत्त्व। ‘आत्मतत्त्व’ में आए हुए ‘आत्म’ शब्द को देखकर यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि ये चैतन्यप्रधान है। वस्तुतः ‘आत्म’ शब्द का प्रयोग यहाँ जड़ शरीर को आत्मा समझने के अर्थ में हुआ है।

यह स्पष्ट है कि शिव ही जीव रूप में परिणत होते हैं। माया तीन प्रकार के मलों से शिव को आच्छादित करती है तब शिव ‘जीव’ रूप में व्यक्त होता है। ये तीन मल हैं—(१) आणव अर्थात् अपने को अणुमात्र समझना, (२) मायिक अर्थात् जगत् के तत्त्वतः एक अद्वैत पदार्थों में भेदबुद्धि और (३) कर्म अर्थात् नाना जन्मों में स्वाकृत कर्मों का संस्कार। इन्हीं तीन मलों से आच्छन्न शिव ही जीव है। इसी लिये परशुराम कल्पसूत्र में कहा गया है कि ‘शरीरकञ्चुकितः शिवो जीवो निष्कञ्चुकः परमाशिवः’ (१.५) अर्थात् शरीर (तीन मलों का परिणाम) द्वारा आच्छादित शिव ही जीव है और अनाच्छादित जीव ही शिव है। इसी लिये कोलज्ञाननिर्णय में मत्स्येन्द्रादि ने कहा है कि वस्तुतः जीव से ही जगत् सृष्ट हुआ है, जीव ही समस्त तत्त्वों का नायक है क्योंकि यह जीव ही वस है, यही शिव है, यही व्यापक परशिव है; और सच पूछिए तो वही मन भा है, वही चराचर में व्याप्त है। इसी लिये अपने को अपने ही समझ कर

वह जीव—जो वस्तुतः शिव का ही रूप है—भुक्ति और मुक्ति दोनों का दाता है। आत्मा ही गुरु है, आत्मा ही आत्मा को बाँधता है, आत्मा ही आत्मा को मुक्त करता है, आत्मा ही आत्मा का प्रभु है। जिसने यह तत्त्व समझ लिया है कि यह काया आत्मा ही है, अपने को आर ही जाना जाना है और अपने से भिन्न समस्त पदार्थ भी आत्मा है वही 'योगिराट्' है, वह स्वयं साक्षत् शिवस्वरूप है और दूसरे को मुक्त करने में भी समर्थ है :—

जीवेन च जगत् सृष्टं स जीवस्तत्त्वनायकः ।
स जीवः पुद्गलो हंमः स शिवो व्यापकः परः ॥
स मनस्तूच्यते भद्रे व्यापकः स चराचरे ।
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा भुक्तिमुक्तिप्रदायकः ॥
प्रथमस्तु गुरुर्ह्यात्मा आत्मानं बन्धयेत् पुनः ।
बंधस्तु मोचयेद्ध्यात्मा आत्मा वै स्वरूपिणः ॥
आत्मनश्चापरो देखि येन ज्ञातः स योगिराट् ।
स शिवः प्रोच्यते साक्षत् स मुक्तो मोचयेत् परः ॥

—कौ०ज्ञानि० १७। ३३—३७

(४) कौल-साधना

यद्यपि गोरक्षसंदाय में यह कहा जाता है कि उनके योगमाग और कौल-मार्ग के चरम लक्ष्य में कोई भेद नहीं है, सिर्फ इतना ही विशेष है कि योगी पहले से ही अन्तरंग उपासना करने लगता है, परन्तु तांत्रिक पहले बहिरंग उपासना करने के बाद क्रमशः अन्तरंग (कुण्डली) साधना की ओर आता है, तथापि यह नहीं समझना चाहिए कि तांत्रिक कालों को भी यही मत मान्य है। निस्सन्देह कौलमार्ग में भी यह विश्वास किया जाता है कि योगी और कौल का लक्ष्य एक ही है। स क्षेत्र में यहाँ कौल दृष्टिकोण को समझ लेने से हम आसानी से मत्स्येंद्रनाथ के दोनों मार्गों का भेद समझ सकेंगे।^१

हम आगे चलकर देखेंगे कि योगी लोग भोगवर्जन पूर्वक यम-नियमादि की कठोर साधना द्वारा अष्टांग योग-साधन करके समाधि के अन्त में व्युत्थान अवस्था में निर्विकल्पक आनन्द अनुभव करते हैं। तांत्रिक लोगों का दावा है कि कौल साधक भी इसी आनन्द को अनुभव करते हैं। ये लोग कुलसाधना में विहित विधि से कुलद्रव्य—मद्यादि—का संस्कार करके उसका सेवन करते हैं और सिद्धिलाभ

१. बौद्ध तांत्रिकों के सबसे प्राचीन तंत्रों में से एक गुह्य स मा ज तं त्र है जिसकी रचना संभवतः सत्र्दसवी की तीसरी शताब्दी में हो गई थी। उसमें उपसाधन के प्रथम में तांत्रिक साधना ता लेने के बाद ग्रंथकार ने लिखा है कि यदि ऐसा करने पर भी सिद्धि न मिले तो हठयोग से साधना करनी चाहिए (पृ० १६५)।

करते हुए सातवें उल्लास की अवस्था में पहुँचते हैं। कुलार्णवतंत्र में मद्यपान से उत्तरा इन सात उल्लासों की चर्चा है। प्रथम उल्लास का नाम आरंभ है इसमें साधक तीन चुल्लू से अधिक नहीं पी सकता। दूसरी अवस्था 'तरुण उल्लास' है, जिसमें मन में नये आनन्द का उदय होता है। जरा और अधिक आनन्द की अवस्था का नाम 'यौवन उल्लास' है। यह तीसरी अवस्था है। चौथी अवस्था, जिसमें मन और वाक्य किंचित् खलित होते रहते हैं, 'प्रौढ़ उल्लास' कही जाता है। पूरी मत्तता आने की 'तदन्तोल्लास' नामक पाँचवीं अवस्था कहते हैं। इसके बाद और पान करने पर एक ऐसी अवस्था आती है जिसमें मनोविकार दूर हो जाते हैं और चित्त अन्तर्निरुद्ध हो रहता है। यही छठी 'उन्मनी-उल्लास' नामक अवस्था है। अन्तिम अवस्था का नाम 'अनवस्था उल्लास' है। इस अवस्था में जोवात्मा परमात्मा में विलीन होकर ब्रह्मानन्द अनुभव करने लगता है। कौलतांत्रिकों का दावा है कि यह आनन्द योगियों द्वारा अनुभूत निर्विकल्पक ब्रह्मानन्द से अभिन्न है।^१ कौलज्ञाननिर्णय में इन उल्लासों की चर्चा नहीं है। परन्तु वहाँ इसका विधान है अवश्य। कौलज्ञाननिर्णय में प्रायः कुल द्रव्यों की आध्यात्मिक व्याख्या दी हुई है। मानस लिंग, मानस द्रव्य, मानस-पुष्पक, मानस पूजा आदि बातें उसमें सर्वत्र लिखी पाई जाती हैं। नाथपंथियों में यह बात एकदम लुप्त नहीं हो गई है।

कौलमार्गी का दावा है कि उसका रास्ता सहज है और योगी का दुर्लभ। रुद्रयामल में कहा गया है कि जहाँ भोग होता है वहाँ योग नहीं होता और जहाँ योग होता है वहाँ भोग नहीं होता, परन्तु श्री सुन्दरी साधना के त्रयोपुरुषों को योग और भोग दोनों ही हाथ में ही रहते हैं।^२ कौलज्ञाननिर्णय में 'पंचमकार' शब्द नहीं आया है। 'पंच-पवित्र' जरूर आया है। ये पंचपवित्र हैं—विष्ठा, धारामृत, शुक्र, रक्त और मज्जा। साधना में अप्रसर साधक के लिये ये विहित हैं (११ वां पटल)। पंचमकार की प्रायः सारी बातें—मद्य, मत्स्य, मांस, मुद्रा और मैथुन—किसी न किसी रूप में आ गई हैं। ग्यारहवें पटल में जिन पाँच उत्तम भोग्यों का उल्लेख है वे हैं—गोमांस, गोघृत, गोरक्त, गोक्षीर और गोदधि। फिर, श्वान, मार्जार, उष्ट्र, हय, कूर्म, कच्छप, वराह, वक्र, कर्कट, शलाघी, कुक्कुट, शेरक, मृग, महिष, गण्डक और सब प्रकार की मछलियाँ उत्तम भक्ष्य बताई गई हैं। पैण्टी, माधवी और गोएडी मर्दों को श्रेष्ठ कष्टा गया है। अकुलवीरतंत्र में साधना में सिद्ध उस पुरुष के लिये, जिसे अद्वैतज्ञान प्राप्त हो गया है, यह उपदेश है कि जागते-सोते, आहार-विहार, दारिद्र्य-शोक, अभक्ष्यभक्षण में किसी प्रकार का भेदभाव या विचिकित्सा न करे। किसी भी इन्द्रियार्थ के भोग में सशयालु न बने, समस्त वर्णों के साथ एक आचार पालन करे और भक्ष्याभक्ष्य का

१. कौ० मा० २०, पृ० ४०-४१

२. यत्रास्ति भोगो न तु तत्र योगो यत्रास्ति मोक्षो न तु तत्र भोगः ।

श्रीसुन्दरीसाधक पुंगवानां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ॥

विचार बिल्कुल न करे। सर्वत्र उसकी बुद्धि इस प्रकार होनी चाहिए कि न मैं ही कोई हूँ न मेरा ही कोई है। न कोई वद्ध है, न बंधन ही है और न कुछ कर ही रहा हूँ।^१

परवर्ती नाथसंप्रदाय में इन सभी बातों की आध्यात्मिक व्याख्या मिल जाती है। मानों मत्स्येंद्रनाथ के उपदेशों को लक्ष्य करके ही हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है कि सच्चा कुलीन या कौल साधक वही है जो नित्य गोमांस भक्षण करता है और अमर वारुणी का पान करता है। और योगी तो कुलघातक हैं! क्योंकि 'गो' का अर्थ जिह्वा है और उसे उभटकर तालुदेश में ले जाने को (खेचरी मुद्रा में ही 'गोमांस-भक्षण' कहते हैं। ब्रह्मरंध्र के सहस्रार पद्म के मूल में योनि नामक त्रिकोणबद्ध है, वहीं चंद्रमा का स्थान है। इसी से सदा अमृत भ्रता रहता है। यही अमर वारुणी है।^२ मत्स्येंद्रनाथ की ज्ञानकारिका (८३-८४) में भी इस प्रकार की यौगिक व्याख्या मिलती है। परन्तु इन यौगिक व्याख्याओं से ही यह स्पष्ट है कि जहाँ कौल साधक मंत्राप्त वास्तविक कुलद्रव्य को सेवनीय समझते हैं, वहाँ योगी उनके योगपरक रूपों से सन्तोष कर लेते हैं।

फिर भी यह कहा नहीं जा सकता कि गोरक्षनाथ के द्वारा उपदिष्ट योगमार्ग का जो रूप आजकल उपलब्ध है उसमें योग और भोग को साथ ही साथ पालने की साधना एकदम लुप्त हो गई है। वज्रयान और सहजयान का प्रभाव रह ही गया है। महीधर शर्मा ने गोरक्षपद्धति नामक ग्रंथ प्रकाशित कराया है। इसमें किसी और ग्रंथ से वज्रोली और सहजोली मुद्राएं मंगूहीत हैं। ये दोनों ही निश्चित रूप से वज्रयानी और सहजयानी साधनाओं के अवशेष हैं। जो योगी वज्रोली मुद्रा का अभ्यास करता है वह योगोक्त कोई भी नियम पालन किए बिना ही और स्वेच्छापूर्वक आचरण करता हुआ भी सिद्ध हो जाता है। इस मुद्रा में केवल दो ही आवश्यक वस्तुएं हैं, यद्यपि ये सब को सुलभ नहीं है। ये वस्तुएं हैं, वशवर्तिनी मंत्र और प्रचुर दूध।^३ पुरुष की सिद्धि

१. नाहं कश्चित् न कश्चित् न बद्धो न च बधनम् ।

नाहं किंचित् करोमीति मुक्त इत्यभिधीयते ॥

गच्छस्तिष्ठन्वपनृत्ताग्रद् भुज्यमाने च मैथुने ।

भवदारिद्र्यशोकैश्च विष्ठाभृष्टादिभक्षणे ॥

विचिकित्सा नैव कुर्वीत इन्द्रियाथैः कदाचन ।

आचरेत् सर्ववर्णानि न च भक्तं विचारयेत् ॥

— अ कुलवीरतंत्र—ए० ६६-६८

२. गोमांसभक्ष्येन्नित्यं पिबेदमवारुणीम्

कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघानकाः ॥ इत्यादि, दृ०, ३।४६-४८

३. स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।

वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्यकस्यचित् ।

लीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥

— गोरक्षपद्धति, पृ० ४८

के लिये जिस प्रकार स्त्री आवश्यक उपादान है उसी प्रकार स्त्री की सिद्धि के लिये भी पुरुष परम आवश्यक वस्तु है।^१ सो, यह पवित्र योग भोग के आनन्द को देकर भी मुक्ति-दाता है।^२ यहाँ इतना लक्ष्य करने की जरूरत है कि मूल गोरक्ष पद्धति में ये श्लोक अन्तर्भुक्त नहीं हैं और कहाँ से लिए गए हैं, यह भी विदित नहीं है। जैसा कि शुरू में ही कहा गया है, गोरक्षनाथ का उपदिष्ट योगमार्ग सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य पर आधारित है, उसमें पूर्वोपदिष्ट तंत्रमार्ग के कुलद्रव्यों की केवल योगपरक और आध्यात्मिक व्याख्याएँ मिलती हैं। यहाँ केवल इतना ही निर्देश कर दिया गया है कि इस मार्ग में उक्त साधनाएँ भी रंगती हुई और सरकती हुई पुनः आई हैं या फिर हटाने के अनेक यत्नों के बावजूद भी छिपी हुई रह गई हैं। घेरण्डसंहिता^३ में इन वज्रतंत्रावज्रणों का योगपरक प्रयोग पाया जाता है और सिद्धसिद्धान्तसंग्रह तथा अमरौघशासन में भी इस की चर्चा गई जाती है।

आजकल जो नाथयोगी संप्रदाय वर्तमान हैं उस में भी वामाचार का प्रभाव है। त्रिगुप्त ने लिखा है कि दुर्गापूजा में कई स्थानों पर पंचमकारों या कुञ्जमकारों का प्रचलन है, यद्यपि साधारणतः इसे हीन कोटि की साधना माना जाता है और इस के साधक इस बात को छिपाया करते हैं।^४ बान्सुन्दरी, त्रिपुरासुन्दरी, त्रिपुराकुमारी की पूजा अब भी प्रचलित है। त्रिपुरादस महादेव्याओं में एक हैं। वे परम शिव की आदि सिसृक्षा हैं और ज्ञातृ-ज्ञेय-ज्ञान रूप में प्रकट हुए इस त्रिपटीकृत जगत् की आद्य चद्भाविका हैं। मालावार में १६ वर्ष की वन्या की पूजा प्रचलित है। इन पूजा का फल बच्चों की रक्षा और वशवृद्धि है। अजमोड़ा में इस देवी का मंदिर है। त्रिपुरा देवी की पूजा दक्षिणाचार से होती है, माँ खलि नहीं दी जाती। स्त्रियाँ रात-रात भर खड़ी रहकर देवी को प्रमत्त करती हैं और अभिर्भाषा वरपाने की आशा करती हैं। भण्डारकर ने लिखा है कि योगी लग त्रिपुरासुन्दरी के साथ अपना अभेदज्ञान प्राप्त करने के लिये अपने को खरू में बिन्ना काने का अभ्यास करते हैं। इनके अतिरिक्त मैथवी अष्टनायिकाएँ, मातृकाएँ, योगिनियाँ, शाकिनियाँ, डाकिनियाँ और अन्य अनेक प्रकार की सृष्टिवण्ड स्वभावा देवियाँ योगिसंप्रदाय में अब भी उपास्य मानी जाती हैं। त्रिगुप्त^५ ने बताया है कि कनकटा योगी लिंग और योनि की पूजा करते हैं और विश्वास करते हैं कि वाननाओं को दत्तना साधनमार्ग का परिपंथी है। वे स्त्री को पुरुष का परिणाम मानते हैं और इसलिये वामाचार साधना को बहुत

१. पुंसो विंदु समाकुञ्ज्य सम्यग्भ्यासपाटवात्।
यदि नारी रजोरक्षेद् वज्रोक्त्या सावियोगिनी ॥—पृ० २२
२. देहसिद्धिं च लभते वज्रोक्त्याभ्यासयोगतः।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥—पृ० ५३
३. घेरण्डसंहिता, ३.४२-४८
४. त्रिगुप्त, पृ० १७१
५. यही, पृ० १७२-१७४

भहत्त्व दिया जाता है। चक्रपूजा, जिसे मत्स्येंद्रनाथ ने बारबार कौलज्ञान निर्णय में विवृत किया है, अब भी वर्तमान है। सर्वत्र इस साधना को रहस्यमय और गोप्य समझा जाता है।

(५) कौल साधक का लक्ष्य

कौल साधक का प्रधान कर्तव्य जीवशक्ति कुण्डलिनी को उद्बुद्ध करना है। हम आगे चल कर इस विषय पर विस्तृत रूप से विचार करने का अवसर पाएँगे। यहाँ संक्षेप में यह समझ लेना चाहिये कि शक्ति ही महाकुण्डलिनीरूप से जगत् में व्याप्त है। मनुष्य के शरीर में वही कुण्डलिनीरूप से स्थित है। कुण्डलिनी और प्राणशक्ति को लेकर ही जीव मातृकुक्षि में प्रवेश करता है। सभी जीव साधारणतः तीन अवस्थाओं में रहते हैं : जाग्रत, सुषुप्ति और स्वप्न ; अर्थात् या तो बे जागते रहते हैं, या सोते रहते हैं, या स्वप्न देखते रहते हैं। इन तीनों अवस्थाओं में कुण्डलिनी शक्ति निश्चेष्ट रहती है। इन अवस्थाओं में इसके द्वारा शरीरधारण का कार्य होता है। इस कुण्डलिनी के उद्बुद्ध होने की क्रिया के समझने के लिये मनुष्य-शरीर की कुछ खास बातों की जानकारी आवश्यक है। पीठ में स्थित मेरुदण्ड जहाँ मीधे जाकर यायु और उपस्थ के मध्यभाग में लगता है वहाँ एक स्वयंभू लिंग है जो एक त्रिकोणचक्र में अवस्थित है। इसे अग्नि-चक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्निचक्र में स्थित स्वयंभू लिंग को माढ़े तीन घलयों या घृतों में लपेट कर सरिणों की भाँति कुण्डलिनी अवस्थित है। इसके ऊपर चार दलों का एक कमल है जिसे मूलाधार चक्र कहते हैं। फिर उसके ऊपर नाभि के पास स्वाधिष्ठान चक्र है जो छः दलों के कमल के आकार का है। इसके भी ऊपर मणिपूर चक्र है और उसके भी ऊपर, हृदय के पास, अनाहत चक्र है। ये दोनों क्रमशः दस और बारह दलों के पद्मों के आकार के हैं। इसके भी ऊपर कंठ के पास विशुद्धाख्य चक्र है जो सोलह दल के पद्म के आकार का है। और भी ऊपर जाकर भ्रूमध्य में आज्ञा नामक चक्र है, जिसके सिर्फ दो ही दल हैं। ये ही षट्चक्र हैं। इन चक्रों को क्रमशः पार करती हुई उद्बुद्ध कुण्डलिनीशक्ति सब से ऊपर वाले सातवें चक्र (सहस्रार) में परमशिव से मिलती है। इस चक्र में सहस्र दल होने के कारण इसे सहस्रार कहते हैं और परमशिव का निवास होने के कारण कैलाश भी कहते हैं। इस प्रकार सहस्रार में परमशिव, हृदाद्य में जीवात्मा और मूलाधार में कुण्डलिनी विराजमान हैं। जीवात्मा परमशिव से चैतन्य और कुण्डलिनी से शक्ति प्राप्त करता है, इसीलिये कुण्डलिनी जीव-शक्ति है। साधना के द्वारा निद्रिता कुण्डलिनी को जगा कर, मेरुदण्ड की मध्यस्थिता नाड़ी सुषुम्ना

१. अतऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम् ।

ब्रह्माण्डव्यस्तरेहस्थं बाह्यं तिष्ठति सर्वदा ।

कैलाशो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति ॥

के मार्ग से, सहस्रार में स्थित परमशिव तक उत्थापन करना ही कौल साधक का कर्तव्य है^१। वहीं शिव-शक्ति का मिलन होता है। शिव-शक्ति का यह सामरस्य ही परम आनन्द है^२। जब यह आनन्द प्राप्त हो जाता है तो साधक के लिये कुछ भी करणीय बाकी नहीं रह जाता।

कौल ज्ञान निर्णय में चक्रों की बात है परन्तु वह ह्रस्व परवर्ती नाथपंथी चक्रों से नहीं मिलती। तृतीय पटल में चार, आठ, बारह, सोलह, चौसठ, सौ, सहस्र, कोटि, सार्ध कोटि और तीन कोटि वल वाले चक्रों का उल्लेख है^३ और बाद में कहा गया है कि इन सब के ऊपर नित्य अदिन, अखण्ड, स्वतंत्र पद्म है जहाँ सर्वव्यापी अचल निरंजन (शिव) का स्थान है। यही शिव का वह लिंग है जिसकी इच्छा (शक्ति) से सृष्टि होती है और जिसमें समस्त सृष्टि लीन हो जाती है। वस्तुतः इस लीन होने की क्रिया के कारण वह 'लिंग' कहा जाता है। यही अखंडमंडलाकार निर्विकार निष्कल शिव हैं जिनको जाने बिना बंध होता है और जिनको जान लेने से मनुष्य सर्वबंधों से मुक्त हो जाता है।^४ चक्रों के कमलदलों को न्यूनाधिक संख्या से यह नहीं समझना चाहिए कि नाथपंथी मत इस मत से भिन्न है। वस्तुतः नाथपंथ में नाना प्रकार से चक्रों की कल्पना की गई है। असली बात यह है कि सिद्धान्त उभयत्र एक ही है। कौल ज्ञान निर्णय साधनपरक शास्त्र है। उसमें विधियों का ही अधिक उल्लेख है परन्तु मूल रूप से समस्त योगियों और कौलों का जो लक्ष्य है वह इस शास्त्र में भी है। अन्तिम लक्ष्य दोनों का एक ही है।^५

१. नित्रावेशारभ्यकृनिबिद्धतममैक्यविधिवत्—

महानंदावस्था स्फुरति वितता कापि सततम् ॥

ततः संवित्त्यामलसुखवमकारगमकः—

प्रकाशप्रोद्गोधो यदनुभवतो भेदविरहः ॥

—सि० सि० सं०, ५-११

२. समरसामन्दरूपेण एकाकारं चराचरे ।

ये च ज्ञातं स्वदेहस्थमकुञ्जवीरमहाजुतम् ॥

—अ कुल वीर तं व बी. ११५

३. कौ०ज्ञा०नि०, ३. ६—८

४. तस्योर्ध्वं व्यापकं तत्रा निरयोदितमख्यिद्धतम् ।

स्वातंत्र्यमञ्जमचलं सर्वव्यापी निरञ्जनम् ॥

तस्येच्छया भवेत् सृष्टिर्लघं तत्रैव गच्छति ।

तेन लिंगं तु विषयातं यत्र लीनं चराचरम् ।

अखण्डमण्डलं रूपं निर्विकारं सनिष्कलम् ।

अज्ञात्वा बंधमुद्दिष्टं ज्ञात्वा बंधैः प्रमुच्यते ।

—कौ० ज्ञा० नि०, ३. ६-११

५. गो० सि० सं०, ५० २०

प्रत्येक मनुष्य इस कौल साधना के लिये समान भाव से विकसित नहीं है। कुछ साधक ऐसे होते हैं जिनमें सांसारिक आसक्ति अधिक होती है। इस प्रकार मोह-रूपी पाश या पगहे से बंधे हुए जीवों को 'पशु' कहते हैं। शास्त्र में उनके लिये अलग ढंग की साधना निर्दिष्ट है। परन्तु कुछ साधक ऐसे होते हैं जो अद्वैत ज्ञान का एक वथला-सा आभासमात्र पाकर साधनमार्ग में वसति हो जाते हैं और प्रयत्नपूर्वक मोहपाश को छिन्न कर डालते हैं। इन्हें 'वीर' कहा जाता है। यह साधक क्रमशः अद्वैत ज्ञान की ओर अग्रसर होता रहता है और अन्त में उपास्य देवता के साथ अपने आप की एकात्मकता पहचान जाता है। जो साधक सहज ही अद्वैत ज्ञान को अपना सकता है वह उत्तम साधक 'दिव्य' कहलाता है। इस प्रकार साधक तीन श्रेणी के हुए—पशु, वीर और दिव्य। ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते हैं। इन तीनों की अवस्थाओं को क्रमशः पशुभाव, वीरभाव और दिव्यभाव कहते हैं। शास्त्र में इसके लिये अलग-अलग साधन-मार्ग उपदिष्ट हैं।

तंत्रशास्त्र में सात प्रकार के आचार बताए गए हैं, वेवाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। इन में जो (१) वेदाचार है उसमें वैदिक काम्य कर्म यागयज्ञादि विहित हैं। तंत्र के मत से वह सब से निचली कोटि की उपासना है। (२) वैष्णवाचार में निरामिष भोजन, पवित्र भाव से व्रत-उपवास, ब्रह्मचर्य और भजनासक्ति विहित है, (३) शैवाचार में यम-नियम, ध्यान-धारणा, समाधि और शिव-शक्ति की उपासना, तथा (४) दक्षिणाचार में उपर्युक्त तीनों आचारों के नियमों का पालन करते हुए रात्रिकाल में भाग आदि का सेवन कर के इष्ट मंत्र का जप करना विहित है। यद्यपि इन चारों में पहले से दूसरा, दूसरे से तीसरा और तीसरे से चौथा श्रेष्ठ है, परन्तु ये चारों ही आचार पशुभाव के साधक के लिये ही विहित हैं। इसके बाद वाले आचार वीरभाव के साधक के लिये हैं। (५) वामाचार में आत्मा को वामा (शक्ति) रूप में कल्पना करके साधना विहित है। (६) सिद्धान्ताचार में मन को अभिधाधिक शुद्ध कर के यह बुद्धि उत्पन्न करने का उपदेश है कि शोधन से संसार की प्रत्येक वस्तु शुद्ध हो जाती है। ब्रह्म से लेकर ढेले तक में कुछ भी ऐसा नहीं है जो परमशिव से भिन्न हो। इन सब में श्रेष्ठ आचार है (७) कौलाचार। इसमें कोई भी नियम नहीं है। इस आचार के साधक साधना की सर्वोच्च अवस्था में उपनीत हो गए होते हैं; और जैसा कि भावचूडामणि में शिवजी ने कहा है, कर्दम और चन्दन में, पुत्र और शत्रु में, श्मशान और गृह में तथा स्वर्ण और तृण में लेशमात्र भी भेद-बुद्धि नहीं रहते—

कर्दमे चन्दनेऽभिन्नं पुत्रे शत्रौ तथा प्रिये ॥

श्मशाने भवने देवि तथा वै काञ्चने तृणे ॥

न भेदो यस्य लेशोऽपि स कौलः परिकीर्तितः ॥

इसी भाव को बताने के लिये मत्स्येन्द्रनाथ ने अ कु ल वी र त ण में कहा है कि जब तक अकुलवीर रूपी अद्वैत ज्ञान नहीं, तभी तक बाकबुद्धि के लोग नाना प्रकार की

जरूपना करते रहते हैं। यह धर्म है, यह शास्त्र है, यह तप है, यह लोक है, यह मार्ग है, यह दान है, यह फल है, यह ज्ञान है, यह ज्ञेय है, यह शुद्ध है, यह अशुद्ध है, यह साध्य है, यह साधक है यह तत्त्व है, यह ध्यान है—ये सब बालबुद्धि के, विकल हैं (अ कु ल बी र तं ब्र-५ ७८-८७)। जिसे यह ब्रह्मैत ज्ञान प्राप्त हो गया रहता है उसे प्राणाध्याम, समाधि और ध्यान-धारणा की आवश्यकता नहीं रहती (१७-२०); वह ब्रह्मा शिव, रुद्र, बुद्ध, देवी आदि उपास्यों से अभिन्न होकर स्वयं ध्यान और ध्याता बन जाता है (२६-२८)—वह यज्ञ-उपवास, पूजा-अर्चना, होम, नित्य-नैमित्तिक विधि, पितृकार्य, तीर्थ-यात्रा, धर्म, अधर्म, स्नान, ध्यान सब के अतीत हो जाता है (४३-४६)। और अधिक कहने से क्या लाभ, वह व्यक्ति समस्त द्वंद्वों से रहित हो जाता है—

अथ किं बहूनोक्तेन सर्वद्वन्द्वविवर्जितः ।

यही मच्छन्दपाद के अवतारित शास्त्र का चरम उक्त्य है ।

जालंधरनाथ और कृष्णपाद

—: ८ :—

(१) साधारण जीवन-परिचय

हमने मत्स्येन्द्रनाथ के समय का विचार करते समय देखा है कि उनके समय के निश्चित होने के साथ ही साथ जालंधरनाथ, गोरक्षनाथ और कृष्णपाद या कानिफा का समय भी निश्चित हो जाता है क्योंकि समस्त परंपराएं बताती हैं कि ये समसामयिक थे। उक्त समय हम पहले ही निश्चित कर चुके हैं, इसलिये उस शास्त्रार्थ में फिर से उलझने की यही जरूरत नहीं है। जालंधरनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ के गुरुभाई थे। तिब्बती परंपरा में मत्स्येन्द्रनाथ के गुरु भी माने जाते हैं। उक्त परंपरा के अनुसार नगर-भोग देश में (१) ब्राह्मणकुल में इनका जन्म हुआ था। पीछे ये एक अच्छे पंडित-भिक्षु बने किन्तु घंटापाद के शिष्य कूमपाद की संगति में आकर ये उनके शिष्य हो गए। मत्स्येन्द्रनाथ, कण्डपा (कृष्णपाद) और तंतिपा इनके शिष्यों में थे। भोटिया ग्रन्थों में इन्हें आदिनाथ भी माना जाता है^१। तनजूर में इनके लिखे हुए सात ग्रंथों का उल्लेख है जिनमें राहुल जी के मतानुसार दो मगही भाषा में लिखे गए हैं। ये दो हैं (१) विमुक्तमंजरीगीत और (२) हंकारचित्तविंदुभावनाकम^२। डाक्टर काह्ये ने तनजूर में प्राप्य बौद्धतंत्रग्रंथों की एक तालिका फ्रेंच भाषा में प्रकाशित की है। उसमें (पृ० ७८ पर) सिद्धाचार्य जालंधरिपाद लिखित एक टिप्पणी ग्रंथ का भी नाम है। सरोरुहपाद के प्रसिद्ध तंत्रग्रंथ हेवज्रसाधनपर टिप्पणीरूप में लिखित इस ग्रंथ का नाम है, शुद्धिवज्रप्रदीप। ये सभी पुस्तकें कायायोग से संबद्ध हैं। प्रसिद्ध है कि ये पंजाब में अधिष्ठित जालंधरपीठ नामक तंत्रिक स्थान में उत्पन्न हुए थे। एक दूसरी परंपरा के अनुसार वे हस्तिनापुर के पुरुवंशी राजा बृहद्रथ के यज्ञाग्नि से उत्पन्न हुए थे, और इसी लिये इनका नाम जालंधरनाथ पड़ा था^३। इस प्रकार तीन स्थानों को इनकी जन्मभूमि बताया गया है, नगरभोग, हस्तिनापुर और जालंधरपीठ। इनकी जति के बारे में भी यही विवाद है। तिब्बती परंपरा के अनुसार ये ब्राह्मण थे; बंगाली परंपरा में ये हाड़ी या हलखोर माने गए हैं; योगिसंप्रदाय या विष्णुति के अनुसार वे युधिष्ठिर की २३ वीं पुस्त में उत्पन्न पुरुवंशीय राजा बृहद्रथ के पुत्र होने के कारण क्षत्रिय थे।

१. गंगा, पुरातनवीक, पृ० २१२-२३

२. यो० सं० आ०, पृ० ८९, ८७

जालवर नाम से अनुमान किया जा सकता है कि ये जालंधरपीठ में या तो उत्पन्न हुए थे या सिद्ध हुए थे। हठयोग की पुस्तकों में एक बंध का नाम जालंधरबंध है। बताया जाता है कि जालंधरनाथ के साथ संबद्ध होने के कारण ही यह बंध जालंधरबंध कहा जाता है। इसी प्रकार गोरक्षनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ के नाम पर भी एक एक बंध पाये जाते हैं। योगशास्त्रीय पुस्तकों में एक और बंध उड्डियानबंध है। यह संभवतः उड्डियानपीठ के किसी सिद्ध द्वारा प्रवर्तित है। गायकवाड़ सीरीज में साधनमाला नामक महत्त्वपूर्ण बौद्ध तांत्रिक ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। इसके संपादक डा० विनयतोष जी भट्टाचार्य का अनुमान है कि उड्डियान उड़ीसा में या आसाम में कहीं है। डा० बागची ने अपनी पुस्तक 'स्टडीज इन दिव्य तंत्र' में (२७-४०) इस मत की समीक्षा की है और योग्यतापूर्वक प्रतिपादन किया है कि उड्डियान वस्तुतः स्वात उपत्यका में ही है और वह जालंधरपीठ के कहीं आसपास ही है। जितनी भी परंपराओं का ऊपर उल्लेख है वे सभी जालंधरनाथ का जन्म स्थान पंजाब को और ही निर्देश करती हैं। यह असंभव नहीं कि जालंधरनाथ का संबंध उड्डियान और जालंधर दोनों बंधों से हो। हमारे इस प्रकार अनुमान का कारण यह है कि उड्डियान में सचमुच ही ज्वालेन्द्र नामक राजा का उल्लेख मिलता है जो आगे चल कर बहुत बड़े सिद्ध हुए थे। तारानाथ (पृ० ३२५) ने उड्डियान देश के दो भाग बताए हैं, एक का नाम सम्भल है और दूसरे का लंकापुरी। अनेक चीनी और तिब्बती ग्रंथों में इस लंकापुरी की चर्चा आती है।^१ सम्भलपुरी के राजा इन्द्रभूति थे और लंकापुरी के जालेन्द्र। इन्हीं जालेन्द्र के पुत्र से इन्द्रभूति की बहन को शादी हुई थी। शंवरतंत्र का संबंध सम्भलपुरी से बताया जाता है। अब इतना निश्चय है कि (१) उड्डियान और जालंधरपीठ पास ही पास हैं। (२) उड्डियान में ही कहीं लंकापुरी है जहाँ कोई जालेन्द्र नामक राजा था^२ जो सुप्रसिद्ध साधक इन्द्रभूति के बहनोई थे^३ और (३) हठयोग के ग्रंथों में उड्डियानबंध और जालंधरबंध नाम के जो बंध हैं उनका संबंध इन में से किसी एक से या अनेक से होना असंभव नहीं है। यह इतना बड़ा कांठन है कि जालेन्द्र राजा ही जालंधर हैं या नहीं।

पौराणिक विश्वास के अनुसार इस जालंधरपीठ में सती के मृत शरीर का— जिसे लेकर उन्मत्तभाव से शिव ताण्डव करने लगे थे—स्नानभाग पातित हुआ था। यह पीठ त्रिगर्त प्रदेश में है जो पंजाब के एक अंश का पुराना नाम है। विश्वास किया

१. स्ट. तं., पृ० ३६

२. राहुल जी ने इन्द्रभूति को लंकापुरी का राजा लिखा है (गंगा, पृ० २२२)। और उनकी बहन लक्ष्मीका के संभन नगर की योगिनी कहा है (पृ० २२४)।

३. उड्डियान और जालंधरपीठ के लिये देखिए—सिनो इंडियन स्टडीज़, जिल्द १, भाग १ में डा० पी सी बागची का वज्रगर्भतंत्रराजसूत्रः पणिज्जवकं आर्यकिंग इण्डो-चै-स्टडी ऐण्ड ज्ञान्स लेक्चर

जाता है कि यहाँ मरने से कीट-पशु-पतंग सभी मुक्त हो जाते हैं। कहते हैं कि जालंधर दैत्य का बध करने के कारण शिव पापग्रस्त हो गए थे और जब इस पीठ में आकर उन्होंने तारा देवी की उपासना की, तब जाकर उनका पाप दूर हुआ। यहाँ की अधिष्ठात्री देवी त्रिशक्ति—अर्थात् त्रिपुरा, काली और तारा हैं। परन्तु स्तनाधिष्ठात्री श्री ब्रजेश्वरी ही मुख्य मानी जाती हैं। इन्हें विद्याराज्ञी भी कहते हैं। स्तनपीठ में विद्याराज्ञी के चक्र तथा आद्या त्रिपुरा की पिण्डी की स्थापना है।

इसमें तो कोई सदेह ही नहीं की जालंधरपीठ किसी जमाने में वज्र्यानी साधना का प्रधान केंद्र था। उसका कोई न कोई चिह्न बड़ा होना चाहिए। इन दिनों वह विशुद्ध हिंदू तीर्थ है। यहाँ अम्बिका, जालपा, ज्वालामुखी, आशापूर्णा, चामुण्डा, तारिणी, अष्टभुजा आदि अनेक देवियों तथा केदारनाथ, वैद्यनाथ, सिद्धनाथ, महाकाल आदि अनेक शिवस्थान तथा व्यास, मनु, जमदग्नि, परशुराम आदि मुनियों के आश्रम हैं। कौन कह सकता है कि ये अनेक वज्र्यानी साधकों के ब्रह्मणीकृत रूप नहीं हैं? यह लक्ष्य करने की बात है कि यद्यपि इस पीठ की प्रधान अधिष्ठात्री शक्ति त्रिशक्ति हैं तथापि मुख्य स्तनपीठ की अधिष्ठात्री देवी का नाम ब्रजेश्वरी है। यद् ब्रजेश्वरी 'वज्रेश्वरी' का ब्रह्मणीकृत रूप तो नहीं है? विषय अनुसंधेय है। जो हो, जालंधरपीठ के प्राचीन और महत्वपूर्ण होने में कोई सदेह नहीं है। परन्तु वे परंपराएं इतनी विकृत हो गई हैं कि इन पर से किसी ऐतिहासिक तथ्य का खोज निकालना दुष्कर ही है।

जालंधरनाथ-विषयक जितनी भी परंपराएं उपलब्ध हैं उनमें इन्द्रभूति की प्रसिद्ध भगिनी लक्ष्मीकरा के साथ उनके किसी प्रकार के संबंध का कोई इशारा भी नहीं है। लक्ष्मीकरा कोई साधारण स्त्री नहीं थी, उन्हें वज्र्यानी परंपरा में बड़े सम्मान के साथ स्मरण किया जाता है। वे चौरासी विद्वानों में एक हैं और 'आचार्या' 'भगवती' 'लक्ष्मी' 'राजकुमारी' 'भट्टारिका' 'महाचार्यश्री' आदि अत्यन्त गौरवपूर्ण विशेषणों से विशिष्ट करके उन्हें याद किया जाता है। तिब्बती अनुवादों में उनके कई ग्रंथ सुरक्षित हैं—प्रती लो ह्यो त न वि ष य प द पं जि का, अ द्व य सि द्धि सा ध न ना म, व्य क्त भा व सि द्धि, स ह ज सि द्धि प द्ध ति ना म, चि त्त क रू प रि हा र दृ ष्टि ना म और व ज्र या न च तु र्द श मू ला प त्ति धृ त्ति। इस प्रकार की प्रसिद्ध और गौरवास्पद महिला से यदि जालंधरनाथ का कोई भी रिश्ता होता तो दन्तकथाओं में उसका कोई न कोई उल्लेख अवश्य मिलता। इस प्रकार वा कोई उल्लेख न होने से हम केवल इतना ही अनुमान कर सकते हैं कि जालेंद्र, ज्वालेंद्र और जालंधर नामों के उच्चारणसाम्य के कारण इनको आपस में जुड़ी तरह से उलझा दिया गया है। परन्तु यह बात फिर भी जोर देकर के ही कही जा सकती है कि जालंधरनाथ का संबंध जालंधरपीठ से भी था और रज्जुयानपीठ से भी।

१ कल्याणशक्ति अं में श्री तारानन्द जी तीर्थ के एक लेख के आधार पर :

लक्ष्य करने की बात है कि जालंधरनाथ के प्रसिद्ध शिष्य कानपा या कृष्णपाद ने अपने गुरु का नाम 'जालंधरिपा' कहा है। राहुल जी ने उनका मगही हिंदी में लिखित जो पद उद्धृत किया है उसमें उनका नाम 'जालंधरि' लिखा है और आज भी जालंधरनाथ का संप्रदाय 'जालंधरिपा' कहलाता है। 'जालंधरिपा' या 'जालंधरिपाद' शब्द सूचित करता है कि ये जालंधर से संबद्ध अवश्य थे, चाहे जन्म से हों, चाहे सिद्धि प्राप्त करने से। वर्तमान अवस्था में इससे अधिक कुछ कह सकना संभव नहीं है।

जालंधरनाथ के शिष्य थे कृष्णपाद जिन्हें कण्डूपा, कान्हूपा, कानपा, कानपा आदि नामों से लोग याद करते हैं। श्री राहुल जी ने तिब्बती परंपरा के आधार पर इन्हें कर्णाटदेशीय ब्राह्मण माना है पर डॉ० भट्टाचार्य ने इन्हें जुनाहा जाति में उग्रन्न और उड़ियाभाषी लिखा है^१। शरीर का रंग काला होने से इन्हें 'कृष्णपाद' कहा गया है। महाराज देवपाल (८०९-८४९ ई०) के समय में यह एक पंडितभिक्षु थे और कितने ही दिनों तक सोमपुरी विहार (पहाड़पुर, जिला राजशाही, बंगाल) में रहा करते थे। आगे चल कर सिद्ध जालंधरपाद के शिष्य हो गए, चौरासी सिद्धों में कवित्व और विद्या दोनों दृष्टियों से ये सब से श्रेष्ठ थे। इनके सात शिष्य चौरासी सिद्धों में गिने जाते हैं जिनमें नखत्ता और मेखत्ता नाम की दो योगिनियां भी हैं^२। इनके बारे में महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है कि इनकी लिखी ५० पुस्तकें प्राप्त हुई हैं और १२ संकीर्तन के पद पाए गए हैं। तनजूर में इन्हें पंद्रह स्थान पर भारतवासी कहा गया है; केवल एक स्थान पर एक उड़ीसादेशी ब्राह्मण कृष्णपाद का नाम है। ये लेकिन मूलग्रंथकार नहीं बल्कि तर्जुमा करने वाले हैं। असल में कई कृष्णपाद या कृष्णाचार्य हो गए हैं। इनका कहीं महाचार्य, कहीं महासिद्धाचार्य, कहीं उपाध्याय और कहीं मण्डलाचार्य कहकर सम्मानपूर्वक नाम लिया गया है^३। राहुल जी के कथनानुसार तन-जूर में दर्शन पर छः और तंत्र पर इनके चौदस ग्रंथ मिलते हैं।^४ दशनग्रंथों में इन्होंने शान्ति देव के बोधिचर्यावतार पर बोधिचर्यावतारदुखबोधपदनिर्णय नामक टीका लिखी थी। इनकी भाषा पर से श्री विनयनोष जी भट्टाचार्य इन्हें उड़ियाभाषी^५, हरप्रसाद शास्त्री बंगलाभाषी^६ और राहुल जी मगही (बिहारी) भाषी^७ कहते हैं। राहुल जी ने निम्नलिखित ग्रंथों को मगही भाषा में लिखित बताया है— (१) कान्हूपादगीतिका, (२) महादुष्टनमूल, (३) वसन्ततिलक, (४) असंबद्धदृष्टि, (५) वज्रगीति और (६) दोहाकोष। बौद्धगान में दोहाकोष संस्कृत टीका सहित छपा है जिसमें बचीस दोहे हैं।

१. साधनमाला, द्वितीय भाग, प्रस्तावना पृ० ५३

२. गंगा, पुरातत्त्विक, पृ० २५४

३. बौ० गा० दो०, पृ० २४

४. गंगा, पृ० २५४

५. साधनमाला (गायकबाब ओरिपंटल सीरीज), पृ० ५३

६. बौ० गा० दो०, पृ० २४

७. गंगा, पृ० २५४-५

आगे इन्हीं दोहों और उसकी संस्कृत टीका के आधार पर कान्हूपाद या कृष्णपाद^१ के सिद्धान्तों का विवेचन किया जायगा। साधनमाता में कुरुकुल्ला देवी की साधना के प्रवर्तकों में इन्हें भी माना गया है^२।

-
१. योगिसंप्रदायाविष्कृति में इन्हीं का नाम करणपानाथ बताया गया है। इस ग्रंथ के अनुसार भगवा जी जब सरस्वती को देखकर मुग्ध हुए तो अपना स्खलित रेतस् उन्होंने गंगा में छोड़ दिया जो किसी हाथी के कान में प्रवेश कर गया। उसी से हरिद्वार के पास कर्ण या करणपानाथ प्रादुर्भूत हुए (पृ० ६३)
 २. परानंदसूत्र : प्रस्तावना पृ०, १०-११

जालंधरपाद और कृष्णपाद का कापालिक मत

हमने ऊपर देखा है कि कान्हूपा या कानपा (कृष्णपाद) ने स्वयं अपने को कापालिक कहा है और अपने को जालंधरपाद का शिष्य बताया है। परवर्ती संस्कृत साहित्य में शैव कापालिकों का वर्णन मिलता है। परन्तु बौद्ध कापालिक मत का कोई उल्लेखयोग्य वर्णन नहीं मिलता। भवभूति के मा ल ती मा ध व नामक प्रकरण से पता चलता है कि सौदामिनी नामक बौद्ध भिक्षुणी श्री पर्वत पर कापालिक साधना सीखने गई थी। मा ल ती मा ध व से जान पड़ता है कि यह कापालिक साधना शैव मत की थी। श्री पर्वत उन दिनों का प्रसिद्ध तंत्रिक पीठ था वज्रयान का उत्पत्तिस्थान भी उसे ही समझा जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि उन दिनों श्री पर्वत पर शैव, बौद्ध और शाक्त साधनाएँ पास ही पास फल फूल रही थीं। वाणभट्ट ने का दं व री और इ र्ष च रित में श्री पर्वत को शाक्त तंत्र का साधनपीठ बताया है। हमारे पास इस समय जालंधरपाद और कृष्णपाद का जो भी साहित्य उपलब्ध है वह सभी वज्रयानियों की मध्यस्थता में प्राप्त हुआ है। यह तो निश्चित ही है कि परवर्ती शैव सिद्धों ने जालंधर और कानपा दोनों को अपनाया है। इसीलिए यह कह सकना कठिन है कि जिस रूप में यह साहित्य हमें मिलता है वही उसका मूल रूप है या नहीं। किन्तु इस उपलब्ध साहित्य से जिस मत का आभास मिलता है वह निस्संदेह नाथमार्ग का पुरोवर्ती होने योग्य है। यहाँ यह बात उल्लेख योग्य है कि कानिपा संप्रदाय को अब भी पूर्ण रूप से गोरखनाथी संप्रदाय में नहीं माना जाता और उनका प्रवर्तित कहा जाने वाला एक उपसंप्रदाय वामारग (= वाम मार्ग) आज भी जीवित है।

विद्वानों का अनुमान है कि यक्षों की पूजा इस देश के उत्तरी हिस्से में बहुत पूर्व से प्रचलित थी। यक्ष, अप्सरा, गधर्व आदि एक ही श्रेणी के देवयोनि माने गए हैं। इन्हीं यक्षों को वज्रधर समझा जाता था। श्री रमाप्रसाद चंद ने (ज० डि० ले०, जिल्द ४) दिखाया है कि बुद्ध-पूर्व युग में यक्षों का कितना महत्वपूर्ण स्थान था। हमने हिंदी साहित्य की भूमिका में दिखाया है कि वरुण, कुबेर और कामदेव वस्तुतः यक्ष देवता हैं। नाना मूर्तियों और उत्कीर्ण चित्रों के आधार पर विद्वानों ने सिद्ध किया है कि धीरे धीरे कुछ यक्ष देवता बौद्ध संप्रदाय के मान्य हो गए।^१ उपासक दशासूत्र में मणिभद्र चैत्य की चर्चा है और संयुक्तनि काय में मणिभद्र यक्ष का उल्लेख है। आगे चलकर मणिभद्र को बुद्ध का शिष्य बताया गया है। एक और यक्ष

वज्रपाणि भी बुद्ध का शिष्य होता है और आगे चलकर बोधिसत्त्व का महत्वपूर्ण पद पा जाता है। यही बोधिचर्यावतार की टीका में (विवृति० इडि०, पृ० ६) बखी अर्थात् वज्रपाणिबोधिसत्त्व कहा गया है। श्री एन० जी० मज्जिमदार ने दिखाया है कि यही वज्रपाणिबोधिसत्त्व आगे चलकर उत्तरी भारत के बौद्ध धर्म के महान् उपास्य हो जाते हैं। एसियाटिक सोसायटी में कृष्णयामारितं (नं० ९९६४) की पाण्डुलिपि में वज्रपाणि को 'सर्वतथागताधिपति' कहकर स्मरण किया गया है और स्पष्ट साहसिकाप्रज्ञापारमिता के सत्रहवें अध्याय में (पृ० ३३३) इन्हें 'महा-यक्ष' कहा गया है। तथागतगुह्यक में इन्हें 'गुह्यकाधिपति' कहा गया है।^१ इस प्रकार बख्यानी ग्रंथों में यद्यपि वज्रपाणि महान् देवता हो गये हैं तथापि उनके यक्ष रूप को भुलाया नहीं गया है। पुराने यक्ष-संप्रदाय का क्या रूप था यह स्पष्ट नहीं है। पर इतना निश्चित है कि यक्ष लोग विलासी हुआ करते थे। अप्सराएँ और कामदेव इनके देवता हैं और सुरापान भी इन में प्रचलित था। वरुण तो वारुणो या मदिरा के देवता ही हैं। इनके विलास का एक भीतिजनक रूप 'यक्ष्मा' शब्द से प्रकट होता है। ऐसा जान पड़ता है कि बौद्ध धर्म में इस संप्रदाय के प्रवेश करने के बाद से बहूतांत्रिक रहस्यमयी साधना प्रचलित हुई जिसमें स्त्री-संग और मदिरा की पूरी छूट थी। ललितविस्तर में यक्षकुल को स्पष्ट रूप से वज्रपाणि का उत्पत्तिस्थल कहा गया है (यक्षकुलम् यत्र वज्रपाणोरुत्पत्तिः)। किस प्रकार यह साधना धीरे धीरे शैव मत को प्रभावित करने में समर्थ हुई यह बात साधना साहित्य के इतिहास की अनेक गुत्थियों को सुलझा सकेगी। इतना स्पष्ट है कि बख्यान के कई देवता शिव के समान हैं।

चर्याचर्यविनिश्चय की टीका में दातकीपाद का एक श्लोक उद्धृत है जिसका अर्थ और पाठ दोनों ही बहुत स्पष्ट नहीं है। इससे 'कापालिक' शब्द को मूल व्युत्पत्ति का आभास मिल जाता है। प्राणी वज्रधर है, जगत् की स्त्रियाँ कपालवनिता हैं (अर्थात् 'कपालिनी' हैं) और साधक हेरुक भगवान् की मूर्ति है जो उससे अभिन्न हैं।^२ ऐसा जान पड़ता है कि स्त्रीजन साध्य होने के कारण ही यह साधना कापालिक

१. वही।

२. हरप्रसाद शास्त्री का पाठ इस प्रकार है—

"प्राणी वज्रधरः कपाल-वनितातुल्यो जगत् स्त्रीजनः

सोऽहं हेरुक मूर्तिरेव भगवान् यो नः प्रभिन्नोऽपि च ।" इत्यादि।

डा० प्रबोध चंद्र बागची महाशय ने मुझे बताया है कि तिवर्ती अनुवाद के साथ मिलान पर उन्हें मालूम हुआ है कि 'नः प्रभिन्नोऽपि च' के स्थान पर 'न प्रभिन्नोऽपि च' पाठ होना चाहिए। चर्याचर्यविनिश्चय में वही स्थान पर (पृ० २८, २३) इस आचार्य का नाम 'दातकीपाद' दिया हुआ है पर डा० बागची महाशय ने मुझे बताया है कि वस्तुतः यह "दातकीपाद" होना चाहिए।

कही गई है। साधनमाला के ४६९ वें पृष्ठ पर हेरुक की साधना का उल्लेख है जो बहुत कुछ नटराज शिव से मिलता है।^१ हिन्दू शास्त्रों के अनुसार हेरुक शिव के एक गण का नाम है।

मालतीमाधव में इन कापालिकों का जो प्रसंग है वह इतना पर्याप्त नहीं है कि उस पर से कुछ विस्तृत रूप से इनके विषय में जाना जा सके। दातडीपाद या दाओड़ी-पाद बौद्ध वज्रयानी साधक थे। उनके श्लोक से इतना तो स्पष्ट ही होता है कि कापालिक साधना में स्त्री की सहायता आवश्यक थी। आधुनिक नाथमार्ग में बज्रोली नामक जो मुद्रा पाई जाती है उसमें भी स्त्री का होना परम आवश्यक माना गया है। मालतीमाधव का कापालिक अधोरघट अपनी शिष्या कपालकुण्डला के साथ योग-साधन करता था। सब मिलाकर ऐसा लगता है कि क्या शैव और क्या बौद्ध दोनों कापालिक साधनाओं में स्त्री की सहायता आवश्यक थी। नीचे हम दोनों प्रकार की साधनाओं का साधारण परिचय देने का प्रयत्न कर रहे हैं।

मालतीमाधव में कुछ थोड़े से श्लोक हैं जिन पर से इस मत का एक साधारण परिचय मिल जाता है। पंचम अंक के आरंभ में ही कपालकुण्डला शिव की स्तुति करती पाई जाती है। इस श्लोक^२ का अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है : 'छः-अधिक-दस नाड़ी-चक्र के मध्य में स्थित है आत्मा जिसको, जो हृदय में निवासित-रूप है, जो सिद्धि है उसे पहचानने वालों का, आविर्बल चित्त वाले साधक जिसे खोजा करते हैं उन शक्तियों से पारणद्ध शक्तिनाथ की जय हो।' इस श्लोक की ठोका-ठोक व्याख्या क्या है, यह टोकाकार जगद्धर को भी नहीं मालूम था। उन्होंने प्रायः प्रत्येक पद की व्याख्या मदा-तान सभावित अर्थ बताए हैं। 'शक्तियों से पारणद्ध' इस शब्दसमूह की व्याख्या के प्रसंग में उन्होंने बताया है कि इसका अर्थ सभव है। ब्राह्मी-माहेश्वरी-कोमारा-वैष्णवी-वाराही-माहेंद्री-चामुण्डा-चाण्डिका ये आठ शक्तियाँ हैं; इनसे शिव को वाष्टत कहा गया है क्योंकि वे भैरव-मूर्ति हैं या फिर इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि ज्ञान-इच्छा-प्रयत्न (क्रिया)-रूप शक्तियों से युक्त शक्तिनाथ शिव। इन दोनों अर्थों के अलावा जगद्धर ने कोई प्रमाणवचन नहीं उद्धृत किए। इससे अनुमान होता है कि सामान्य तार्त्रिक विश्वासों के आधार पर ही यह व्याख्या की गई है, किसी कापालिक ग्रंथ के आधार पर नहीं। परन्तु यह लक्ष्य करने की बात है कि भवभूति ने 'शक्तिनाथ' शब्द का प्रयोग किया है जो कापालिकों में प्रचलित नाथ शब्द

१. साधनाओं में त्रिनयन हेरुक का ध्यान भी दिया हुआ है। एक उल्लेख्य बात यह है कि हेरुक कानों में कुंडल धारण किए हुए बताए गए हैं (साधनः २४४) और २४५ वीं साधना में इस कुण्डल को 'नरास्थि' अर्थात् मनुष्य की हड्डियों से बना हुआ कहा गया है (दे० पृ० ४७५)

२. षडधिकदशनाडीचक्रमध्यस्थितात्मा हृदिविनिहितरूपः सिद्धिदस्तिद्वितीयः।

अविचलितमनोभिः साधकैर्मन्त्र्यमाणः स जयति परिणद्धः शक्तिभिः शक्तिनाथः ॥

से उनके परिचय का सबूत है। और यह अनुमान करना अनुचित नहीं है कि वे शैव-कापालिकों से अच्छी तरह परिचय रख कर ही अपना नाटक लिख रहे थे। 'षडधिकदश' या 'छ-अधिक-दस' नाड़ीचक्र भी टीकाकार के लिये वैसी ही समस्या रह है। इस शब्द के उन्होंने तीन अर्थ किए हैं। प्रथम और प्रधान अर्थ यह है: कान-नाभि हृदय-कंठ-तालु और भ्रू के मध्यवर्ती छः ऐसे स्थान हैं जहाँ अनेक नाड़ियों का संघट्ट या सम्मिलन है। ये संघट्ट-स्थान हृदय आदि में अधिष्ठित प्राण विशेष के चलन योग से बने हुए चक्रों की भांति हैं और इन स्थानों पर शिव और शक्ति का मिलन होता है। सब मिला कर १०१ नाड़ियाँ ऊपर नीचे और बाये बाये छितराई हुई हैं उनमें अधिक प्रधान दस हैं—इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, रंशरी, हस्तिजिह्वा, पूषा, अरुणा, अलम्बुषा, कुहू और शंखिनी^१। इनके समूह में हृदय-पद्म के बीच सूक्ष्म आकश देश में—जो प्राणादि का आधार है—शिवस्वरूप कूटस्थ आत्मा स्थित है। यद्यपि यह सिर से लेकर पैर तक समस्त स्थानों को व्याप्त करके विराजमान है तथापि इसका मुख्य स्थान हृदयपंकज ही है।^२ दूसरा अर्थ यह है: सोलह नाड़ियों के चक्र में स्थित है आत्मा जिसकी। टीकाकार ने सोलह नाड़ियों का न^३ तो कोई ग्रन्थान्तरलभ्य प्रमाण ही दिया है और न नाम ही बताए हैं। केवल 'नृत्ति शिवमयं मतम्' कहकर इस प्रसंग को समाप्त कर दिया है। तीसरा अर्थ है, छः अधिक-दस नाड़ी चक्र। परन्तु इस श्लोक से इतना स्पष्ट प्रतिपन्न होता है कि (१) भवभूति का जाना हुआ कापालिक मत परवर्ती नाथपंथियों के समान नाड़ियों और चक्रों में विश्वास करता था, (२) शिव और जीव की अभिन्नता में आस्था रखता था (३) योग द्वारा चित्त के बाह्यत्व को रोकने से ही कैवल्य रूप में अवस्थित शिवरूप आत्मा का साक्षात्कार होता है, ऐसा मानता था और (४) शक्तियुक्त शिव की प्रभविष्णुता में ही विश्वास रखता था।

इसके बाद वाले श्लोक से^४ पता चलता है कि कपालकुण्डला ने जो साधना की थी उसमें नाड़ियों के उदयक्रम से पंचामृत का आकर्षण किया था और इसके फलस्वरूप बनायास ही आकाशमार्ग से विचरण कर सकती थी। टीकाकार ने 'पंचामृत' शब्द के भी अनेक अर्थ किए हैं। प्रथम अर्थ है क्षिति-अप् आदि

१. सि० सि० सं० ६३-६५ से तुलनीय।

२. आशिखश्चरणं देहं यद्यपि व्याप्य तिष्ठति।

तथ पास्य परं स्थानं हृत्पङ्कजमुदाहृतम् ॥

३. कापालिक सिद्ध कृष्णपाद (कानिषा) के पदों की टीका में नाड़ियों की संख्या बत्तीस बताई गई है (बौ० ग० दो० पृ० २१) और कहा गया है कि इनमें अवधूतिका प्रधान है।

४. नित्यं न्यस्तपडङ्गचक्रनिहितं हृत्पद्ममध्योदितम्।

पश्यन्ती शिवरूपिणं लयदशादात्मानमभ्यागता ॥

नाडीनामुदयक्रमेण जगतः पञ्चामृताकर्षणात्।

अप्राप्तोत्पतनश्रमा विषट्यन्त्यग्रे नभोऽम्भोदुचः ॥

पाँच तत्व; दूसरा अर्थ है विदुस्थान से कुण्डलिनी के सावण से भरता हुआ रस विशेष या फिर रसना के नीचे से स्थित रंभ से भरने वाला रस विशेष। व्यापक होने से उसे 'पंच' सख्या से सूचित किया गया है (!); तीसरा अर्थ है : जगत् के शरीर के पाँच अमृत जो शिवशक्त्यात्मक हैं। ये हैं रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द। लेकिन 'पञ्चामृत' का जो असली अर्थ है उसे टीकाकार ने दिया ही नहीं। ये पंचअमृत शरीर-स्थित पाँच द्रवरस हैं—शुक्र, शोणित, मेद, मज्जा और मूत्र। इनको आर्कषण करके ऊपर उठाने की क्रिया से शरीर को वज्रवत् बनाया जा सकता है, अणिमादिक सिद्धियाँ पाई जा सकती हैं। वज्रयानी साधकों में तथा कौलमार्गी तंत्रिकों में भी यह विधि है। नाथमार्ग में जो वज्रोली साधना है उसे इस साधना का भग्नावशेष समझना चाहिए।

ऐसा जान पड़ता है कि अन्यान्य तंत्रिकों की भाँति कापालिक लोग भी विश्वास करते थे कि परमशिव ज्ञेय है, उपास्य हैं उनकी शक्ति और तदयुक्त अपर या सगुण शिव। इसी बात को लक्ष्य करके देवीभागवत में कहा गया है कि कुण्डलिनी अर्थात् शक्ति से रदित शिव भी शिव के समान (अर्थात् निष्क्रिय) हैं—शिवोऽपि शक्त्या यात कुण्डलिन्या विवर्जितः।^१ और इसी भाव को ध्यान में रख कर शंकराचार्य ने सौ न्द र्य ल ह री में कहा है कि शिव यदि शक्ति से युक्त हों तभी कुछ करने में समर्थ हैं नहीं तो वे हिल भी नहीं सकते—

शिवः शक्त्ययुक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं ।

न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥

तंत्रिक लोगों का मत है कि परमशिव के न रूप है न गुण, और इसीलिये उनका स्वरूप-लक्षण नहीं बताया जा सकता। जगत् के जितने भी पदार्थ हैं वे उससे भिन्न हैं और केवल 'नेति नेति' अर्थात् 'यह भी नहीं, वह भी नहीं' ऐसा ही कहा जा सकता है। निर्गुण शिव (पर-शिव) केवल जाने जा सकते हैं; उपासना के विषय नहीं हैं। शिव केवल ज्ञेय हैं। उपास्य तो शक्ति हैं। इस शक्ति की उपासना के बहाने भवभूति ने कारालिकों के मुख से शक्ति के क्रीड़न और ताण्डव का बड़ा शक्तिशाली वर्णन किया है।^२ शक्तियों से वेष्टित शक्तिनाथ की महिमा वर्णन करने के कारण यह अनुमान अवगत नहीं जान पड़ता कि कापालिक लोग भी परमाशिव को निष्क्रिय-निरञ्जन होने के कारण केवल ज्ञान मात्र का विषय (ज्ञेय) समझते हों।

वस्तुतः दसवीं शताब्दी के आसपास लिखी हुई एक दो और पुस्तकों में भी शैव कापालिकों का जो वर्णन मिलता है वह ऊपर की बातों को पुष्ट ही करता है। प्रबोधचन्द्रोदय नामक नाटक में सोमसिद्धान्त नामक कापालिक का वर्णन है।

१. सावकटम्भ निशुम्भ संभ्रमनमदभूगोलनिष्पीडन—

भ्यन्तर्कर्षकूर्मकर्म विगलद्वज्ज्वाण्डखण्डतिथिति ।

पाताल प्रतिमल्लगलविषप्रक्षिप्तसप्तार्णव

बन्धे नन्दित मीलकंठपरिषदु शक्तिद्विवः क्रीडितम् ॥ ५।२२

वह मनुष्य की अस्थियों की माला धारण किए था, स्मशान में वास करता था और नरकपाल में भोजन किया करता था। योगांजन से शुद्ध दृष्टि से वह कापालिक जगत् को परस्पर भिन्न देखते हुए भी ईश्वर (= शिव) से अभिन्न देखा करता था^१। प्र बो ध चं द्रो द य की चं द्रि का नामक व्याख्या में 'सोम-सिद्धान्त' नाम का अर्थ समझाया गया है। सोम का अर्थ है उमा-सहित (शिव)। जो व्यक्ति बिश्वास करता है कि शिव जिस प्रकार नित्य उमा-सहित कैलास में विहार करते हैं उसी प्रकार कान्ता के साथ विहार करना ही परम मुक्ति है वही सोम-सिद्धान्ती है। खो के साथ विहार करने के सिवा इन लोगों के मत में अन्य कोई सुख है ही नहीं। सदाशिव जब प्रसन्न होते हैं तो ऐसे सुख को दुःख अभिभूत नहीं करता अतएव वह नित्यसुख कहा जाता है^२। प्र बो ध चं द्रो द य से यह भी पता चलता है कि ये लोग चर्ची, झूत आदि सहित मनुष्य के मांस की आहुति देते थे, नरकपाल के पात्र में सुरा-पान करते थे, ताजे मानव-रक्त के उपहार से महाभैरव की पूजा किया करते थे^३ और सदा कपालिनी (= कपाल-वन्तिता) के साथ रहा करते थे। मदिरा को ये लोग 'पशुपाश-समुच्छेद-कारण' अर्थात् जीव के भवबंधन को काटनेवाला समझते थे।

इसी प्रकार राजशेखर कवि की लिखी हुई क पूर् र मं ज री में भैरवानन्द नामक कापालिक की चर्चा है। ये अपने को 'कुलमार्ग लग्न' या कौल सिद्ध कहते थे। प्र बो ध चं द्रो द य के कापालिक को भी 'कुलाचार्य' कह कर संबोधन किया गया है। क पूर् र मं ज री के कापालिक ने बताया है कि कुलमार्ग के साधक को न मंत्र की जरूरत है, न तंत्र की, न ज्ञान की, न ध्यान की यहाँ तक कि गुरुप्रसाद की भी जरूरत नहीं है।

१. नरस्थिमालाकृतचादभूषणः

स्मशःनवासी नृकपालभूषणः ।

पश्यामि योगांजनशुद्धचक्षुषा

जगन्मिथो भिन्नमभिन्नमीश्वरात् । ३।१२

२. तत्र स्त्री-संभोगादि द्यतिरेकेण सुखान्तरं नरित । सदा शिवप्रसाद महिम्ना तादृशसुखस्य दुःख नभिभूतवान्मिथ्यसुखत्वम् । इति सोम-सिद्धान्त रहस्यम् ।

३. मरितकाम्प्रवसाभिपूरितमहामांसाहुतिर्जुह्वतां

वह्नौ ब्रह्मकपालकल्पितसुरापानेन नः पारया ।

सद्यः कृतकठोरकंठविगलत् कीलात्पथारोज्ज्वलै—

रत्नैर्नः पुद्गलोपहारः स्तिभिर्देवो महाभैरवः ।

वे मद्यपान करते हैं। स्त्रियों के साथ विहार करते हैं और सहज ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इस में कोई संदेह नहीं कि नाटककार ने इनके मत को जैसा समझा था वैसा ही चित्रित किया है। इन चित्रणों को हमें उचित सतर्कता के साथ ही ग्रहण करना चाहिए। कापालिकों के संबंध में जनसाधारण की जैसी धारणा थी उसी का चित्र इन नाटकों में मिलता है। सर्वत्र ये कापालिक शैव साधक समझे गये हैं। इसी प्रकार पुष्पदन्त विरचित मंडापुराण में अनेक स्थलों पर कापालिकों और कौलाचार्यों का उल्लेख है। सर्वत्र उन्हें शैव, योगी माना गया है और सर्वत्र उनके मद्यपान का उल्लेख है।

जालंधरपाद का कहा जाने वाला एक अपभ्रंश पद राहुल जी को नेपाल में मिला है। यद्यपि इसकी भाषा 'बिल्कुल बिगड़ी हुई है' तथापि इस पद से उनके मत के विषय में एक धारणा बनाई जा सकती है। यद्यपि जालंधरपाद अक्षयनिरंजन-निरालंब शून्य को नमस्कार कर रहे हैं और यह लग सकता है कि वे बौद्ध लोगों की भांति एक अनिर्वचनीय 'शून्य' को अपना उपास्य मानते हैं तथापि इस अस्पष्ट पद से भी यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि वे सहपाद के 'महासुख' नामक 'सत्' आनन्द को ही चरम प्राप्तव्य मानते हैं। एक ऐसा समय गया है जब सहजयानी और वज्रयानी साधक शून्य को निषेधात्मक न मानकर विध्यात्मक या धनात्मक रूप में समझने लगे थे। इसी भाव के बताने के लिये वे 'सुखराज' या 'महासुख' शब्द का व्यवहार करते थे। ये साधक चार प्रकार के आनन्द मानते थे, प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द। अन्तिम और श्रेष्ठ आनन्द सहजानन्द है। यही सुखराज है, यही महासुख है, इसे किसी शब्द से नहीं समझाया जा सकता। यह अनुभववैकगम्य है। इसमें इन्द्रिय

१. मन्तो ण तन्तो ण अ किं पि जाणं

भाणं च णो किं पि गुरुप्पपादा।

मज्जं पियामो महिलं रमामो

मोक्खं च जामो कुलमगलरगा ॥

रशडा चशडा दिविल्ला धम्मदरा

मज्जं मसं जिणं खजणं अ।

भिक्षा भोजं चम्मखंडं च सेजा

केलो धम्मो कसणो भोदि रम्मो ॥

मुत्ति भण्णि हरिब्रह्ममुखादि देवा

भाणोण वेअपठणेण कटुकिअए।

एकेणकेवलमुमादरणं दिट्ठो

मोक्खो समं सुर अकेलि सुरारसेदि ॥

बोध लुप्त हो जाता है, आत्मभाव या अस्मिता विलुप्त हो जाती है, 'केवल' रूप में अवस्थिति होती है। सरहपाद ने इसी भाव को बताने के लिये कहा है—

इन्दिम जतथ विलभ गउ

एद्विउ अप्प सहावा ।

सो हत्ते सहजन तनु फुड्ड

पुच्छहि गुरु पावा ।

इतना वे लोग भी मानते थे कि सर्वज्ञ भगवान् बुद्धदेव ने इप शब्द का कभी प्रयोग नहीं किया और इप भाव की प्रवृत्ति के लिये कुछ भी नहीं कहा। परन्तु साथ ही, वे बुद्धदेव के मौन को अपने पक्ष की पुष्टि में ही उपयोग करते थे। उनका कहना था कि यद्यपि भगवान् बुद्ध सर्वज्ञ थे तथापि वे इस महासुखराज के विषय में जो मौन रह गए, वह इसलिये निराशावाणी से परे था—'जय हो इस कारणरहित सुखराज की जो जगत् के नाशमान चञ्चल पदार्थों में एकमात्र स्थिर वस्तु है और सर्वज्ञ भगवान् बुद्ध को भी इसकी व्याख्या करने समय वचन-दरिद्र हो जाना पड़ा था !

जयति सुखराज एष कारणरहितः सदोदितो जगताम् ।

यस्य च निगदनसमये वचनदरिद्रो बभूव सर्वज्ञः ॥

—नहपाद की से हो दे श की टीका में सरहपाद का वचन (पृ० ६३)

मो, यह सुखराज ही साग है, यही शून्यावस्था है क्यों कि इसका न आदि है न अन्त है न मध्य है। न इसमें अपने का ज्ञान रहता है न पराये का। न यह जन्म है न मोक्ष; न भव, न निर्वाण ! इसी अदूर्व महासुखराज को सरहपाद ने इस प्रकार कहा है—

आइए अन्त ए मज्झ एउ,

एउ भव एउ एिन्वाए ।

पहु सो परम महासुद,

एउ पर एउ अप्पए ॥

—ज० डि० ले०, पृ० १३

हमने पहले ही देखा है कि जालंधरपाद ने सरहपाद के ग्रंथ पर एक टिप्पणी लिखी थी, इसलिये उनके ऊपर सरहपाद के विचारों का प्रभाव होना बिल्कुल स्वाभाविक है। राहुलजी ने नेपाल के बौद्धों में प्रचलित चर्चा की नि नामक पुस्तक से जो पद संग्रहित किया है वह स्पष्ट रूप से सरहपाद के बताए हुए उक्त मत का समर्थन करता है। वे चतुरानन्द (चर प्रकार के आनन्द) की बात कहकर बताते हैं कि परमानन्द और विरमानन्द के बीच ही जो आनन्द (=सहजानन्द) आच्छन्न नहीं हो जाता, जो सब के ऊर्ध्व में और सबके अतीत है वह 'महासुख' है। जालंधरपाद ने उस महासुख को अनुभव किया था—

आनन्द परमानन्द विरमा, चतुरानन्द जे संभवा ।

परमा विरमा माझे न छादिरे महासुख सुगत संप्रदप्रपिता ॥

— गंगा, पु०, पृ० २५३

यह महासुख शैव तंत्रिकों के महजानंद के बहुत नजदीक है। इसलिये आश्रय नहीं कि जालंधरपाद की परवर्ती साहित्य में शैव सिद्ध मान लिया गया है।

वर्तमान अवस्था में उनके मत के विषय में इससे कुछ अधिक कह सकना संभव नहीं है परन्तु उनके शिष्य कृष्णपाद के मत के विषय में कुछ अधिक कह सकना संभव है। उनके कई पद और दोहे प्राप्त हुए हैं और उन पर संस्कृत टीका भी उपलब्ध हुई है। संक्षेप में, आगे उनके मत का सार सङ्कलन किया जा रहा है। यहाँ इतना कह रखना उचित है कि म० म० पं० गोपीनाथ कविगज ने सिद्धान्त वाक्य से गोपीचंद्र और जालंधरनाथ का जो संवाद उद्धृत किया है^१ वह बहुत परवर्ती जान पड़ता है। वस्तुतः वह अपभ्रंश से या पुरानी हिंदी से संस्कृत में रूपान्तरित जान पड़ता है। हम आगे गो र ष षो ष के प्रसङ्ग में उस पर विचार करेंगे।

कान्हूपाद या कृष्णपाद (कान्तिपा) के दोहों का एक संग्रह दो हा को ष नाम से श्री हरप्रसाद शास्त्री ने छायाया है। उस पर मे ख ला^२ नामक संस्कृत टीका भी मिली है। इनको फिर से तिब्बती अनुवाद से मिलाकर डा० बागची ने सम्पादन किया है। इन दोहों के अतिरिक्त चर्या चर्य विनिश्चय में संस्कृत टीका के साथ उनके कई पद भी छपे हैं। इन्हीं सब के आधार पर नीचे का सङ्कलन प्रकाशित किया जा रहा है।

कृष्णपाद मानते थे कि इस शरीर में ही चरम प्राप्तव्य की प्राप्ति होती है। शरीर का जो मेरुदण्ड है वही कंकाल-दण्ड कहा जाता है, इसे ही मेरु पर्वत कहते हैं क्योंकि श्री सम्पुटतन्त्र में कहा गया है कि पैरों के तलवों में भैरवरूप धनुषाकार वायु का स्थान है, कटिदेश में त्रिकोण उद्भूत है जिसके तीन दलों पर वर्तलाकार बरुण का वास है और हृदय में पृथ्वी है जो चतुरस्र भाव से सब ओर व्याप्त है। इसी प्रकार कंकाल-दण्ड के रूप में गिरिराज सुमेरु स्थित है^३। इसी गिरिराज के कन्दर कुदर में नैरात्म धातु जगत् उत्पन्न होता है। इसी गिरिकुदर में स्थित पद्म में यदि बाधचित्त पतित होता है तो कालाग्नि का प्रवेश होता है और सिद्धि में बाधा बढ़ती है^४ क्योंकि शुक्र

१. स० म० स्ट० जिल्द ६: पृ० २७

२. कृष्णपाद की एक शिष्या का नाम भी मेखला था। यह अनुमान किया जा सकता है कि टीका ऊर्षी की लिखी हो। मेखला वज्रयान-संप्रदाय में बहुत गौतम का पात्र मानी जाती है, ये चैतरीसी सिद्धों में एक हैं। चर्या रत्नाकर में मेखला नाम से जिस नाथ सिद्ध का उल्लेख है वे यही हैं।

३. श्रितः शरीरं ततो न युर्ध्वं धनुः कुम्भिः ।
स्थितोऽस्ति कटिदेशे तु त्रिकोणोऽभ्यन्तथा ॥
वर्तुलाकाररूपे हि वरुणस्त्रिदले स्थितः ॥
हृदये पृथिवी चैव चतुरस्र समन्ततः ।
कंकालदण्डरूपे हि सुमेरुगिरिराज तथा ॥

४. वर गिरि कन्दर कुदिर जगु तदि सञ्जल चित्तस्थि ।

विमल सलिल सोसजाह कालाग्नि पइइह ॥ १४ ॥

सिद्धि नामक ग्रंथ में स्पष्ट ही लिखा है कि यदि सर्वसिद्धि का निधान बोधचित्त (=शुक्ल, नाथ पंथियों का बिंदु) नीचे की ओर पतित हो और स्कंधविज्ञान मूर्च्छित हो जाय तो उत्तम सिद्धि कहाँ से प्राप्त हो सकती है ?^१

यहाँ यह समझ रखने की जरूरत है कि समस्त बौद्ध वज्रयानी और सहजयानी साधक मानते हैं कि दो प्रकार के सत्य होते हैं (१) लोकसमृत्त-सत्य अर्थात् लौकिक सत्य और पारमार्थिक सत्य अर्थात् वास्तविक सत्य लोक में बोधचित्त का अर्थ स्थूल शारीरिक शुक्ल है जब कि पारमार्थिक सत्य में वह ज्ञात रूप चित्त है इसी प्रकार पद्म और वज्र के सांघृतिक अर्थ स्त्री और पुरुष के जननेन्द्रिय हैं परन्तु पारमार्थिक अर्थात् वास्तविक अर्थ आध्यात्मिक हैं जो भागे स्पष्ट होंगे। कृष्णार्च्यपाद के एक पद की टीका में टीकाकार ने बताया है कि जो लोग गुरु संप्रदाय के अन्दर नहीं हैं वे लोग सांघृतिक (व्यावहारिक) अर्थ लेकर शरीर रूप कमल के मूलभूत बोधचित्त को 'शुक्ल' समझते हैं^२ कृष्णार्च्यपाद ने इस वृत्ति को मार डालने का सङ्कल्प प्रकट किया था। स्कंध विज्ञान के मूर्च्छित होने का क्या अर्थ है, यह समझना जरूरी है। इसीलिये इसके विकास पर एक सरसरी निगाह दौड़ाकर हम आगे बढ़ेंगे।

किस प्रकार यह त्रासक प्रवृत्ति बौद्ध मार्ग में प्राविष्ट हुई थी, इसका इतिहास बहुत मनोरंजक है। इस विषय से भद्रन्त शान्तिमित्र ने विष्णु भारती पत्रिका में एक महत्त्वपूर्ण लेख लिखा है। अनुसंधित्सु पाठकों को वह लेख (वि० भा० प०, खंड ४, अंक १) पढ़ना चाहिए। यहाँ प्रकट विषय से संबद्ध कुछ तथ्यों का संकलन किया जा रहा है, इससे परवर्ती प्रसंग स्पष्ट होगा। जो साधक साधनामार्ग में अप्रसर होने की इच्छा रखता है उसे लिये चित्त को वश में करना परम आवश्यक है। इस चित्त में यदि कामनाओं के उपभोग न करने का कारण तो भ्रष्टा तो साधना मिट्टी में मिल जायगी। यही सोचकर अनङ्गवज्र ने कहा था कि इस प्रकार प्रवृत्त होना चाहिए जिस से चित्त लुभित न हो। यदि चित्तरत्न संलुब्ध हो गया तो कभी सिद्धि नहीं मिल सकती।^३ फिर यह विज्ञोभ दमन कैसे किया जाय? वासनाएँ दवाने से मरती नहीं अपितु और भी अन्तस्तल में जाकर छिप जाती हैं। अवसर पाते ही वे उद्वुद्ध हो जाती हैं और साधक को दबोच लेती हैं। इसी लिये उनकी दवाना ठीक नहीं। उचित पंथा यह है कि समस्त कामनाओं का उपभोग किया जाय तब शीघ्र चित्त का संतोष दूर होगा और सच्ची सिद्धि प्राप्त होगी।^४ इस प्रकार कामोपभोग का साधना-क्षेत्र में प्रवेश हुआ। इस साधना की

१. पतिते बोधचित्ते तु सर्वसिद्धि निधानके।

मूर्च्छिते स्कंधविज्ञाने कुतः। (अद्विनिन्दिता) ॥

२. गुरुसंप्रदायविद्वानस्य सैव बोधचित्तो अप्रपञ्चशुद्धाऽवधूतिका सरोवरं कायपुष्करं तन्मूल तदेव बोधचित्तं संवृत्ता शुक्लरूप मारयाम् ॥—वै० गा० दो०, ५०, २१

३. तथा तथा प्रवर्तते यथा न लुभ्यते मनः।

संलुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदाचन ॥

४. दुष्करैरनियमैस्तान्नैः सेव्यमानो न सिद्ध्यति।

सर्वकामोपभोगैस्तु सेवयंश्च न सिद्ध्यति ॥

पृष्ठभूमि में शून्यवाद था। शून्यता और समस्त अभावों और अभावों से मुक्त निःस्वभावता ही साधक का चरम लक्ष्य है। कामनाओं के उपभोग के लिये स्त्री की आवश्यकता है इसीलिए वज्रयान में पाँच बुद्धों और अनेक बोधिसत्त्वों की शक्ति कल्पना की गई है। सिद्धिप्राप्ति के लिए गुरु की आवश्यकता है, इसलिये जो बुद्ध सिद्ध हो गए हैं उनके भी गुरु हैं यह गुरु शून्यता ही है, जैसे गुरु का धर्म साधु है, और अग्र वा धर्म-क्षण है उसी प्रकार समस्त धर्मों का धर्म—समस्त स्वभावों का स्वभाव—शून्यता है। शून्यता का मूर्त रूप ही वज्रसत्त्व है। वज्रसत्त्व वज्रधर, वज्रपाणि, तथागत इसी शून्य के नाम है, यही वज्रधर समस्त बुद्धों के गुरु है।

बौद्ध दशान में समस्त पदार्थों को पाँच स्कंधों में विभक्त किया गया है—रूप स्कंध, वेदना स्कंध, संज्ञा स्कंध, संस्कार स्कंध और विज्ञान स्कंध। इस शरीर में भी ये ही पाँच तत्त्व हैं और पाँचों बुद्ध—वैरोचन, रत्नसंभव, अमिताभ, अमोघसिद्ध और अक्षोभ्य इन्हीं पाँच स्कंधों के विग्रह हैं। इन बुद्धों की पाँच शक्तियाँ हैं, और नाना भाँति के, चिह्न, रंग, वण, कुल आदि हैं। इस प्रकार समस्त बुद्धों की आश्रयभूमि जिस प्रकार समस्त विश्वब्रह्माण्ड है उसी प्रकार यह शरीर भी है। इसीलिये शरीर की साधना परम आवश्यक है। काया-साधना से शून्यता रूप परम प्राप्य प्राप्त किया जा सकता है। समस्त बुद्धों और उनकी शक्तियों की आवासभूमि यह शरीर है। नीच भदन्त शान्तिभिन्दु के लेख से एक कोष्ठक उद्धृत किया जा रहा है जिससे बुद्ध, उनकी शक्तियाँ, रंग, रूप, चिह्न और कुल आदि का परिचय हो जायगा। आगे चलकर हम देखेंगे कि यह साधना नाथ साधना का या तो पूर्वरूप है, या उससे अत्यधिक संबद्ध है।

पाँच स्कंध	पाँच तथागत या ध्यानी बुद्ध	रंग	वर्ण	चिह्न	पाँच कुल	शक्तियाँ	शक्तियों के दूसरे नाम	तत्त्व	रंग (तत्त्वों के)	चिह्न
रूप	वैरोचन	शुद्ध	कवर्ग	शुद्ध चक्र	मोह	मोहरति	लोचना	पृथ्वी	शुद्ध	चक्र
वेदना	रत्न-संभव	पीत	टवर्ग	रत्न	ईर्ष्या	ईर्ष्यारति	तारा	वायु	श्याम	नील कमल
संज्ञा	अमिताभ	रक्त	तवर्ग	पद्म	राग	रागरति	पाण्डुर वासनी	तेज	रक्त	पद्म
संस्कार	अमोघसिद्ध	श्याम	पवर्ग	वज्र	वज्र	वज्ररति	...	...	...	...
विज्ञान	अक्षोभ्य	कृष्ण	चवर्ग	कृष्ण-वज्र	द्वेष	द्वेषरति	मामकी	जल	कृष्ण	कृष्ण वज्र
शून्यता	वज्रसत्त्व	शुद्ध	अन्तःस्थ	वज्रघंटा			प्रज्ञापारमिता			

१. गुदे मधुरता चाने रूपस्य प्रकृतिर्यथा।

शून्यता सर्व धर्मोणां तथा प्रकृतिरिष्यते ॥

अब इस मानव शरीर का प्रधान आधार उसकी रीढ़ या मेरुदण्ड है। सो, इस मेरुदण्ड के भीतर तीन नाड़ियाँ से होता हुआ प्राणवायु संचरित होता है। बाईं नासिका से ललना और दाहिनी नासिका से रसना नामक प्राणवायु को वहन करने वाली नाड़ियाँ चञ्चती हैं (नाथ-पंथियों की इड़ा-पिंगला से तुलनीय) जिनमें पहली प्रज्ञा-चंद्र है और दूसरी उषा सूर्य। प्रज्ञा और उषा नाथ-पंथियों की इच्छा और क्रिया शक्ति की समशील हैं। मध्यवर्ती नाड़ी अवधूती है जो नाथपंथियों की सुषुम्णा की समशील है। इस नाड़ी से जब प्राणवायु उध्वंगल को प्राप्त होता है तो ग्राह्य और ग्राहक का ज्ञान नहीं रहता इसीलिये अवधूती नाड़ी को ग्राह्यग्राहकवर्जिता कहा जाता है^१। मेरुगिरि के शिखर पर महासुख का आवास है जहाँ एक चौसठ दलों का कमल है। यह कमल चार मृणालों पर स्थित है, प्रत्येक मृणाल के चार क्रम हैं और प्रत्येक क्रम के चार चार दल हैं -- इस प्रकार यह (४×४×४) चौसठ दलों का कमल (पद्म) है जहाँ वज्रवर (योगी) इस पद्म का आनन्द उसी प्रकार लेता है जिस प्रकार भ्रमर प्रकुञ्ज कुसुम का^२। इन चार मृणालों के दलों को शून्य, अतिशून्य, महाशून्य, और सर्वशून्य नाम दिया गया है। जो सर्वशून्य का आवास है उसी का नाम उष्णोपक्रमल है, यही डाकिनी जालात्मक जालंधर गिरि नामक महामेरुगिरि का शिखर है, यही महासुख का आवास है।^३ इसी गिरि शिखर पर पहुँचने पर योगी स्वयं वज्रधर कहा जाता है, यही वह सहजानन्द रूप महासुख को अनुभव करता है^४।

ऊपर जो चार प्रकार के आनन्द बताए गए हैं उनमें प्रथम आनन्द कायात्मक है अर्थात् शारीरिक आनन्द है, दूसरे और तीसरे बाचात्मक और मानसात्मक हैं। अन्तिम आनन्द ज्ञानात्मक है और इसीलिये सहजानन्द कहा जाता है। इसी आनन्द में महासुख की अनुभूति होती है।

१. हे वज्र मे मेरुदण्डपाद ने कहा है —

ललना प्रज्ञा रसनावेन रसनोपायसंस्थिता ।

अवधूती मध्यदेशे तु ग्राह्यग्राहकवर्जिता ॥

२. ललना रसना शिशुश तुडिआ वेनवि पासे ।

चउत्तर चउक्रम चउमृणाल स्थिअ मरुसुखासे ॥ ५ ॥

एवंकाल बीअतर कुसुमिअ भरविन्दए ।

महुअरुण सुरअवीर बिआ मअरन्दए ॥ ६ ॥

— बौ० गा० दो०, पृ० १२४

३. शून्यातिशून्यमहाशून्यसर्वशून्यमिति चतुःशून्य स्वरूपेण परचतुष्टयं चतुरादि स्वरूपेण चतुर्मृणालसंस्थिता । कुत्रेत्याह । महासुखं वसत्यस्त्रिभिः महासुखवासे उष्णोपक्रमलं तत्र सर्वशून्यालो डाकिनी जालात्मकं जालंधराभिधानं मेरुं शिखरमित्यर्थः

— वही, पृ० १२४

४. एहु सो गिरिव कहिअ मणि एहु सो महासुह पाव ।

एथु रे निसग सहज वगुन हइ महासुह जाव ॥ ९९ ॥

यह लक्ष्य करने की बात है कि इस समय भी नाथमार्ग में विशेष विशेष चक्रों के नाम जालंधर और उड्डियानपीठ हैं। परन्तु गोरक्षनाथ के मत में जालंधरपीठवाला चक्र अन्तिम चक्र नहीं है। अधुनिक नाथपंथियों के पट्टचक्रों में जो पाँचवाँ विशुद्ध चक्र है वह सोलह दलों का माना गया है। इसके स्फटिक वर्ण की कणिका में बतुनाकार आकाशमण्डल है जिसमें निरलंकृत पूर्ण चन्द्रमा है इसी के पार्श्व में शाकिनी सहित सदाशिव हैं। यह जालंधरपीठ कहलाता है ^१ छठा आकाशचक्र है। इसके दो दल हैं और कणिका में हाकिनी-सहित शिव हैं इसीको उड्डियान भी कहते हैं। ^२ कृष्णपाद ने हाकिनी-युगलात्मक जालंधरपीठ की बात कही है। इन दिनों तांत्रिकों और नाथमार्गियों के विश्वासानुसार हाकिनी से अध्युषित चक्र मूलाधार है जो विलकुल प्रथम चक्र है ^३ इस प्रकार परवर्ती विश्वास कृष्णाचार्यवाद के भिद्धान्तों को और भी आगे बढ़ाकर बनाया हुआ जान पड़ता है। उन दिनों बौद्ध साधक भी शिव को उपास्य मानते थे, इसका प्रमाण भी पुर्णने ग्रंथों से मिल सकता है। ^४

अवधूती नाड़ी डोमिनी या डोमिन है और चंचल चित्त ही ब्राह्मण है। डोमिन से छू जाने के भय से यह अभागा ब्राह्मण भागा भागा फिरता है। विषयों का जंत्राल मानो एक नगर है और अवधूती रूपी डोमिन इस नगर से बाहर रहनी है। जब कृष्णवाद ने गाया है कि हे डोमिन तुम्हारी कुटिया नगर के बाहर है, छुपाछुपा से ब्राह्मण भागा फिरता है तो उनका तात्पर्य उसी अवधूती चित्त से है। वे कहते हैं कि 'डोमिन, तुम चाहे नगर के बाहर ही रहो पर निवृत्त कापालिक कान्ह (कानपा) तुम्हें छोड़ेगा नहीं, वह तुम्हारे साथ ही संग करेगा।' जब वे कहते हैं कि चौसठ

१—२. गो० पृ० ५० १२

३. वसेद्वय देवीच हाकिन्यमिश्रण

लसद्वाहुवेदोऽञ्जल रक्तनेत्रा ।

समानोदितानेक सूर्यप्रकाशा

प्रकाशं बहती सदाशुद्धबुद्धेः ॥

—पट्टचक्रनिरूपण—७

४. मालतीमाधव की बौद्धसाधिका सौदामिनी आकाशपथ से विचरण करती जब उस स्थान पर आती हैं, जहाँ मधुमती और सिंधु नदी के संगम पर भगवान् भवानीपति का 'अपौरुषेय-प्रतिष्ठ' विग्रह सुवर्णविंदु है, तो भक्तिपूर्वक शिवको प्रणाम करती हैं :—

"अयं च मधुमती सिंधुपंभेदपावनो भगवान् भवानीपतिरपौरुषेयप्रतिष्ठः सुवर्णविंदुरित्याख्यायते । (प्रणम्य)

जय देव भुवनभावन जय भगवन्नखिलवरद-निगमनिधे ।

जय रुचिरचंद्रशेखर जय मदनन्तक जय! विपुले ।"

—मा० मा० १ । ४

पंखड़ियों के दल पर डोमिन नाच रही है^१ तो उनका मतलब उसी महा मेरुगिरि के जालंधर नामक शिखर पर स्थित उष्णीषकमल से है। इसी प्रकार जब वह कहते हैं कि मंत्रतंत्र करना बेकार है केवल अपनी घरनी को लेकर भोज करो तो उनका मतलब इसी भवधूनी के साथ विहार करने का होता है।

एक बार प्राण वायु का निरोध करके यदि योगी इस मेरु शिखर पर बास कर सक्ता तो निस्तरंग सरेखर को भाँति उसकी वृत्तियों के रुद्ध हो जाने से वह सहज-स्वरूप को प्राप्त होता है। सहजरूप अर्थात् पाप और पुण्य—विराग और राग—दोनों से रहित, दोनों के अतीत। श्रीभट्ट आदि बुद्ध ने कहा भी है कि विराग से बढ़कर पाप नहीं है, और राग से बढ़कर पुण्य नहीं^३ सो कृष्णपाद ने परमतत्त्व का साक्षात्कार करके यह सत्य बचन कहा है—

नितरंग सम सहजरूप सञ्जत करुण विरहिते ।

पाप पुण्य रहिए, कृच्छ्र नाह फुल कान्हु कहिए ॥ १० ॥

यह साधना नाथ सागियों के साधना से बहुत कुछ भिन्नती है। हम आगे चलकर देखेंगे कि नाथ-सिद्ध भी इसी भावाभावविनिर्मुक्तावस्था को अपनी साधना का चरम लक्ष्य मानते हैं।

१. नगरे बाहिरैं डोमिव तोहारि कुदिआ
छोड़ छोड़ जाइ सो ब्राह्म नादिया ॥
आलो डोमिव त प सँ करिवे म साँग ।
निधवन गान्ह कापालि जोइ लँग ॥
एक सो पदम चौपट्टी प खुदी ।
तहि चडि ना अ डोमिव बापुइ ॥

—पद १०, चर्या० पृ० १६

२. एक न किजइ भं न तंत
एअ घरणी लेह केँ करन्त ।
खिए घर घर । ज व ए मज्जइ
ताव कि पञ्चवयण बहरिजइ ॥ २८ ॥

—बौ० गा० दो०: पृ० १३१

३. विरागात्रपरं पाप न पुण्यं युक्ततः परम् ।
अतोऽक्षर सुखे चित्तं निवेश्यं तु सदा नृप ॥

गोरक्षनाथ (गोरखनाथ)

विक्रम संवत् की दसवीं शताब्दी में भारतवर्ष के महान गुरु गोरक्षनाथ का आविर्भाव हुआ। शंकराचार्य के बाद इतना प्रभावशाली और इतना महिमान्वित महापुरुष भारतवर्ष में दूसरा नहीं हुआ। भारतवर्ष के कोने कोने में उनके अनुयायी आज भी पाये जाते हैं। भक्ति-आन्दोलन के पूर्व सबसे शक्तिशाली धार्मिक आन्दोलन गोरखनाथ का योगमार्ग ही था। भारतवर्ष की ऐसी कोई भाषा नहीं है जिसमें गोरक्षनाथ संबंधी कहानियाँ न पाई जाती हों। इन कहानियों में परस्पर ऐतिहासिक विरोध बहुत अधिक है परन्तु फिर भी इनसे एक बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है—गोरक्षनाथ अपने युग के सबसे बड़े नेता थे। उन्होंने जिस धातु को छुआ वही सोना हो गया। दुर्भाग्यवश इस महान् धर्मगुरु के विषय में ऐतिहासिक कही जाने लायक बातें बहुत कम रह गई हैं। दन्तकथाएँ केवल उनके और उनके द्वारा प्रवर्तित योग मार्ग के महत्त्व-प्रचार के अतिरिक्त कोई विशेष प्रकाश नहीं देती।

उनके जन्मस्थान का कोई निश्चित पता नहीं चलता। परम्पराएँ अनेक प्रकार के अनुमान को उत्तेजना देती हैं और इसीलिए भिन्न भिन्न अन्वेषकों ने अपनी रुचि के अनुसार भिन्न भिन्न स्थानों को उनका जन्मस्थान मान लिया है। यो गि सं प्र दा या वि ष्कृ ति में उन्हें गोदावरी तीर के किसी चन्द्रगिरि में उरुन्न बताया गया है।^१ नेपाल दरबार लाईब्रेरी में एक परवर्ती काल का गोरक्षसहस्रनामस्तोत्र नामक छोटा सा ग्रंथ है। उसमें एक श्लोक इस आशय का है कि दक्षिण दिशा में कोई बड़व नामक देश है वही महामंत्र के प्रसाद से महाबुद्धिशाली गोरक्षनाथ प्रादुर्भूत हुए थे।^२ संभवतः इस श्लोक में उसी परंपरा की ओर इशारा है जो यो गि सं प्र दा या वि ष्कृ ति में पाई जाती है। श्लोक में का वड़व शायद गोदावरी तीर के प्रदेश का वाचक हो सकता है। क्रुक्स ने^३ एक परम्परा का उल्लेख किया है, जिसे ग्रियर्सन ने भी उद्धृत किया है।^४

१. यो० सं० आ० : पृ० २३ - २४

२. अस्ति यास्यां (? परिचयायां) दिक्षिक्शिवदेशः बड़व संज्ञकः ।

तथाजनि महाबुद्धर्मामंत्र प्रसादतः ।

— कौ० शा० नि०, भूमिका, पृ० ६४

३. द्वा० का० : पृ० १५३—४

४. द्वा० रे० पृ० : पृ० १२८

है जिसमें कहा गया है कि गोरक्षनाथ सत्ययुग में पंजाब के पेशावर में, त्रेता में गोरखपुर में, द्वापर में द्वारका के भी आगे दूरभुज में और कलिकाल में काठियावाड़ की गोरखमढ़ी में प्रादुर्भूत हुए थे। बंगाल में यह विश्वास किया जाता है कि गोरक्षनाथ उसी प्रदेश में उत्पन्न हुए थे। नेपाली परंपराओं से अनुमान होता है कि वे पंजाब से चलकर नेपाल गए थे। गोरखपुर के महन्त ने त्रिगस साहब को बताया हुआ कि गुरु गोरक्षनाथ टिला (भेलम-पंजाब) से गोरखपुर आए थे? नासिक के योगियों का विश्वास है कि वे पहले नेपाल से पंजाब आए थे और बाद में नासिक की ओर गए थे। टिला का प्राधान्य देखकर त्रिगस ने अनुमान किया है कि वे संभवतः पंजाब के निवासी रहे होंगे^१। कच्छ में प्रसिद्धि है कि गोरक्षनाथ के शिष्य धर्मनाथ पेशावर से कच्छ गए थे। त्रियर्सन ने इन्हें गोरक्षनाथ का सतीर्थ कहा है^२ परन्तु वस्तुतः धर्मनाथ बहुत परवर्ती हैं। त्रियर्सन ने अन्दाज़ लगाया है कि गोरक्षनाथ संभवतः पश्चिमी हिमालय के रहने वाले थे। इन्होंने नेपाल को आर्य अवलोकितेश्वर के प्रभाव से निकालकर शैव बनाया था। त्रिगस का अनुमान है कि गोरक्षनाथ पहले वज्रयानी साधक थे, बाद में शैव हुए थे। हम ने मत्स्येन्द्रनाथ के प्रसंग में हम मत की ओर पतत्संबंधी तिब्बती परंपरा की जांच की है। तिब्बती परंपराएं बहुत परवर्ती हैं और विकृतरूप में उपलब्ध हैं; उनको बहुत अधिक निर्भरयोग्य समझना भूल है। मेरा अनुमान है कि गोरक्षनाथ निश्चित रूप से ब्राह्मण जाति में उत्पन्न हुए थे और ब्राह्मण बातावरण में बड़े हुए थे। उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ भी शायद ही कभी बौद्ध साधक रहे हों। मेरे अनुमान का कारण गोरक्षनाथी साधना का मूल सुरु है जिसकी चर्चा हम इसी प्रसंग में आगे करने जा रहे हैं।

गोरक्षनाथ के नाम पर बहुत ग्रंथ चलते हैं जिनमें अनेक तो निश्चित रूप से परवर्ती हैं और कई संदेहास्पद हैं। सब मिला कर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि गोरक्षनाथ की कुछ पुस्तकें नाना भाव में परिवर्तित परिवर्धित और विकृत होती हुई आज तक चली आ रही हैं। उनमें कुछ-न-कुछ गोरक्षनाथ की बाणी रह जरूर गई है, पर सभी को सभी प्रामाणिक नहीं हैं। इन पुस्तकों पर से कई विद्वानों ने गोरक्षनाथ का स्थान और कालनिर्णय करने का प्रयत्न किया था, वे सभी प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए हैं। कबीरदास के साथ गोरक्षनाथ की बातचीत हुई थी, और उस बातचीत का विवरण बताने वाली पुस्तक उपलब्ध है इस पर से एक बार त्रियर्सन तक ने अनुमान किया था कि गोरक्षनाथ चौदहवीं शताब्दी के व्यक्ति थे। गुरु नानक के साथ भी उनकी बातचीत का विवरण मिल जाता है। और, और तो और सत्रहवीं शताब्दी के जैन दिगंबर सन्त बनारसीदास के साथ शास्त्रार्थ होने का प्रसंग भी मैंने सुना है। टेसिटरो ने बनारसीदास जैन की एक पुस्तक गोरक्षनाथ की (१) बचन का भी उल्लेख किया है^३। इन बातचीतों का ऐतिहासिक मूल्य बहुत

१. यो० सं० आ० (अध्याय ४८) से इसी मत का समर्थन होता है।

२. त्रिगसः पृ० २२६

३. इ० रे० ए०: पृ० ३१८

४. इ० रे० ए०: ११ वां जिल्द, पृ० ८३४

कम है। ज्यादा से ज्यादा इनकी व्याख्या सांप्रदायिक मतत्व प्रतिपादन के रूप में ही की जा सकती है। या फिर आध्यात्मिक रूप में इसकी व्याख्या यों की जा सकती है कि परवर्ती सन्त ने ध्यान बल से पूर्ववर्ती सन्त के उपदिष्ट मार्ग से अपने अनुभवों की तुलना की है। परन्तु इनपर से गोरक्षनाथ का समय निकालना निष्फल प्रयास है। कबीरदास के साथ तो मुहम्मद साहब की बातचीत का व्यौरा भी उपलब्ध है तो क्या इसपर से यह अनुमान किया जा सकता है कि कबीरदास और इजरत मुहम्मद समकालीन थे? वस्तुतः गोरक्षनाथ को दसवीं शताब्दी का परवर्ती नहीं माना जा सकता मत्स्येन्द्रनाथ के प्रसंग में हमने इसका निर्णय कर लिया है।

गोरक्षनाथ और उनके द्वारा प्रभावित योगमार्गीय ग्रंथों के अवलोकन से स्पष्ट रूप से पता चलता है कि गोरक्षनाथ ने योगमार्ग को एक बहुत ही व्यवस्थित रूप दिया है। उन्होंने शैवप्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर बहुधाबिस्रस्त काया-योग के साधनों को व्यवस्थित किया है, आत्मनुभूति और शैव परंपरा के सामंजस्य से चक्रों की संख्या नियत की, उन दिनों अत्यन्त प्रचलित ब्रह्मयानी साधना के पारिभाषिक शब्दों के सांकेतिक अर्थ को बलपूर्वक पारमार्थिक रूप दिया और ब्रह्माह्वय उद्गम से उद्भूत और संपूर्ण ब्रह्मण विरोधी साधनमार्ग को इस प्रकार संस्कृत किया कि उसका रूढ़ि विरोधी रूप उद्योगों का त्यों बना रहा परन्तु उसकी अशिष्टा जन्य प्रमाद पूर्ण रूढ़ियाँ परिष्कृत हो गईं। उन्होंने लोकभाषा को भी अपने उपदेशों का माध्यम बनाया। यद्यपि उपलब्ध सामग्री से यह निर्णय करना बड़ा कठिन है कि उनके नाम पर चलने वाली लोकभाषा की पुस्तकों में कौन-सी प्रामाणिक है और उनकी भाषा का विशुद्ध रूप क्या है तथापि इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने अपने उपदेश लोकभाषा में प्रचारित किए थे। कभी कभी इन पुस्तकों की भाषा पर से भी उनके काल का निर्णय करने का प्रयास किया गया है। स्पष्ट है कि यह प्रयास भी निष्फल है।

गोरक्षनाथ की लिखी हुई कही जाने वाली निम्नलिखित संस्कृत पुस्तकें मिलती हैं। इनमें से कई को मैंने स्वयं नहीं देखा है, भिन्न भिन्न ग्रंथ सूचियों और आलोचनात्मक अध्ययनों से संग्रह भर कर लिया है। जिनको देखा है उनका एक संक्षिप्त विवरण भी दे दिया है। अनदेखी पुस्तकों के नाम जिस मूल से प्राप्त हुए हैं उनका चलेख कोष्ठक में पुस्तक के सामने कर दिया गया है।

१. **अमनस्क**—एक प्रति बड़ौदा लाइब्रेरी में है। गो० सि० सं० में बहुत से बचन उद्धृत हैं।

२. **अपरोधशासनम्**—श्री मन्महामाहेश्वराचार्य श्री सिद्ध गोरक्षनाथ विरचितम्। यह पुस्तक काश्मीर संस्कृत ग्रंथावलि (ग्रंथांक २०) में प्रकाशित हुई है। महामहोपाध्याय पं० मुकुन्दराम शास्त्री ने इसका संपादन किया है। यद्यपि यह

पुस्तक सन् १९१८ ई० में ही छप गयी थी, परन्तु आश्चर्य यह है कि गोरक्षनाथी साहित्य के अध्ययन करने वालों ने इसकी कोई चर्चा नहीं की है। यह पुस्तक बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें गोरक्षनाथ के सिद्धान्त का सूत्ररूप में संकलन है। यह पुस्तक हठयोग की साधना शैवागमों में संबंध और जोड़ती है। आगे इसके प्रतिपादित सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

३. अवधूतगीता - गो० सि० स० पृ० ७५ में गोरक्षकृता कही गई है।
४. गोरक्षकल्प (फर्कुहर, त्रिगस)
५. गोरक्षकौमुदी (फर्कुहर, त्रिगस)
६. गोरक्षगीता (फर्कुहर)
७. गोरक्षचिकित्सा (आफ्रेल्ट)
८. गोरक्षपञ्चय (त्रिगस)
९. गोरक्ष पद्धति—दो सौ संस्कृत श्लोकों का संग्रह। बंबई से महीधर शर्मा की हिंदी टीका समेत छपी है। इसका प्रथमशतक गो र क्ष श त क नाम से कई बार छप चुका है। इसी का नाम गो र क्ष ज्ञा न भी है। दूसरे शतक का नाम योगशास्त्र भी बताया गया है।
१०. गोरक्षशतक—ऊपर नं० ७ का प्रथम शतक। इसकी एक प्रति पूना से छपी मिली है। त्रिगस ने अपनी पुस्तक में इसको रोमन अक्षरों में छापा है और उसका अंग्रेजी अनुवाद भी दिया है। इनके मत से यह पुस्तक गोरक्षनाथ की सच्ची रचना जान पड़ती है। डाक्टर प्रबोधचंद्र बागची ने कौ ला व लि निर्णय की भूमिका में नेपाल दरबार लाइब्रेरी के एक हस्तलिखित ग्रंथ का ब्यौरा दिया है। नेपाल वाली पुस्तक छपी हुई पुस्तकों से भिन्न नहीं है। इस पर दो टीकाएँ हुई हैं। एक शंकर पंडित की और दूसरी मथुरा-नाथ शुक्ल की। दूसरी टीका का नाम टिप्पण है (त्रिगस)। इसी पुस्तक के दो और नाम भी प्रचलित हैं, (१) ज्ञा न प्र का श और (२) ज्ञा न प्र का श शतक (आफ्रेल्ट)।
११. गोरक्षशास्त्र—दे० नं० ९
१२. गोरक्ष संहिता—प्रायः सभी सूचियों में इस पुस्तक का नाम आता है। पं० प्रसन्नकुमार कविराज ने इस पुस्तक को स० १८९७ में छपाया था। परन्तु अब यह पुस्तक खोजे नहीं मिलती। डा० बागची ने कौ ला व लि निर्णय की भूमिका में नेपाल दरबार लाइब्रेरी में पाई गई प्रति में से कुछ अंश उद्धृत किया है। पुस्तक के कितने ही श्लोक हू-बहू मत्स्येन्द्रनाथ के अकुलवीरतंत्र नामक

ग्रंथ से मिल जाते हैं और दोनों का प्रतिपादन भी एक ही है। इस प्रकार यह पुस्तक काकी महत्त्वपूर्ण है।

१३. चतुरशीत्यासन (आफ्रेल्ट)

१४. ज्ञानप्रकाशशतक (दे० न० १०)

१५. ज्ञानशतक (दे० १०)

१६. ज्ञानाधृतयोग (आफ्रेल्ट)

१७. नाडीज्ञानप्रदीपिका (आफ्रेल्ट)

१८. महार्थमंजरी—यह पुस्तक काश्मीर संस्कृत ग्रंथावलि (नं० ११) में छपी है।

यह किसी महेश्वरानंद नाथ की लिखी हुई है। वाश्मीरी परंपरा के अनुसार ये गोरक्षनाथ ही हैं। पुस्तक म० म० पं० मुकुन्दराम शास्त्री ने संपादित की है। इस पर भी लिखा है—‘गोरक्षापरपर्याय श्रीमन्महेश्वरानंदाचार्य विरचिता’। पुस्तक की भाषा काश्मीरी अपभ्रंश है परन्तु ग्रंथकार ने स्वयं परिमल नामक टीका लिखी है। विषय ३६ तत्त्वों की व्याख्या है। नाना दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

१९. योगचिन्तामणि (आफ्रेल्ट)

२०. योगमार्तण्ड („)

२१. योगबीज—गो. सि. सं. में अनेक वचन उद्धृत हैं

२२. योगशास्त्र (दे० नं० ७)

२३. योगसिद्धासनपद्धति—आफ्रेल्ट

२४. विवेकमार्तण्ड—इस पुस्तक के कुछ वचन गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में हैं। इसके श्लोक गोरक्षशतक में पाए जाते हैं। इसलिये यद्यपि इसे रामेश्वर भट्ट का बताया गया है तो भी आफ्रेल्ट के अनुसार इसे गोरक्षकृत ही मानना उचित जान पड़ता है।

२५. श्रीनाथसूत्र—गो. सि. सं. में कुछ वचन हैं।

२६. सिद्धसिद्धान्त पद्धति—ब्रिग्स ने नित्यानंदरचित कहा है पर अन्य सबने गोरक्षनाथ रचित बताया है। गोरक्षसिद्धान्त संग्रह में भी इसे नित्यनाथ विरचिता कहा गया है (पृ० ११)।

२७. हठयोग—(आफ्रेल्ट)

२८. हठ संहिता—(„)

इन पुस्तकों में अधिकांश के कर्ता स्वयं गोरक्षनाथ नहीं थे। साधारणतः उनके उपदेशों को नये-नये रूप में वचनबद्ध किया गया है। परन्तु १, २, ९, १२ और २६ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें भी १ को मैंने देखा नहीं, केवल गोरक्षसिद्धान्त में संगृहीत वचनों से उसका परिचय पासका हूँ। सिद्धसिद्धान्तपद्धति को संक्षिप्त करके काशी के

बलभद्र पंडित ने एक छोटी सी पुस्तक लिखी थी जिसका नाम है सिद्ध सिद्धा न्त सं ग्र ह । इस में तथा गोर क्ष सिद्धा न्त सं ग्र ह में सिद्ध सिद्धा न्त पद्ध ति के अनेक श्लोक उद्धृत हैं । इन सबके आधार पर गोरक्षनाथ के मत का प्रतिपादन किया जा सकता है । इस विषय में गोर क्ष सिद्धा न्त सं ग्र ह बहुत ही उपयोगी पुस्तक है ।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त हिन्दी में भी गोरक्षनाथ की कई पुस्तकें पाई जाती हैं । इनका संपादन बड़े परिश्रम और बड़ी योग्यता के साथ स्वर्गीय डा० पीताम्बरदत्त बड़वाल ने किया है । यह ग्रंथ गोर ख वा नी नाम से हिंदी साहित्य सम्मेलन से प्रकाशित हुआ है । दूसरा भाग अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ और अत्यन्त दुःख की बात है कि उसके प्रकाशित होने के पूर्व ही मेधावी ग्रंथकार ने इह लोक त्याग दिया । डा० बड़वाल की खोज से निम्नलिखित बालीस पुस्तकों का पता चला है जिन्हें गोरख नाथ-रचित बताया जाता है ;

१. सवदी	२१. नवग्रह
२. पद्.	२२. नवरात्र
३. सिध्या दरसन	२३. अष्ट पारङ्ग्या
४. प्राण संकली	२४. रहस्य
५. नरवै बोध.	२५. ग्यान माला
६. आत्म बोध (१)	२६. आत्मबोध (२)
७. अभैमात्रा जोग	२७. व्रत
८. पंद्रहतिथि	२७. निरंजनपुराण
९. सप्त बार	२९. गोरखबचन
१०. मल्लीन्द्र गोरख बोध	३०. इन्द्रो देवना
११. रोमावली	३१. मूल गभावली
१२. ग्यान तिलक	३२. खाणी बाणी
१३. ग्यान चौतीसा	३३. गोरख सत
१४. पंचमात्रा	३४. अष्ट मुद्रा
१५. गोरख गणेश गोष्ठी	३५. चौबीस सिधि
१६. गोरखदत्त गोष्ठी (ग्यान दीप बोध)	३६. पञ्चरी
१७. महादेव गोरखगुष्टि	३७. पंचअग्नि
१८. सिष्ट पुरान	३८. अष्टक
१९. दयाबोध	३९. अबलि सिलूक
२०. जाती भौरावली (छंद गोरख)	४०. काफिर बोध

डा० बड़वाल ने अनेक प्रतियों की जाँच कर के इन में प्रथम चौदह को तो निस्संदिग्ध रूप से प्राचीन माना क्योंकि इनका उल्लेख प्रायः सब में मिला । ग्या न चौ ती सा समय पर न मिल सकने के कारण इस संग्रह में प्रकाशित नहीं कराया जा सका परन्तु बाकी तेरह गोरक्षनाथ की बानी समझकर पुस्तक में संप्रदीत हुए हैं । १५

से १९ तक की प्रतियों को एक प्रति में सेवादाम निरंजनी की रचना माना गया है। इसलिये सदेहास्पद समझकर संपादक ने उन्हें परिशिष्टक में छापा है। बाको में कुछ गोरखनाथ की स्तुति हैं। कुछ अन्य ग्रंथकारों के नाम भी हैं, काफिर बोध कबीर दास के नाम भी हैं। इसलिये डा० बड़वाल ने इस संग्रह में उन्हें स्थान नहीं दिया। केवल परिशिष्टक में सप्तवार, नवग्रह, व्रत, पंचअभि, अष्टमुद्रा, चौबीससिद्धि, बत्तीसलक्षण, अष्टपद; रहसि को स्थान दिया है। अवलिसिलूक और काफिर बोध रतननाथ के लिखे हुए हैं। डा० बड़वाल इन प्रतियों की आलोचना करने के बाद इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि 'सबदी' गोरख की सबसे प्रामाणिक रचना जान पड़ती है। परन्तु वह उतनी परिचित नहीं जितनी गोरखबोध^१। गोरखबोध की सबसे पहली छपी हुई एक खण्डित प्रति कार्माइकेल लाइब्रेरी, काशी में है जो सन् १९११ में बांस का फाटक बनारस से छपी थी। बाद में इसे जयपुर पुस्तकालय से संग्रह करके डा० मोहनसिंह ने अंग्रेजी अनुवाद के साथ अपनी पुस्तक में प्रकाशित की है। डा० मोहनसिंह इस पुस्तक में प्रतिपादित सिद्धान्तों को बहुत प्रामाणिक मानते हैं। परन्तु मत्स्येन्द्रनाथ के उपलब्ध ग्रंथों के आलोक में डाक्टर मोहनसिंह अमत् बहुत प्रदर्शनीय नहीं लगता। डाक्टर बड़वाल ने इन पुस्तकों के रचयिता के बारे में विशेष रूप से लिखने का वादा किया था पर महाकाल ने उसे पूरा नहीं होने दिया। परन्तु अपने भावी मत का आभास उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में दे रखा है: 'नाथ-परंपरा में इनके कर्ता प्रसिद्ध गोरखनाथ से भिन्न नहीं समझे जाते। मैं अधिक संभव समझता हूँ कि गोरखनाथ विक्रम की ११ वीं शती में हुए। ये रचनाएँ जैसी हमें उपलब्ध हो रही हैं ठीक वैसी ही उस समय की हैं, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु इसमें भी प्राचीनता के प्रमाण विद्यमान हैं, जिससे कहा जा सकता है कि संभवतः इनका मूलोद्भव ग्यारहवीं शती ही में हुआ हो।^२

आगे इस उपलब्ध सामग्री के आधार पर हम गोरखनाथ के उपदेशों का सार उकलन कर रहे हैं।^३

- ४ - १६

१. गोरखबानी : भूमिका पृ० १८-१९

२. गोरखबानी : भूमिका पृ० २०-२०

३. उपरिलिखित ग्रंथों के अतिरिक्त शिवानंद सरस्वती का योगचिंतामणि, रामेश्वर भट्ट का विवेकमार्तण्डयोग, सुन्दरदेव की हठसंकेतचंद्रिका, स्वात्माराम की हठयोगप्रदीपिका और उस पर रामानंद तीर्थ की टीका और उमापति का टिप्पण, ब्रह्मानंद की उग्रोत्सना, चण्डिकापालिका की हठरत्नावली, शिव का हठयोगधाराय और उस पर रामानंद तीर्थ की टीका, वामदेव का हठयोगविवेक, सदानंद का ज्ञानामृततिप्पण, कण्ठारभैरव का ज्ञानयोगखंड, सुन्दरदेव की संकेतचंद्रिका, घेरण्डसंहिता, शिवसंहिता, निरञ्जन पुराण इत्यादि ग्रंथ इस मार्ग के सिद्धान्त और साधनपद्धति के अध्ययन में सहाय हैं।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड

मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा अवतारित कौल ज्ञान की आलोचना के प्रसंग में शैव सिद्धान्त के छत्तीस तत्त्वों का एक साधारण परिचय दिया जा चुका है। प्रलय काल में इन समस्त तत्त्वों को निःशेषभाव से आत्मसात् करके शक्ति परम शिव में तत्त्वरूपा होकर अवस्थान करती हैं। इसी लिये वा म के श्व र तंत्र में भगवती शक्ति को “कवलीकृतनिःशेषतत्त्व-प्राप्तस्वरूपिणी” कहा गया है (४।५)।

इस अवस्था में शिव में कार्य-कारण का कर्तृत्व नहीं होता अर्थात् कार्य-कारण के चक्र के संचालन कर्म से विरत हो जाते हैं। वे कुञ्ज और अकुञ्ज के भेद से परे हो जाते हैं। और अव्यक्तावस्था में विराजमान रहते हैं। इसी लिये इस अवस्था में उन्हें शास्त्रकार गण ‘स्युयं’ कह कर स्मरण करते हैं।^१

इस परम शिव को जब सृष्टि करने की इच्छा होती है तो इच्छा-युक्त होने के कारण उन्हें सगुण शिव कहा जाता है। पहले बताया जा चुका है कि यह इच्छा (=सिसृक्षा=सृष्टि करने की इच्छा) ही शक्ति है। अब इस अवस्था में परम शिव से एक ही साथ दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं—शिव और शक्ति। वस्तुतः इन दोनों में कोई भेद नहीं है। यह शक्ति पाँच अवस्थाओं से गुजरती हुई स्फुरित होती है। (१) परम शिव की अवस्था-मात्र धर्म से युक्त, स्फुरित होने की पूर्ववती, और प्रायः स्फुरित होने को उपक्रान्त अवस्था का नाम ‘निजा’ है। इस अवस्था में शिव अपने अव्यक्त रूप में रहते हुए भी स्फुरणोन्मुखी शक्ति से विशिष्ट होकर रहा करते हैं। शिव की इस अवस्था का नाम ‘अपरं पदम्’ है। धीरे-धीरे शक्ति क्रमशः (२) स्फुरण की ओर उन्मुख होती है, फिर (३) स्पन्दित होती है, फिर (४) सूक्ष्म अहन्ता (=मैं-पन अर्थात् अलगाव का भाव) से युक्त होती है और अन्त में (५) चेतन शीला होकर अपने अलगाव के बारे में पूर्ण सचेत हो जाती है। ये अवस्थाएँ क्रमशः परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डली कही जाती हैं^२। इन अवस्थाओं में शिव भी क्रमशः परम, शून्य, निरंजन और परमात्मा के नाम से

१ कार्यकारणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुक्काकुचम्।

अव्यक्तं परम तत्त्वं स्वयं नाम तदा भवेत् ॥

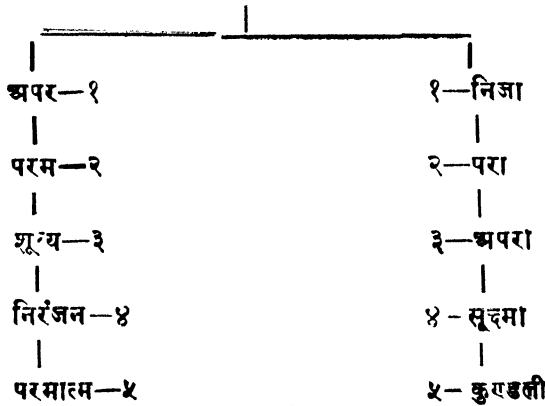
—मि० सि० सं० १।४

२. निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डली तामु पञ्चधा।

शक्तिचक्रमेवैव जातः पिण्डः परः शिवे ॥

प्रसिद्ध होते हैं।^१ इस प्रकार निखिलानन्दसन्दीप शिव पाँच अवस्थाओं से शुचरते हुए प्रथम तत्त्व परमात्मा या सगुण शिवके रूप में प्रकट होते हैं और शक्ति भी पाँच अवस्थाओं से अग्रसर होती हुई द्वितीय तत्त्व कुण्डली या, कुण्डलिनी के रूप में प्रादुर्भूत हुई। यही कुण्डली समस्त विश्व में व्याप्त शक्ति है, इसी की इच्छा से, इसी की सहायता से, शिव इस विश्व प्रपञ्च की उत्पत्ति पालन और विलय में समर्थ होते हैं। यही परमात्मा और कुण्डली—शिव और शक्ति—प्रथम दो सूक्ष्मतम तत्त्व हैं। इन से ही अत्यन्त सूक्ष्म 'पर पिण्ड' की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार नीचे 'लक्ष्मी-सारणी' से शिव और शक्ति के स्फुरण का विकास स्पष्ट हो जायगा

‘स्वयं’ (पर) शिव



यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि वैदान्तिक लोग भी चित् स्वरूप ब्रह्म की शक्ति, जिसे वे लोग 'माया' कहते हैं, मानते हैं पर यहाँ शक्ति की जो कल्पना है वह वैदान्तिक कल्पना से भिन्न है। यहाँ कुण्डली या शक्ति को 'चिच्छीजा'^२ और चिद्रूपिणी माना गया है। यह चिच्छक्ति अनन्तरूपा और अनन्तशक्तिस्वरूपा है। जगत् इसी शक्ति का परिणाम है और यही शक्ति जगत् रूप में परिणत होती है। इसीकी सहायता से परम शिव सृष्टि व्यापार के संभाजने में समर्थ होते हैं और इसीलिये वा म के र व र तंत्र में स्वयं भगवान् शंकर ने ही कहा है कि हे परमेश्वरि, इस शक्ति से रहित होने पर शिव कुछ भी करने में असमर्थ हैं, इससे युक्त होकर ही वे कुछ करने में समर्थ होते हैं।^३

१. ततोऽस्मितापूर्वमर्चिर्मात्रं स्यादपरं परम् ।
 तत्स्वसंवेदनाभासमुत्पन्नं परमं पदम् ॥
 स्वेच्छमात्रं ततः शून्यं सत्तामात्रं निरञ्जितम् ।
 तस्मात्ततः स्वसाक्षाद्भूः परमात्मपदं मतम् ॥

—बरी, १। १४-१५

२. चिच्छीला कुण्डलिन्यतः,—वि० सि० सं० १६

३. परोहि शक्तिरहितः कृत्तः कर्तुं न किञ्चन ।

शक्तस्तु परमेशानि शक्त्या युक्तो यदा भवेत् ॥ ४६ ॥

इसके बाद कुण्डली अर्थात् समस्त विश्व में प्रव्याप्त शक्ति सृष्टिक्रम को अप्रसर करने के लिये क्रमशः स्थूलता की ओर अप्रसर होती है। इन तीन तत्त्वों की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं जो इसके बाद क्रमशः स्फुरित होते हैं। ये हैं—सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या। सदाशिव अर्ह प्रधान हैं और ईश्वर इदं प्रधान, शुद्ध विद्या उभय प्रधान*। सृष्टि व्यापार को अप्रसर करने के लिये इस प्रकार अहन्ता की प्राप्ति पाँच अवस्थाओं के भीतर से होती है। इन अवस्थाओं को आनन्द कहते हैं। पाँच आनन्द हैं। परमानन्द, प्रबोध, चिदुदय, प्रकाश और सोऽहं। इन्हीं आनन्दों के भीतर से गुजरते हुए शिव क्रमशः 'जीव'—रूप की ओर अप्रसर होते हैं। सिद्ध सिद्धान्त संग्रह में बताया गया है कि किस प्रकार पर पिएड से आद्य पिएड, उससे साकार पिएड, उससे महासाकार पिएड, उस से प्राकृत पिएड और उसके भी अन्त में गर्भ पिएड उत्पन्न होता है।* ये क्रमशः स्थूल से सूक्ष्मतर होते जाते हैं। अन्तिम पिएड से यह स्थूलशरीर उत्पन्न हुआ है। सिद्ध सिद्धान्त संग्रह के प्रथमाध्याय की पुष्पिका में लिखा है कि यह ऋः प्रकार की पिएडोत्पत्ति है। परन्तु वस्तुतः

१. (१) अहन्तेदन्ताखण्डणयोर्ज्ञानक्रिययोराद्योद्रेकात् उन्मीलितचित्रन्यायेन व्यक्ताव्यक्त-
विरवमातृतास्वभावं सदाशिवाद्येतत्त्वम्। एतद्विपर्ययेण क्रिया शक्तयौऽप्यव्यक्ते
व्यक्ताकारविरवानुसंधातुरूपम् ईश्वर तत्त्वम्।—महार्थ मंजरी पृ० ४४

(२) ज्ञातृत्वधर्मभात्मा ज्ञेयस्वभावश्च लोकव्यवहारः।

एकरसां संस्कृष्टि यत्र गतौ सा खलु विस्तृता विद्या ॥—महार्थ मंजरी पृ० ४६

२. सिद्ध सिद्धान्त संग्रह में पञ्चीस पञ्चीस तत्त्वों से इस प्रकार पिएडोत्पत्ति का क्रम दिया हुआ है :

(१) अव्यक्त परम तत्त्व की पाँच शक्तियाँ हैं जिनमें प्रत्येक के पाँच गुण हैं —

१. निजा—निराकृतित्व, नित्यत्व, निरन्तरत्व, निःपङ्क्त्य, निरुक्त्यत्व

२. परा—अस्तित्व, अप्रमेयत्व, अभिन्नत्व, अनन्तत्व, अव्यक्तत्व

३. अपरा—स्फुटन्ता, स्फारता, स्फुरता, स्फोटता, स्फूर्ति

४. सूक्ष्मा—नैरन्तर्य नैरश्य, नैश्चल्य, निश्चयत्व, निर्विकलकत्व

५. कुण्डली—पूर्णत्व, प्रतिविम्बत्व, प्रकृतिरूपत्व, प्रत्यङ्मुख्य, औचल्य

(१) परपिएड के

१५ तत्त्व

(२) क—पाँच पद और उनके गुण—

१. अपर—अकलत्व, असंशयत्व, अनुमतत्व, अन्यपारता, अमरत्व

२. पर—निरुक्त, शूलोल, असंख्येय, अक्षय, अभिन्न

३. शून्य—नीलता, पूर्णता, मूर्च्छा, उन्मत्तो, लक्षता

४. निःक्षण—सहज, सामरस्य, सत्यत्व, सावधानता, सर्वगतत्व

५. परमात्मपद—अभयत्व, अभेद्यत्व, अखेद्य, अनाश्य, अशोध्य

(२) आद्य पिएड

२५ तत्त्व

उसमें कई प्रकार की पिण्डोत्पत्ति दी हुई है। यह विचारणीय ही रह जाता

ल - पाँच आनंद और उनके गुण—

१. परमानंद—उदय, उल्लास, अवभास, विकासन, प्रभा
२. प्रबोध—निष्पद, हर्ष, उन्माद, स्पंद, नित्यमुख
३. चिदुदय—सद्भाव, विचार, कर्तृत्व, ज्ञातृत्व, स्वातंत्र्य
४. प्रकाश—निर्विकार, निष्फलत्व, सद्बोध, समता, विश्रान्ति
५. सोऽहम्—अहन्ता, खण्डितैश्वर्य, स्वानुभूति साम्यर्थ्य, सर्वज्ञता

(२) आद्य पिण्ड २५ तत्त्व

(३) क—पंच महातत्त्व और उनके अंशभूत तत्त्व

१. महाकाश—अवकाश, छिद्र, अस्पृश्यत्व, रस, नील वर्ण
२. महानिल—संचार, चलन, स्पंद, शोषण, धूम्रता
३. महातेज—दाहकत्व, पावकत्व, सूक्ष्मत्व, रूपभासित्व, रक्तवर्ण
४. महावायु—प्रवाह, आप्यायन, रस, द्रव, श्वेतवर्ण
५. महापृथ्वी—स्थूलता, नानाकृतिता, काठिन्य, गंध, पीतता

(३) साकार पिण्ड २५ तत्त्व

स्व अष्टमूर्ति—

शिव-भैरव-श्रीकंठ-सदाशिव-ईश्वर-रुद्र-विष्णु-ब्रह्मा = महासाकार पिण्ड

(४) तत्त्वांश—

- पृथ्वी के—अस्थि, त्वक्, मांस, लोम, नाडी
जल के—लाला, मूत्र, अश्रुक्, स्वेद, शुक
अग्नि के—क्षुधा, तृषा, आलस्य, निद्रा, कान्ति
वायु के—धावन, चलन, रोधन, प्रसारण, आकुञ्चन
आकाश के—राग, द्वेष, भय, लजा, मोह

(४) प्राकृत पिण्ड के २५ तत्त्व

(५) क—अन्तःकरण के धर्म

१. मन—संकल्प, विकल्प, जड़ता, मूर्च्छना, मनन
२. बुद्धि—विवेक, वैराग्य, परा, प्रशान्ति, क्षमा
३. अहकार—मान, ममता, सुख, दुःख, मोह
४. चित्त—मति, धृति, संस्मृति, उत्कृति, स्वीकार
५. चैतन्य—विमर्ष, हर्ष, धैर्य, चिन्तन, निःस्पृहता

स्व—कुल पञ्च ६

२५ तत्त्व

सत्त्व—दया धर्म, क्रिया, भक्ति, भूदा

रजः—दान, भोग, श्रृंगार, स्वायं, ग्रहण

तमः—मोह, प्रमाद, निद्रा, हिंसा, क्रूरता

काल—विवाद, कलह, शोक, बंध, अंचन

जीव—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य, तुरीयातीत

२५ तत्त्व

है कि ये छः पिएड वस्तुनः क्या हैं। महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ जी कविराज ने सिद्ध सिद्धांत संग्रह की भूमिका में लिखा है कि ये छः पिएड इस प्रकार हैं—

१. पर या आन पिएड
२. साकार पिएड
३. महासाकार पिएड
४. प्राकृत पिएड
५. अवलोकन पिएड
६. गर्भ पिएड

सिद्ध सिद्धांत पद्धति के आधार पर सं० १८८१ वि० में मारवाड़-नरेश महाराणा मानसिंह के राज्य काल में २५ चित्र बनवाए गए थे। ये चित्र “देशी कागज की बनी करीब ४ फुट लंबी, १३ फुट चौड़ी और ३ इंच मोटी दफ्ती पर बने हैं” और आज से सवा सौ वर्ष पहले के गजपूत कलम के उत्तम नमूने हैं। ये जोधपुर के राजकीय सरदार म्यूजियम में सुरक्षित हैं। सन् १९३५ ई० में पंडित विश्वेश्वर नाथ जी रेच ने इन चित्रों का विवरण एक छोटी सी पुस्तिका के रूप में प्रकाशित कराया था। हम जिस बात की चर्चा यहाँ कर रहे हैं वह इन चित्रों के द्वारा अधिक स्पष्ट होगी, इस आशा

ग—व्यक्ताख्य शक्ति के गुण

१. इच्छा—उन्मेष, वासना, वीप्सा, चिन्ता, चेष्टा
२. कर्म—स्मृति, उद्यम, उद्वेग, कार्य, निश्चय
३. माया—मद, मात्सर्य, कपट, कर्तव्य, असत्य
४. प्रकृति—आशा, तृष्णा, कान्हा, स्पृहा, मृषा
५. वाक्—परा, परबन्ती, मध्यमा, वैलरी, इष्टाक्षरमातृका

२५ गुण

घ—पश्यत्कारी गुण

१. काम—रति, प्रीति, लीला, आतुरता, अभिलाषा
२. कर्म—शुभ, अशुभ, कीर्ति, अकीर्ति, इच्छागत
३. अग्नि—उल्लोल, कल्लोल, उच्चलत्वं, उम्माद, विलेपन
४. चन्द्र—स्रवन्तिका, नामवती, प्रवाहा, सौम्या, प्रसन्ना
५. अर्क—तपिनी, प्रसिनी, कूरा, कुञ्जनी, शोषणी, बोधिनी, बस्मरा, कर्षिणी, अर्थतुल्यध्विनी, ऊर्मिरैलाकिरागिनी, प्रभावती

(६) दशद्वार, ७९ हजार नाडियाँ, पंच प्राण, नौ चक्र, सोलह आधार आदि का सम्मेलन।

क—दशद्वार—मुख कर्ण (दो), नासिका (दो), चक्षु (दो) पायु, उदर और ब्रह्मरंध्र

ख—प्रधान दश नाडियाँ—इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गांधारी, हस्तिजिह्वा, शलिनी, पूषा, अलम्बुषा, पशुपतिनी और कुंड

ग—घ—चक्र और आधार का विचार आगे किया गया है।

से यहाँ उक्त विवरणपुस्तिका के कुछ चित्रों के परिचयों का संकलन किया जा रहा है। यह स्मरण रखना चाहिये कि सिद्ध सिद्धान्तसंग्रह वस्तुतः इस पुस्तक का ही सन्निहित रूप है। मूलग्रंथ सिद्ध सिद्धान्तपद्धति ही है।

“दूसरा चित्र त्रिगुणात्मक आदिपिण्ड का बताया गया है। इसका विवरण इस प्रकार दिया हुआ है—

(२) त्रिगुणात्मक आदिपिण्ड। आदिपिण्ड से (नील वर्ण) महाआकाश का, महाआकाश से (धूसर वर्ण) महावायु का, महावायु से (रक्तवर्ण) महातेज का, महातेज से (श्वेत वर्ण) महासलिल (जल) का और उससे (पीत वर्ण) महापृथ्वी का उत्पन्न होना। इन पंचमहातत्त्वों से महासाकार पिण्ड का और उससे (१) शिव का उत्पन्न होना। इसी प्रकार आगे शिव से (२) भैरव का, भैरव से (३) श्रीकण्ठ का, श्रीकण्ठ से (४) सदाशिव का, सदाशिव से (५) ईश्वर का, ईश्वर से (६) रुद्र का, रुद्र से (७) विष्णु का, और विष्णु से (८) ब्रह्मा का उत्पन्न होना। फिर ब्रह्मा से नर-नारी रूप (९) प्रकृति पिण्ड का उत्पन्न होना।

तीसरे चित्र का विवरण इस प्रकार है—

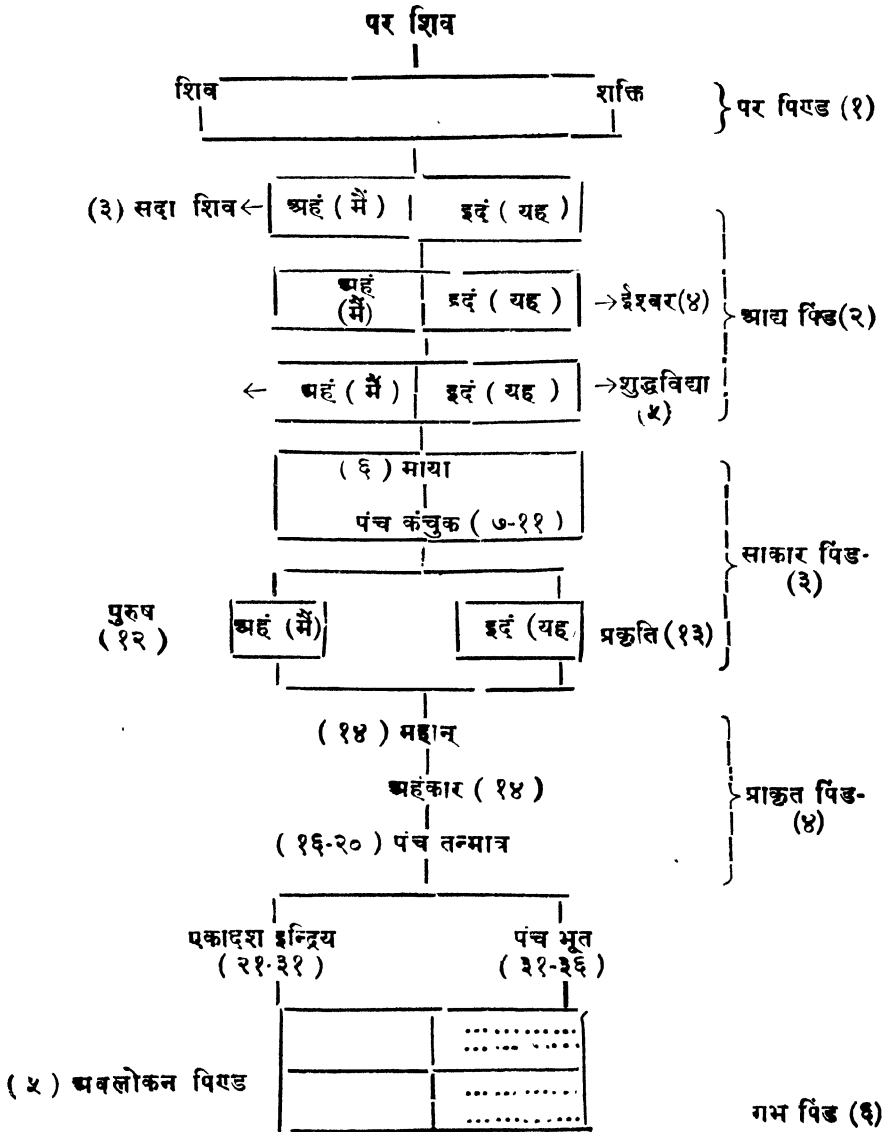
(३) नर नारी के संयोग से स्त्री और पुरुष की उत्पत्ति। पिण्ड का रूप।

सिद्ध सिद्धान्तसंग्रह से और सिद्ध सिद्धान्तपद्धति के आधार पर बने हुए इन चित्रों के विवरण से ऐसा जान पड़ता है कि प्रथम पिण्ड पर-पिण्ड है जो त्रिगुणातीत है और आदि या आद्य पिण्ड वस्तुतः उसके बाद की अवस्था का नाम है। फिर साकार पिण्ड और महासाकार पिण्ड भी अलग अलग नहीं जान पड़ते। साकार पिण्ड को ही ग्रंथकार ने महासाकार पिण्ड कहा है। यदि यह बात ठीक है तो छः मुख्य पिण्ड इस प्रकार हो सकते हैं—

- (१) पर पिण्ड
- (२) आद्य पिण्ड
- (३) साकार या महासाकार पिण्ड
- (४) प्राकृत पिण्ड
- (५) अवलोकन पिण्ड
- (६) गर्भ पिण्ड

इन पिण्डों में पर पिण्ड तो शिव और शक्ति के संयोग से उत्पन्न है। परवर्ती तीन तत्त्वों से आद्य पिण्ड, और माया और पंच कंचुकों से आच्छादित अहन्ता-प्रधान पुरुष और इदन्ताप्रधान^१ प्रकृति तक साकार तत्त्व हैं। महत्तत्त्व से पंचतन्मात्र तक प्राकृत पिण्ड और एकाग्र इन्द्रियों का अवलोकन पिण्ड है। फिर गर्भोत्पन्न यह पंच भूतात्मक स्थूल शरीर गर्भ पिण्ड है। इन प्रकार ३६ तत्त्वों के स्फुरण से इस पिण्डोत्पत्ति का सामंजस्य किया गया है।

१. 'अह' और 'इद' संस्कृत में क्रमशः 'मैं' और 'यह' के वाचक हैं। अहन्ता का अर्थ है 'मैं-पन' और इदन्ता का अर्थ है 'यह-पन'। पुरुष में 'अहन्ता' की प्रधानता होती है अर्थात् उसमें 'चेतन मैं हूँ' यह भाव प्रधान होता है। प्रकृति में 'इदन्ता' की प्रधानता होती है अर्थात् पुरुष उसमें 'चेतन-मैं' गिन्न 'इद' (यह) के रूप में समझता है।



अब, यह स्पष्ट है कि पर शिव ही अपनी सिसृक्षा रूपा शक्ति के कारण इस जगत् के रूप में बदल गए हैं। संसार में जो कुछ भी पिण्ड है वह वस्तुतः उसी प्रक्रिया में से गुजरता हुआ बना है जिस अवस्था में से यह समूचा ब्रह्माण्ड बना है। सब में वही तत्त्व ज्यों के त्यों हैं। परन्तु सत्व, रज, तम, काल और जीव (अर्थात् प्राण शक्ति) की अधिकता और न्यूनता के कारण उनमें भेद प्रतीत हो रहा है। विकास की इन विभिन्न अवस्थाओं को असत्य नहीं समझना चाहिए। वे सभी सत्य हैं। जितनी नाड़ियाँ या द्वार या आधार मनुष्य में हैं उतनी ही समस्त ब्रह्माण्ड में और उतनी ही ब्रह्माण्ड के प्रत्येक परमाणु में हैं। भेद यही है कि मत्त्व, रज, तम काल और जीव के आधिक्य और न्यूनत्व वश वे कहीं अविकसित हैं, कहीं अर्ध विकसित हैं, कहीं पूर्ण विकसित हैं। इसी लिये गोरक्षमत में प्रथम सिद्धान्त यह है कि जो कुछ भी ब्रह्माण्ड में है वह सभी पिण्ड में है। ^१ पिण्ड, मानो ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त संस्करण है। गोरक्षनाथ का योग मार्ग साधनापरक मार्ग है। इसलिये केवल व्यावहारिक बातों का ही विस्तार उसमें दिया हुआ है। मनुष्य शरीर को ही प्रधान पिण्ड मानकर इसकी व्याख्या की गई है। बताया गया है ^२ कि मनुष्य के किस किस अंग में ब्रह्माण्ड का कौन कौन-सा अंश है। पाताल कहाँ है, स्वर्ग कहाँ है। साधनामार्ग के तीर्थस्थात कहाँ हैं, गंधर्व, यक्ष, उरग, किन्नर भूत, पिशाच आदि के स्थान कहाँ हैं। अनुसंधित्सु पाठक मूल ग्रन्थों में उसका विस्तार खोज सकते हैं।

स्पष्ट ही, इस शरीर में सबसे प्रधान कार्यकारिणी शक्ति कुण्डली है। यह विश्व-ब्रह्माण्ड में प्रव्याप्त महाकुण्डलिनी का ही पिण्ड-गत स्वरूप है। यह लक्ष्य करने की बात है कि पर पिण्ड को ही प्रथम या आद्य पिण्ड नहीं कहा गया है। नाथ मार्ग अद्वैत-वादी है परन्तु शांकर वेदान्त से अपना भेद बताने के लिये ये लोग अपने को 'द्वैता-

१. ब्रह्माण्डवर्ति यत् किञ्चित्,

तत् पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा ।

—सि० सि० सं ३१२

१. देखिए सि० सि० सं० तृतीयोपदेश

द्वैत विलक्षण'-वादी कहते हैं^१ ! नाथ तत्त्व द्वैत और अद्वैत दोनों से परे है^२ । आद्य या प्रथम कहने से वह संख्या द्वारा सूचित किया जाता है और संख्या भी एक उपाधि है, इसलिये पर तत्त्व को '१' संख्या द्वारा भी सूचित नहीं किया जा सकता । वह उस से भी अतीत अखण्ड ज्ञान-रूपी निरञ्जन है^३—शून्य है । वह निष्क्रिय और क्रिया ब्रह्म दोनों से अतीत अवाच्य पद है । इसीलिये उसकी आद्य-संज्ञा नहीं हो सकती । पहला पिण्ड भी इसीलिये 'पर पिण्ड' कहा जाता है, आद्य पिण्ड नहीं^४ । जगत् का प्रपञ्च शक्ति के स्फोट के बाद शुरू होता है इसलिये शक्ति ही असल में जगत्कर्त्री है शिव नहीं । शिव केवल ज्ञेय है ।

प्रश्न हो सकता है कि सृष्टि का आदि कर्तृत्व तो शिव का है, शक्ति तो उसकी निर्वाहिका मात्र है । उसी को प्रधानकर्त्री और उपास्य क्यों माना जाय ? जगत् के मुख्य कर्ता और नियन्ता तो शिव ही हुए, शक्ति तो उनको सहायिका भर ही है, फिर इस सहायिका को उपास्य क्यों माना जाय ! रामेश्वर भट्ट ने परशुरामकल्पसूत्र ६.१ की टीका में इस प्रश्न का उत्तर दिया है । उस उत्तर का सारमर्म यह है कि क्षिति आदि कार्यों का कोई न कोई कारण होना चाहिए, कारण के बिना ये उपपन्न नहीं हो सकते । इस अनुपपत्ति को दूर करने के लिये ही शिव और शक्ति की कल्पना है । वेदान्ती लोग

१. यदि ब्रह्माद्वैतमस्ति तर्हि द्वैतं कुत आगतम् ? यदा माया कल्पनमिति वदेयुस्तर्हि तान् वदन्तो व्यमवाचोऽक्रियाश्चकर्म तव किमिति चेदुच्यते । अद्वैतं तु निष्क्रियादित्याग्यमस्ति । यतः कस्यापि वस्तुनो भोगोऽपि युष्माभिर्न कर्तव्य-इत्याद्यनेकविधभिरद्वैतखण्डन-करिण्यामः । महासिद्धैरुक्तं यद्द्वैताद्वैतविजितं पदं निश्चलं दृश्यते तदेवसम्यगित्यभ्यु-पगमिष्यामः ।

— गो० सि० सं० पृ० १६

२. अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे
समं तत्त्वं न विन्दन्ति द्वैतादौ विलक्षणम् ।
यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः ।
अहो माया महामोहो द्वैतादौ तविकल्पना ॥

गो० सि० सं० (पृ० ११) में अव्यभूत गीता का वचन

३. निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पुरुषः
तदाविवर्ततेऽवखण्डज्ञानरूपी निरञ्जनः ।

— शिव-संहिता १-६८

४. स्वसमं असमं शान्तमादिमध्यान्तवर्जितम् ।
अचिन्त्यचित्तकं चैव सर्वभावस्वभावकम् ।

भी ब्रह्म की एक शक्ति स्वीकार करते हैं। चित्स्वरूप ब्रह्म का धर्म भी चित्स्वरूप ही होना उचित है। वेदान्ती लोग ऐसा नहीं मान कर गलती करते हैं। वे चिद्रूप ब्रह्म की शक्ति माया को जड़स्वभावा मानते हैं। यही माया जगत् का उपादान है इसलिये यह समूचा जगत् जड़ है। शाक्त आगमों में यह बात नहीं मानी गई। धर्मी और धर्म में अभेद होता है इसलिये चेतन ब्रह्म की शक्ति भी चेतन होगी। ब्रह्म धर्मी है, शक्ति उसका धर्म। फिर भी व्यवहार में धर्म और धर्मी में थोड़ा भेद मानना ही पड़ता है। इसीलिए धर्मी शिव और धर्म शक्ति अभिन्न होने पर भी व्यवहारानुरोध से भिन्नबत् मान लिये जाते हैं। शिव (परशिव) रूपातीत, गुणातीत शून्य रूप निरालंब स्वभाव हैं इसीलिये उनका स्वरूप निर्धारण अशक्य है। उपासना के लिये यह 'पर शिव' उपयुक्त नहीं है। उनके स्वरूप से अभिन्न और फिर भी भिन्न रूपा शक्ति ही उपास्य हो सकती है। इस उपासना के द्वारा परमशिव के साथ शक्ति का (और इसीलिये समस्त जगत् प्रपंच का) अभेद ज्ञान ही साधक का चरम लक्ष्य है। यह कहना ठीक नहीं कि कर्तृत्व और निर्वाहकत्व दोनों ही चित् में ही अवस्थित हैं अतः चित्स्वरूप शिव से भिन्न शक्ति को स्वीकार करना निष्प्रयोजन है। क्या श्रुति-स्मृति और क्या लोक व्यवहार, सर्वत्र शक्ति को स्वीकार किया गया है। गोपबधू से लेकर पुण्डित ब्राह्मण तक सभी यह कहते हैं कि यह कार्य करने की 'शक्ति' मुझ में है या नहीं है। इस प्रकार शक्ति की कल्पना केवल कल्पना नहीं है, वह तथ्य है। शिव-कुक्षि में वर्तमान, यह जगत् भी वस्तुतः शक्ति द्वारा ही निर्वाह है।^१

इस शक्ति की उपासना के लिये दूर भटकने की जरूरत नहीं है। प्रत्येक पिण्ड में, प्रत्येक अणु-परमाणु में वह शक्ति विद्यमान है। जगत् का प्रत्येक प्राणी उसे इच्छा, क्रिया और ज्ञान रूप में अनुभव करता है। ब्रह्माण्ड के रंग रंग में प्रव्याप्त यह शक्ति मानव देह में कुण्डलिनी रूप में स्थित है। नाथमार्गी साधक इस शक्ति की उपासना का प्रधान साधन पिण्ड अर्थात् काया को ही मानता है। वैसे तो सभी प्राणी और अप्राणी शक्ति के आवास हैं किन्तु केवल शक्ति का संचालन ही लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य है शिव और शक्ति का सामरस्य रूप सहज समाधि। समस्त प्राणियों में सर्वाधिक सत्त्वगुणी मनुष्य है। मनुष्य का शरीर योग सिद्धि का उत्तम साधन है। परन्तु इसको पाने मात्र से योगसिद्धि नहीं होती। इसको समझना चाहिए। इसीलिये गोरक्षनाथ ने कहा है कि जो योग-सिद्धि का अभिलाषी यही नहीं जानता कि उसके शरीर में छः चक्र क्या और कहाँ हैं; षोडश आधार कौन कौन हैं, दो लक्ष्य क्या हैं, पाँच व्योम क्या वस्तु हैं वह कैसे सिद्धि पा सकता है? फिर एक खंभे वाले, नौ दरवाजों वाले और पाँच मालिकों के द्वारा अधिकृत इस शरीर रूपी घर को जो नहीं जानता उससे, योग की सिद्धि की क्या

आशा हो सकती है ?^१ इनको जाने बिना मोक्ष कहाँ मिल सकता है । आश्चर्य है दुनिया के लोगों की मूर्खता पर ! कोई शुभाशुभ कर्म के अनुष्ठान से मोक्ष चाहता है, कोई वेदपाठ से, कोई (बौद्ध लोग) निरालम्बन को बहुमान देते हैं, कोई ध्यान-कला-करण-संबद्ध-प्रयोग से उत्पन्न रूप-बिन्दु-नाद-चैतन्य-पिएड-आकाश को मोक्ष कहते हैं^२, कोई पूजा पूजक मद्य-मांस, सुरतादि से उत्पन्न आनन्द को मोक्ष कहते हैं, कोई मूलकंद से उल्लसित कुण्डलिनी के संचार को ही मोक्ष कहते हैं, और कोई समदृष्टि निपात को ही मोक्ष कहते हैं । परन्तु ये सभी असल में मोक्ष नहीं हैं । जब सहजसमाधि के द्वारा मन से ही मन को देखा जाता है तब जो अवस्था होती है असल में वही मोक्ष है ।^३ यह सहजसमाधि क्या है ? इस बात को समझने के पहले पातंजल-विहित योगमार्ग को समझना आवश्यक है ।

नाथमार्ग के परवर्ती ग्रंथों में कुण्डलिनी को कोई चर्चा नहीं आती । म छिन्द्र-गो र ख बो ध में गोरखनाथ के प्रश्नों का उत्तर मत्स्येन्द्रनाथ ने दिया है । इस प्रश्नोत्तरो में कुण्डली या कुण्डलिनी के विषय में न तो कोई प्रश्न है न उत्तर । अनेक ग्रंथों में हठयोग को कुण्डलीयोग से भिन्न बताया गया है । फिर भी संस्कृत में प्राप्त गोरक्ष लिखित मानी जाने वाली प्रायः सभी पुस्तकों में कुण्डलिनी शक्ति के उद्बोधन की चर्चा है । अ म रौ घ शा स न का जो वचन ऊपर उद्धृत किया गया है उससे भी मालूम होता है कि गोरक्षनाथ कुण्डलिनी-वाद के विरोधी थे । पर अ म रौ घ शा स न में प्राणायाम का परिणाम कुण्डलिनी का उद्बोधन बताया गया है, यह हम आगे देखेंगे (११वाँ अध्याय) । हिन्दी में गोरक्षपंथ का जो साहित्य उपलब्ध हुआ है उसमें कुण्डली-उद्बोधन का कोई प्रसंग नहीं मिलता । संभवतः नाथमार्ग के परवर्ती अनुयायी इसे भूल गए थे या फिर यह भी हो सकता है कि संस्कृत की पुस्तकों में तंत्र मत का प्रभाव रह गया हो ।

१. षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलोक्यं ध्योमपञ्चकम् ।

स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः ॥

एक स्तंभं नवद्वारं गृहं पञ्चाधिदैवतम् ।

स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः ॥

— गोरक्षशतक १३-१४

२. अहो मूर्खता लोकस्य । केचिद्वदन्ति शुभाशुभकर्मविच्छेदनं मोक्षः, केचिद् वदन्ति वेदपाठाश्रिते मोक्षः, केचिद् वदन्ति निरालम्बनलक्षणो मोक्षः, केचिद् वदन्ति ध्यानकलाकरणसंबद्धप्रयोगसंभवेन रूपविन्दुनादचैतन्यपिएडाकाशलक्षणो मोक्षः, केचिद्वदन्ति पूजा-पूजक-मद्य मांसादि सुरत-प्रसंगानंदलक्षणो मोक्षः, केचिद् वदन्ति मूलकन्दोल्लसितकुण्डलोसंचारलक्षणो मोक्षः । केचिद् वदन्ति सुसमदृष्टि निपातलक्षणो मोक्षः । इत्येवंविध भावनाश्रित लक्षणो मोक्षो न भवति । अथ मोक्षपदं कथ्यते—यत्र सहजसमाधिक्रमेण मनसा मनः समालोक्यते स एव मोक्षः ।

— अ म रौ घ शा स न म् पृ० ८-६

पातंजल योग

अनादिकाल से इस देश में योगविद्या का प्रचार है। कठ (६.११; ६.१८); श्वेताश्वतर (२.११; २.८) आदि पुरातन उपनिषदों में इस योगविद्या का उल्लेख है और परवर्ती उपनिषदों में से कई का तो मुख्य प्रतिपाद्य विषय ही योग है। आगे संक्षेप में इन परवर्ती उपनिषदों की चर्चा का सुयोग हमें मिल सकेगा। प्रसिद्ध है कि आदि पुरुष हिरण्यगर्भ ने ही पहले पहल मनुष्य जाति के उपकार के लिये इस विद्या का उपदेश किया था। योगदर्शन के प्रसिद्ध टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने लिखा है कि पतञ्जलि ने हिरण्यगर्भ द्वारा उपदिष्ट शास्त्र का ही पुनः प्रतिपादन किया था। इसीलिये योगि-याज्ञवल्क्य ने हिरण्यगर्भ को ही इस शास्त्र का आदि उपदेष्टा कहा है (१.१.१६ पर तत्त्व वैशाख रदी)। विश्वास किया जाता है कि पतञ्जलि मुनि शेष नाग के अवतार थे। उनका योगदर्शन पातञ्जलदर्शन के नाम से प्रख्यात है। इस दर्शन की अनेक महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ लिखी गई हैं जिनमें व्यास का भाष्य, विज्ञानभिक्षु का वार्तिक, वाचस्पतिमिश्र की टीका, भोजदेव की वृत्ति और रामानन्द यति की मणिप्रभा विशेष रूप से प्रसिद्ध और प्रचलित हैं। मूल पातंजलदर्शन चार पादों (=चरणों) में विभक्त है। सारा ग्रंथ सूत्ररूप में लिखा हुआ है और कुल सूत्रों की संख्या १९५ है। चार पादों के नाम उनमें प्रतिपादित विषय के अनुकूल हैं। नाम इस प्रकार हैं—

१. समाधिपाद, २. साधनपाद, ३. विभूतिपाद और ४. कैवल्यपाद।

पतञ्जलि मुनि ने चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहा है (१.१.२) भाष्यकार व्यास ने पाँच प्रकार के चित्तगुणों का बतलाया है कि इस प्रसंग में योग शब्द का अर्थ समाधि है। जब चित्त में रजोगुणों का प्राबल्य होता है तो वह अस्थिर और बहिर्मुख हुआ रहता है और जब तमोगुणों का प्राबल्य रहता है तो वह विवेकशून्य हो जाता है, कार्य और अकार्य के विचार से वह हीन हो जाता है। प्रथम को (१) क्षिप्त चित्त कहते हैं और (२) द्वितीय को मूढ़। जब सत्त्वगुण की प्रधानता होती है तो वह दुःख के साधनों को छोड़कर सुख के साधनों की ओर प्रवृत्त होता है। इस प्रकार के चित्त को (३) विक्षिप्त कहते हैं। प्रथम दो तो योग के योग्य एकदम नहीं हैं, तीसरा कदाचित् स्थिर हो भी जाता है। किन्तु चित्त जब बाह्य विषयों से हटकर एकाकार वृत्ति

धारण करता है तो उसे (४) एकाग्र कहते हैं। यह एकाकार वृत्ति भी जब अन्य संस्कारों के साथ साथ लय हो जाती है तो उस चित्त को (५) निरुद्ध चित्त कहते हैं। इन पांच प्रकार के चित्तों के चार परिणाम बताए गए हैं। क्षिप्त और मूढ़ में व्युत्थान, विक्षिप्त में समाधि-प्रारंभ, एकाग्र में एकाग्रता और निरुद्ध में निरोध-लक्षण परिणाम उपयोगी होते हैं। समाधि के लिये अंतिम दो परिणाम बताए गए हैं। सभी प्रकार का निरोध योग नहीं है। प्रेम की अवस्था में क्रोध की और क्रोध की अवस्था में प्रेम की वृत्ति निरुद्ध होती है परन्तु इसे योग नहीं कह सकते। इसीलिये भाष्यकार व्यास ने बताया है कि योग शब्द से सूत्रकार का तात्पर्य उस प्रकार का निरोध से है जिसके होने से अविद्या आदि क्लेश-राशि नष्ट होती है बुद्धि के लिये सात्विक निर्मल भाव की वृद्धि होती है और वह 'सहजावस्था' प्राप्त होती है जो वास्तविक चित्तवृत्ति-निरोध है। सूत्रकार ने इस प्रकार के योग (या समाधि) को दो प्रकार का बताया है, संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात। चित्त की एकाग्रता-वस्था में संप्रज्ञात समाधि होती है और पूर्ण निरोधावस्था में असंप्रज्ञात समाधि। संप्रज्ञात समाधि में चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध नहीं होता बल्कि ध्येय रूप में अवलंबित विषय को आश्रय करके चित्तवृत्ति उस समय भी वर्तमान रहती है परन्तु असंप्रज्ञात समाधि में सारी वृत्तियाँ निरुद्ध रहती हैं।

योगी को संप्रज्ञात समाधि के लिये तीन विषयों का अवलंबन करना होता है:—(१) ग्रहीता, (२) ग्रहण और (३) ग्राह्य। ग्राह्य विषय दो प्रकार के होते हैं, स्थूल और सूक्ष्म; ग्रहण का अर्थ है इन्द्रिय और ग्रहीता से बुद्धि और अत्मा के उस अविचित्र भाव से तात्पर्य है जिसे 'अस्मिता' कहते हैं। तीरन्दाज जिस प्रकार स्थूल निशाने को साध कर क्रमशः सूक्ष्म निशाना साधने का अभ्यास करता है, वसी प्रकार योगी भी पहले स्थूल विषयों को और क्रमशः सूक्ष्म विषयों को ध्यान का आलंबन बनाता है। पहले वह (१) स्थूलग्राह्य अर्थात् पञ्चभूत फिर (२) सूक्ष्मग्राह्य अर्थात् पञ्चतन्मात्र, फिर (३) ग्रहण अर्थात् इन्द्रिय और फिर सब के अन्त में (४) अस्मिता को अवलंबन करके एकाग्रता की साधना करता है। इस प्रकार के भिन्नजातीय अवलंबनों के कारण संप्रज्ञात समाधि भी चार प्रकार की होती है जिसकी चर्चा आगे की जा रही है।

परन्तु इस प्रसंग में ध्यान में रखने की बात यह है कि परम्परा से यह विश्वास किया जाता रहा है कि सांख्य और योग का तत्त्ववाद एक ही है और यद्यपि योगदर्शन के मूल सूत्रों से यह बात अब भी सिद्ध नहीं की जा सकी है तथापि व्याख्याकार लोग सांख्य के तत्त्ववाद को ही योग का तत्त्ववाद मानकर व्याख्या करते आये हैं। कभी कभी दोनों मतों में पार्थक्य भी बताया गया है। सांख्य ईश्वर को नहीं मानता और योग दर्शन मानता है इसलिये योग को सेखरसांख्य कहा जाता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि ऐसे संप्रदाय भी हैं जो सांख्य के तत्त्ववाद को स्थूल मानते हैं और योग को भी दूसरे दृष्टिकोण से देखते हैं। जो हो, ऊपर जिस स्थूल सूक्ष्म, ग्राह्य और ग्रहण का प्रसङ्ग है, उसकी व्याख्या सब ने सांख्य के तत्त्ववाद

के अनुकूल ही की है। संक्षेप में, इसीलिये उस तत्त्ववाद की यहाँ चर्चा कर लेना ही उचित है।

सांख्य के मत से पुरुष अनेक हैं और प्रकृति उन्हें अपने आयाजाल में फँसाती है। पुरुष विशुद्ध चेतन स्वरूप, उदासीन और ज्ञाता है। जब तक उसे अपने इस स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता तभी तक वह उसके जाल में फँसा रहता है। यह दृश्यमान जगत् वस्तुतः प्रकृति का ही विकास है। प्रकृति, सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों की साम्यावस्था का ही नाम है। सारे दृश्यमान जगत् को सांख्य शास्त्र प्रधानतः चार भागों में बाँटते हैं—(१) प्रकृति (२) प्रकृति-विकृति (३) विकृति और (४) न प्रकृति न विकृति। चौथा पुरुष है। वह न प्रकृति ही है और न उसका विकार हो (सांख्यकारिका ३)। बाकी तीन में प्रकृति तो अनादि ही है। पुरुष के साथ प्रकृति का जब संयोग होता है तो प्रकृति में बिच्छोभ होता है, उसकी साम्यावस्था टूट जाती है, वह प्रकृति न होकर विकृति (= विकारशील) का रूप धारण करने लगती है। प्रकृति से महान् या बुद्धि तत्त्व उत्पन्न होता है, उससे अहंकार और उससे पंचतन्मात्र (अर्थात् शब्द-तन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रस-तन्मात्र, और गंध तन्मात्र) उत्पन्न हुए हैं। एक तरफ तो महान् या बुद्धि तत्त्व मूल प्रकृति का विकार है और दूसरी तरफ अहंकार की प्रकृति भी है। इसी प्रकार अहंकार और पंचतन्मात्र भी एक तरफ तो क्रमशः महान् और अहंकार के विकार हैं और दूसरी तरफ क्रमशः पंचतन्मात्र और पंच महाभूतों की प्रकृति भी हैं। इसीलिये सांख्य शास्त्रो इन्हें (अर्थात् महान् अहंकार और पंचतन्मात्र, इन सात तत्वों को) 'प्रकृति-विकृति' कहते हैं। इनसे पाँच ज्ञानेन्द्रिय (कान, त्वचा, भाँख, रसना और नाक), पाँच कर्मेन्द्रिय (हाथ, पाँव, जीभ, वायु और उपस्थ) ये दस इन्द्रिय मन और पाँच महाभूत (अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) उत्पन्न हुए हैं जो केवल विकृति है। इस प्रकार एक पुरुष, एक प्रकृति, सात प्रकृति-विकृतियाँ और १६ विकृतियाँ, कुल मिलाकर इन २५ तत्वों के प्रसार-विस्तार से यह सारी सृष्टि बनी है। योग में चित्त शब्द का व्यवहार अन्तःकरण के अर्थ में होता है। अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि और अहंकार। पुरुष (= आत्मा) स्वभावतः शुद्ध और निर्विकार है परन्तु अज्ञान के कारण अपने को चित्त से अभिन्न समझता है। किन्तु चित्त असल में प्रकृति का परिणाम होने के कारण जड़ है, चेतन पुरुष की छाया पड़ने के कारण ही वह चेतन की भाँति जान पड़ता है।

एकाग्रता के समय चित्त की अवस्था विशुद्ध स्फटिक मणि के समान होती है। स्फटिक के सामने जो वस्तु भी हो वही उसमें प्रतिबिंबित होकर उसे अपने ही आकार का बना देती है। इसी प्रकार एकाग्रता की अवस्था में जो ध्येय वस्तु होती है वह चित्त में प्रतिबिंबित होकर चित्त को अपने ही स्वरूप का बना देती है अर्थात् उस हालत में ध्येय वस्तु के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की सत्ता-चित्त में नहीं रहती। योगशास्त्र में इस प्रकार अवलंबित विषयों के कारण चित्त के अनुरंजित या प्रतिबिंबित होने को 'समापत्ति' कहा जाता है। यह समापत्ति केवल संप्रज्ञात समाधि-निष्ठ चित्त की स्वाभाविक अवस्था या धर्म है। इसी के भिन्न-भिन्न रूपों के अनुसार सम्प्रज्ञात समाधि

चार प्रकार का होती है :— (१) स्थूल विषयों के अवलंबन से सिद्ध एकाग्रता को 'सवितक', (२) कुछ अधिक सूक्ष्म तन्मात्र आदि को अवलंबन करके साधित एकाग्रता को 'सविचार', (३) उससे भी अधिक सूक्ष्म इन्द्रिय रूप विषय को अवलंबन करके जो एकाग्रता सिद्ध होती है उसे 'सानंद' और (४) बुद्धि के साथ आत्मा की अभिज्ञता-रूप भ्रान्ति—जिसे अस्मिता कहते हैं—को अवलंबन करके जो एकाग्रता प्राप्त होती है उसे 'सास्मित', कहते हैं (१.१७)। इन चारों प्रकार की अवस्थाओं में उस वस्तु के तत्त्व का ज्ञान होना आवश्यक है जिसे अवलंबन किया गया है या किया जा रहा है। एक का तत्त्व-साक्षात्कार किए बिना परवर्ती अवस्था में उचकना निषिद्ध है।

समुद्र में जिस प्रकार तरंगों उठा करती हैं उसी प्रकार चित्त में असंख्य वृत्तियाँ उठा करती हैं। शास्त्रकार ने उन्हें पाँच मोटे विभागों में बाँट कर समझाया है— (१) प्रमाण, (२) विपर्यय (मिथ्या ज्ञान), (३) विकल्प, (४) निद्रा और (५) स्मृति, ये पाँच प्रकार की वृत्तियाँ राग, द्वेष और मोह से अनुविद्ध होती हैं इसलिये क्लेशकर हैं। इसीलिए मुमुक्षु व्यक्ति को इनका निरोध करना चाहिए। अभ्यास और वैराग्य से यह बात संभव है। साधारण अवस्था में पुरुष (=आत्मा) का प्रकृत स्वरूप यद्यपि निर्विकार ही रहता है तथापि वह मोहवश अपने वास्तविक रूप से परिचित नहीं होता और 'वृत्तिसारूप्यता' को प्राप्त होता है। अर्थात् चित्त की जो वृत्ति जिस समय उपस्थित रहती है पुरुष उस समय उसी को अपना स्वरूप समझ लेता है। कोई भी विषय चाहे वह बाह्य हो या आन्तर, जब तक चित्तवृत्ति का विषय नहीं हो जाता तब तक पुरुष उसे ग्रहण नहीं कर सकता, और सुख होने के कारण वह उन वृत्तियों से अपनी पृथक् सत्ता को अनुभव नहीं कर पाता। वैराग्य और दीर्घ अभ्यास के बाद वह अपने आपके स्वरूप को पहचानता है।

संप्रज्ञात समाधि में ध्येय-विषयक वृत्तियाँ चित्त में वर्तमान रहती हैं और बराबर ही अपने अनुरूप संस्कार-प्रवाह को उत्पन्न करती रहती हैं। असंप्रज्ञात समाधि में ऐसी कोई वृत्ति नहीं रहती। हृदय में पुनः पुनः वैराग्य के अनुशीलन से समस्त चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। भगवान् ने गीता में कहा है कि यद्यपि चंचल मन का वश करना कठिन है तथापि अभ्यास और वैराग्य से उसे वश में किया जा सकता है। दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष सुख और आनुश्रविक अर्थात् केवल शास्त्र से जाने जानेवाले स्वर्गादि सुख—इन दोनों प्रकार की भोगाभिलाषा की निवृत्ति को 'वैराग्य' कहते हैं। यह वैराग्य दो प्रकार का होता है—अपर वैराग्य और पर वैराग्य। अपर वैराग्य की चार सीढ़ियाँ हैं—(१) राग और द्वेषवश जो इन्द्रियचाञ्छल्य होता है उसे रोकने की चेष्टा (यतमान संज्ञा) (२) राग और विराग के विषयों को अलग ठीक करना (व्यतिरेक संज्ञा), (३) इन्द्रिय निवृत्ति के बाद केवल मन द्वारा विषयों की चिन्ता (एकेंद्रिय संज्ञा) और अन्त में (४) मानसिक उत्सुकता को भी वश में करना (वशीकार संज्ञा)। संप्रज्ञात समाधि तक तो इस प्रकार के वैराग्य से ही प्राप्त हो जाती है। किन्तु वैराग्य की उत्कृष्ट अवस्था वह है (पर वैराग्य) जब दृष्टा, पुरुष, प्रकृति और बुद्धि आदि समस्त तत्त्वों से अपने को पृथक् समझ लेता है और समस्त त्रिगुणात्मक विषयों के उन्मोग से विवृण्ण

हो जाता है। इसी 'पर वैराग्य' के अनुशीलन से असंप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। यह समाधि चूंकि संप्रज्ञात समाधिकालीन ध्येय विषयक चिन्ता के विराम के कारण प्रत्यय (= पर वैराग्य) के पुनः पुनः अनुशीलन या अभ्यास से होती है इसलिये सूत्रकार ने इसे 'विराम प्रत्ययाभ्यासपूर्व' कहा है। इसमें चित्तवृत्तियाँ तो निरुद्ध हो जाती हैं पर संस्कार फिर भी बच रहता है। बहुत दीर्घकाल तक बने रहने के बाद इन संस्कारों की कोई वृद्धोदक सामग्री न मिलने से वे भा समाप्त हो जाते हैं। इसीलिये असंप्रज्ञात समाधि को निरोध समाधि और निर्वीज समाधि भी कहते हैं। ऐसे भी योगी हैं जो ज्ञान का सम्यक् उद्रेक न होने के कारण प्रकृति, महान् या अहंकार को ही आत्मा मानकर निरोध समाधि का अभ्यास करते हैं। उनकी समाधि को 'भवप्रत्यय' नाम दिया गया है। इसमें भ्रान्ति बनी रहती है इससे इसमें कैवल्यज्ञान (अर्थात् पुरुष या आत्मा का केवल पुरुष रूप में ही अवस्थान-रूप ज्ञान) नहीं होता। असंप्रज्ञात समाधि के उत्कृष्ट उपाय हैं, श्रद्धा, वीर्य (उत्साह), स्मृति और योगांग। इन उपायों के द्वारा जो समाधि होती है वही 'उपाय प्रत्यय' कही गई है। इस असंप्रज्ञात समाधि की पूर्णता की अवस्था में द्रष्टा अर्थात् पुरुष (आत्मा) 'केवल' स्वरूप में अवस्थान करता है। यही कैवल्य-प्राप्ति है।

सूत्रकार ने इस अवस्था की प्राप्ति के लिये एक और भी उपाय बताया है। ईश्वर-प्रणिधान या ईश्वर में मन लगाना (१-२३)। साधारण जीवों में जो पांच प्रकार के क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) होते हैं; जो दो प्रकार के कर्म (धर्म और अधर्म) होते हैं; जो तीन प्रकार के विपाक (जन्म, आयु, और भोग) होते हैं और जो पूवतक संस्कार होते हैं (आशय) उनसे ईश्वर रहित है। वह सर्वज्ञ है और इसीलिये अन्योन्य पुरुषों से विशेष है। अर्थात् साधारण पुरुष अविद्यादि क्लेशों के अधीन हैं, जन्म मरण के चक्र में पड़े हुए हैं, पाप-पुण्य (धर्म-अधर्म) के वशवर्ती हैं और पूव-संचित वासनाओं के दास हैं। ईश्वर इनसे भिन्न अनन्त ज्ञान का आकर, दोषहीन, क्लेशशून्य, नित्यशुद्ध और नित्यमुक्त है। इसी ईश्वर का वाचक शब्द प्रणव या ओंकार है। इसके नाम के जप और नामी (ईश्वर) की चिन्ता करने से साधक का चित्त पकात्र होता है और उसे आत्मसाक्षात्कार भी प्राप्त होता है। फिर उसके विघ्न भी दूर होते हैं। योग साधक के अनेक विघ्न होते हैं। उसे व्याधि हो सकती है जिससे शरीर रुग्ण होकर मन पर भी असर डाल सकता है, उसके चित्त में अकर्मण्यता या जड़ता आ सकती है (स्थान), योग के विषय में सन्देह उपस्थित हो सकता है (संशय), प्रमाद और आलस्य हो सकते हैं, विषय भोग की लृष्ट्या पैदा हो सकती है (अविरति) विपरीत ज्ञान (भ्रान्तिदर्शन) हो सकता है, समाधि के अनुकूल चित्त की जो अवस्था होती है उसका अभाव हो सकता है (अलब्धभूमिकत्व), फिर ऐसा भी हो सकता है कि समाधि के अनुकूल अवस्था तो सुप्त हो गई पर मन उस समय स्थिर नहीं हो सका। इन बातों से चित्त विक्षिप्त हो जाता है। ईश्वर प्रणिधान से इन विघ्नों की संभावना दूर हो जाती है। शास्त्रकार ने चित्त विशोधन के और भी कई उपाय बताए हैं, उनमें अभिमत वस्तु का ध्यान उल्लेख है (१-३९)। यहाँ तक सूत्रकार ने ज्ञान पर हो जाय दिशा है। इस

‘पाद’ या चरण में माधारण रूप से समाधि की बात ही होने के कारण उन्होंने इसका नाम ‘समाधिपाद’ दिया है।

दूसरे पाद का नाम है साधनपाद या क्रियायोग। क्रियायोग अर्थात् तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। इस क्रियायोग के दो उद्देश्य बताए गए हैं—समाधि-भावना और क्लेशों को क्षीण करना (क्लेशतनूकरण)। समाधि को हम पहले ही समझ आए हैं, क्लेश पाँच प्रकार के हैं, (१) अविद्या अर्थात् भ्रान्तिज्ञान—जो अनित्य है उसे नित्य समझना, जो जड़ है उसे चेतन समझना और जो अनात्मा है उसे आत्मा समझना; (२) अस्मिता अर्थात् अहंकार बुद्धि और आत्मा को एक ही मान लेना; (३) राग अर्थात् सुख और उसके साधनों की ओर खिंचाव; (४) द्वेष अर्थात् दुःख और दुःखजनक वस्तुओं के प्रति हिंसा वृत्ति और (५) अभिनिवेश अर्थात् नाना जन्मों के संस्कार वश मरणादि से त्रास। ये पाँचों क्लेश हैं पर अन्तिम चार की उत्पत्ति का कारण अविद्या ही है। ये अन्तिम चार प्रकार के क्लेश प्रसुप्त क्षीण विच्छिन्न या उदार अवस्थाओं में से किसी एक में ही एक समय रह सकते हैं। उदाहरणार्थ, शैशवावस्था में राग सुप्त रहता है, क्रोधावस्था में विच्छिन्न रहता है, रागविरोधी विचारों के समय क्षीण रहता है और उपयुक्त अवसर पर प्रबुद्ध या उदार होकर रह सकता है। अब, ये चारों क्लेश जिस अवस्था में भी क्यों न हों उनका मूल कारण अविद्या या गलत ज्ञान ही है। क्रियायोग की सहायता से योगी इन क्लेशों को क्षीण करता है और क्रमशः भागे बढ़कर प्रसंख्यान अर्थात् ध्यान रूप भग्नि से उन्हें भस्म कर देता है। यह उद्देश्य सिद्ध हो जाने पर प्रथम उद्देश्य—समाधिभावना—सहज ही सिद्ध हो जाता है क्योंकि जितने भी कर्म आशाय और विपाक हैं वे सभी क्लेशमूलक हैं और क्लेशों के उच्छेद होने से उनका उच्छेद अपने आप हो जाता है।

योगदर्शन संपूर्ण शास्त्रार्थ को चार भागों में विभक्त करता है—हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय। दुःख और दुःख जनक पदार्थ हेय हैं और चूँकि अविद्या ही इस हेय वस्तु को जीव के सामने चरस्थित करती है और जीव गलती से उन्हें भोग्य और अपने को उनका भोक्ता समझ कर उत्तम जाता है इसलिये यह जो भोग्य-भोक्ता-भाव रूप संयोग है वही हेय-हेतु है। स्पष्ट ही अविद्या के कारण यह संयोग संभव होता है; इसलिये वास्तविक हेयहेतु तो अविद्या ही है और विवेक ज्ञान ही इस हेयहेतु के हान का उपाय है क्योंकि उसी से आत्मा और अनात्मा का पार्थक्य ठीक ठीक उपलब्ध होता है और अविद्या उच्छिन्न होती है। अविद्या के उच्छेद से दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। यही हेय-हान है। यही योग का चरम लक्ष्य है, यही कैवल्य है।

जब तक विवेकख्याति नहीं हो जाती तब तक योगियों के अनुष्ठान से चित्त को विशुद्ध करने का उपदेश शास्त्रकार ने दिया है (२-२८)। ये आठ हैं, यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार, तथा धारणा, ध्यान और समाधि; प्रथम पाँच बाह्य हैं और अन्तिम तीन आन्तर। संक्षेप में इनका परिचय इस प्रकार है।

(१) यम, बाहरी और भीतरी इन्द्रियों के संयमन (वृत्ति-संकोचन) को कहते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (= चोरी न करना) ब्रह्मचर्य और अपस्मिह (किसी

से कुछ न लेना) ये पाँच यम हैं। इन यमों (=संयमों) की विपरीत क्रियाओं—हिंसा, असत्य, स्तेय, वीर्यक्षय, परिग्रह—को वितर्क कहते हैं इनका फल दुःख और अज्ञान है। (२) वितर्कों के दमन और संयमों की उपलब्धि के लिये शास्त्रकार ने पाँच प्रकार के नियम बताए हैं—शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। (३) योग साधन के लिये नाना प्रकार के आसन उपयोगी बताए गए हैं। आसन अर्थात् हाथ पैर आदि का विशेष ढंग से सन्निवेश। परवर्ती योगग्रंथों में आसनों की अनेक संख्यायें बताई गई हैं परन्तु पातञ्जल दर्शन ने स्थिर और सुखकर आसन (२।४६) को ही योग-साधन का प्रकृष्ट उपाय बताया है। (४) श्वास को भीतर भरना (पूरक), उसे देर तक भीतर ही आबद्ध रखना (कुम्भक) और फिर बाहर निकालना (रेचक) प्राणायाम कहा जाता है। प्राण अर्थात् वायु के संयमन से मन का संयमन सहज होता है। (५) शब्दादि बाह्य व्यापारों से कान प्रभृति इन्द्रियों को हटा कर (प्रत्याहृत करके) पहले अन्तर्मुख करना होता है। उस अवस्था में बाह्य विषयों के साथ इन्द्रियों का कोई संपर्क नहीं होने से चित्त का संपूर्ण रूप से अनुकरण करते हैं, इन्द्रियों की इस प्रकार की अवस्था का नाम ही 'प्रत्याहार' है। इससे इन्द्रियों को वश में करना संभव होता है।

इन पाँच योगांगों की चर्चा करने के बाद-सूत्रकार ने दूसरा पाद समाप्त कर दिया है। बाकी तीन योगांगों का वर्णन विभूतिपाद नामक तीसरे पाद में किया है। ये पाँच बहिरंग साधन हैं क्योंकि कार्य सिद्धि से इनका बाहरी संबंध है। परन्तु धारणा, ध्यान और समाधि नामक योगांग साक्षात्संबंध से कार्य सिद्धि के हेतु हैं, इसलिये अन्तरंग साधन कहे गए हैं। इन तीनों को एक ही नाम 'संयम' दिया गया है। तीनों को एक ही साथ नाम देने का अभिप्राय यह है कि ये तीनों जब एक ही विषय को आश्रय करके होते हैं तभी योगांग होते हैं, अन्यथा नहीं। एक विषय की धारणा, दूसरे का ध्यान और तीसरे की समाधि को योग नहीं कह सकते। सो, नाना विषयों में विक्षिप्त चित्त को वल-पूर्वक किसी एक ही वस्तु (जैसे श्रीकृष्ण की मूर्ति) पर बांधने को 'धारणा' कहते हैं; धारणा से चित्त जब कुछ स्थिर हो जाता है तो उस विषय की एकाकार चिन्ता (=प्रत्ययैकतानता) को 'ध्यान' कहते हैं (३२) और यह ध्यान जब निरन्तर अभ्यास के कारण स्वरूप-शून्य-सा होकर ध्येय विषय के आकार में आभासित होता है (अर्थ-मात्र-निर्भासम्) तो समाधि कहा जाता है (३।१)। प्रथम पाद में जिस संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि की चर्चा हुई है वह समाधि इस से भिन्न है। वह साध्य है, यह साधन हैं; वह फल है, यह उपाय है। उस स्थूलग्राह्य, सूक्ष्मग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता भेद से अवलम्बित समाधि की अवस्था में 'संयम' (ध्यान-धारणा-समाधि) का विनियोग करना होता है। जहाँ तक संप्रज्ञात समाधि का संबंध है वहीं तक योग के आठ अंगों में से पाँच बहिरंग हैं और तीन अन्तरंग। असंप्रज्ञात समाधि के लिये तो आठों ही बहिरंग हैं। जब मनुष्य समाधि की दशा में नहीं होता, अर्थात् जब वह व्युत्थान दशा में होता है, तो उस समय दर्शन श्रवण आदि के द्वारा जिन विषयों का अनुभव करता है वे स्वयं नष्ट होने के बाद भी अपना संस्कार छोड़ जाते हैं और इसीलिये वे संस्कार निरन्तर स्मृति उत्पन्न करते रहते हैं। व्युत्थान अवस्था की भाँति समाधि अवस्था में भी संस्कार रहते ही हैं।

संप्रज्ञात समाधि की अवस्था में यद्यपि चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध रहती हैं तथापि संस्कार रहते हैं। चित्तवृत्तियों के निरोध से भी एक प्रकार का संस्कार पैदा होता है। व्युत्थान दशा वाले संस्कारों को 'व्युत्थानज' और निरोध दशा वाले संस्कारों को 'निरोधज' कहते हैं। इन दोनों का द्वन्द्व जारी रहता है, जो प्रबल होता है वही विजयी होता है। दीर्घ साधना के बाद साधक के निरोधज संस्कार प्रबल होकर व्युत्थानज संस्कारों को दबा पाते हैं। इस अवस्था को प्रथकार ने 'निरोधपरिणाम' कहा है (२.९)। यहाँ आकर योगी को नाना भाँति की विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। स्वर्ग के देवतागण इसे नाना भाव से प्रलुब्ध करते हैं। उच्च योगी इससे भटक जाते हैं पर सच्चे योगी विवर्जित नहीं होते। वे उन विभूतियों के दर्शन से विस्मित भी नहीं होते, चंचल भी नहीं होते, और प्रलुब्ध भी नहीं होते। तीसरा पाद यहीं समाप्त होता है।

कैवल्यपाद के आरंभ में ही सूत्रकार ने पाँच प्रकार की सिद्धियाँ बताई हैं। (१) पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण कुछ लोग कुछ विशेष सिद्धियाँ जन्म से लेकर ही पैदा होते हैं; फिर (२) रसायनादि औषधों की सहायता से भी अनेक प्रकार की सिद्धियाँ मिल जाती हैं। (३) ऐसा भी होता है कि यंत्रबल से आकाशगमन प्रभृति सिद्धियाँ उपलब्ध हो जाती हैं; फिर (४) तपस्या से भी सिद्धिज्ञान संभव है पर वास्तविक और परम सिद्धि तो (५) समाधि से कैवल्यप्राप्ति ही है। याको सिद्धियों से लोकप्रतिष्ठा चाहे जितनी मित्रे वे अधिकतर कैवल्यप्राप्ति में बाधक ही होती हैं। समाधि से समस्त अनागत (अर्थात् भावी) कर्म दग्धबीज की भाँति निर्वीर्य और निष्फल हो जाते हैं, केवल प्रारब्ध कर्म बचे रह जाते हैं। कभी कभी योगी लोग योगबल से अनेक कार्यों का निर्माण करके प्रारब्ध कर्म को शीघ्र ही भोग लेते हैं और उससे छुटकारा पा जाते हैं। ऐसा करने से आत्मा का जो बुद्धि से पाथेक्ष्य है उस विषय में योगी और भी दृढ़ विश्वासपरायण हो जाते हैं; फिर तो योगी का आत्मा स्वतः ही विवेक की ओर उन्मुख होकर कैवल्य की ओर धावित होता है। वह समस्त इच्छाओं से—यहाँ तक कि परम अभिलषित विवेकख्याति से भी—विरत हो जाता है। उस क्षण में वह धर्ममेव नामक समाधि को प्राप्त होता है। सूत्रकार ने कहा है कि 'प्रसख्यान' (=प्रकृति और पुष्प का विवेक-साक्षात्कार के प्रति भी जब उसका आकर्षण नहीं होता तब उसे वह 'धर्ममेव' समाधि प्राप्त होती है जो विवेकख्याति का परम फल है (४.२९)। उस समय केवल निरवच्छिन्न तत्त्व-साक्षात्कार रूपी धर्ममेव की धारासार वर्षा होती रहती है और योगी समस्त क्लेशों और कर्मों से निवृत्त हो गया रहता है। उस समय त्रिगुणात्मिका प्रकृति के जो कर्तव्य प्रत्येक पुरुष (आत्मा) के लिये निर्दिष्ट होते

हैं वे—भुक्ति और मुक्ति—समाप्त हो जाते हैं और पुरुष विशुद्ध स्वरूप (केवल-भाव) में अवस्थित हो जाता है। पुरुष के प्रति दोनों प्रकार के कर्ण्य कर्म सिद्ध हो जाने से प्रकृति भी कृतकृत्य हो जाती है और अवादि कात्र का जिंग शरीर 'चूँकि प्रकृति का परिणाम होता है, इसलिये वह भी विरत हो जाता है और सारा सूक्ष्म शरीर (जिंग शरीर) तत्सद् संपादानों में लीन हो जाता है। यही योग का परम प्रतिपाद्य है।

१. सांख्यकारिका (४०) में बताया गया है कि प्रकृति के विकारस्वरूप तेईस तत्त्वों में अन्तिम पाँच तो अत्यन्त स्थूल हैं परन्तु बाकी अठारहों तत्त्व मृत्यु के समय पुरुष के साथ ही साथ निरुल जाते हैं। जब तक पुरुष ज्ञान प्राप्त किए बिना ही मरता रहता है तब तक ये तत्त्व उसके साथ साथ लगे रहते हैं। इन अठारह तत्त्वों में से प्रथम तेरह (अर्थात् बुद्धि अहंकार मन और दश इन्द्रिय) तो प्रकृति के गुण मात्र हैं, उनकी स्थिति के लिये किसी ठोस आधार की जरूरत होती है। बिना आधार वे रह नहीं सकते, वस्तुतः पंचतन्मात्रों को जो मृत्यु के समय आत्मा का अनुसरण करते बताया गया है वह इसी लिये कि ये तन्मात्र उक्त तरह तत्त्वों को वहन करने का सामर्थ्य रखते हैं। ये अपेक्षाकृत ठोस हैं। जब तक मनुष्य जीता होता है तब तक तो इन गुणों को उसका स्थूल शरीर आश्रय किए होता है, पर जब वह मर जाता है तब पंच तन्मात्र ही इन गुणों के बाहक होते हैं (सांख्यकारिका ४१)। इस प्रकार शास्त्रकार का सिद्धान्त है कि मृत्यु के बाद पुरुष या आत्मा के साथ ही साथ एक लिंग-शरीर जाता है जो समस्त कर्मफलात्मक संस्कारों को साथ ले जाता है। इस लिंग-शरीर में जिन अठारह तत्त्वों का समावेश है उसमें बुद्धितत्त्व ही प्रधान है। वेदान्ती लोग जिसे कर्म कहते हैं, उसीको शांख्य लोग बुद्धि का व्यापार, धर्म या विकार कहते हैं। इसीको सांख्यकारिका में 'भाव' कहा गया है। जिस प्रकार फूल में रंग और कपड़े में रंग लगा रहता है उसी प्रकार यह 'भाव' लिंग शरीर में लगा रहता है (सां० का० ४२)।

गोरक्षनाथ का उपदिष्ट योगमार्ग

(१) हठयोग

गोरक्षनाथ ने जिस हठयोग का उपदेश दिया है वह पुरानी परंपरा से बहुत अधिक भिन्न नहीं है। शास्त्रग्रंथों में हठयोग साधारणतः प्राण-निरोध-प्रधान साधना को ही कहते हैं। सिद्ध सिद्धांत पद्धति में 'ह' का अर्थ सूर्य बतलाया गया है और 'ठ' का अर्थ चंद्र। सूर्य और चंद्र के योग को ही 'हठयोग' कहते हैं--

हकारः कथितः सूर्योऽकारश्चंद्र उच्यते ।

सूर्याचंद्रमसोर्योगो हठयोगो निगद्यते ॥

इस श्लोक की कही हुई बात की व्याख्या नाना भाव से हो सकती है। ब्रह्म नंद के मत से 'सूर्य' से तात्पर्य प्राणवायु का है और चंद्र से अपान वायु का। इन दोनों का योग अर्थात् प्राणायाम से वायु का निरोध करके ही हठयोग है। दूसरी व्याख्या यह है कि सूर्य इड़ा नाड़ी को कहते हैं और चंद्र पिंगला का (हठ० ३-१५)। इसलिये इड़ा और पिंगला नाड़ियों को रोककर सुषुम्ण माग से प्राण वायु के संचारित करने को भी हठयोग कहते हैं। इस हठयोग को 'हठासिद्धि' देने वाला कहा गया है^१। वस्तुतः हठयोग का मूल अर्थ यही जान पड़ता है कि कुछ इस प्रकार अभ्यास किया जाता था जिस से हठात् सिद्धि मिल जाने की आशा की जाती थी। 'हठयोग' शब्द का शायद सबसे पुराना उल्लेख गुह्य समाज में आता है। वहाँ बोधिप्राप्ति की विधि बता लेने के बाद आचार्य ने बताया है कि यदि ऐसा करने पर भी बोधि प्राप्ति न हो तो 'हठयोग' का आश्रय लेना चाहिए।^२

योग स्वरोद्यमे हठयोग के दो भेद बताए गए हैं। प्रथम में आसन, प्राणायाम तथा धौति आदि षट्कर्म का विधान है। इनसे नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं। शुद्ध नाड़ी में पूरित वायु मन को निश्चल करता है और फिर परम आनंद की प्राप्ति होती है। दूसरे भेद में बताया गया है कि नासिका के अग्र भाग में दण्ड निबद्ध करके आकाश में कोटि सूर्य के प्रकाश को स्मरण करना चाहिए और श्वेत, रक्त, पीत और कुण्डल रंगों का ध्यान करना चाहिए। ऐसा करने से साधक विराग्य होता है और हठात् ज्योतिर्मय होकर शिवरूप हो जाता है। इस योग को इसीलिये हठयोग कहा गया है। यह सिद्धसंबत मार्ग है।^३

१. प्राणतोषिणी : पृ० ८३५

२. दर्शने तु कृतेऽप्येवं साधकस्य न जायते ।

यदा न सिद्ध्यते बोधिर्हठयोगे साधयेत् ॥

३. हठाज्योतिर्मयोभूत्वा ह्यन्तरेण शिवो भवेत् ।

अतोऽयं हठयोगः स्यात् सिद्धिदः सिद्धसेवतः ।

कहते हैं कि हठयोग की दो विधियाँ हैं—एक तो गोरक्षनाथ की पूर्ववर्ती जिसका उपदेश मृच्छङ्गपुत्र (मार्कण्डेय) आदि ने किया था और दूसरी गोरक्षनाथ आदि द्वारा उपदिष्ट^१ । प्रधान भेद यह बताया जाता है कि पहली उन सभी आठ अंगों को स्वीकार करती है जिन्हें पातंजल योग के प्रसंग में हम देख आए हैं और दूसरी केवल अन्तिम छः अंगों को^२, परन्तु यह भेद बहुत अधिक मान्य नहीं है। हठयोग के ग्रन्थों में अष्टांग योग की भी बात आती है और षडंग योग की भी। गोरक्षनाथ के प्रसंग में षडंगयोग की बात है^३ और सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में अष्टांग योग की^४ ।

हठयोग का अभ्यासी शरीर की बनावट से अपरिचित रह कर सिद्धि नहीं पा सकता। मेरुदण्ड जहाँ सोधे जाकर वायु और उपस्थ के मध्यभाग में लगता है वहाँ एक स्वयंभू लिंग है जो एक त्रिकोण चक्र में अवस्थित है। इसे अग्निचक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्निचक्र में स्थित स्वयंभूलिंग को साढ़े तीन बलयों में लपेट कर सपिण्डी की भाँति कुण्डली बद्धस्थित है। यह कभी कभी आठ बलयों में लपेटकर सोई हुई भी बताई गई है (गो०प० १, ४७)। यह ब्रह्माण्ड में व्याप्त महाकुण्डलिनी रूपी शक्ति का ही व्यष्टि में व्यक्त रूप है। यह शक्ति ही है जो ब्रह्मद्वार को रोध करके सोई हुई है^५। इसे जगाकर शिव से सम-रस कराना योगी का चरम लक्ष्य है। अन्यान्य विधियों से भी मत्त प्राप्त किया जाता है, परन्तु चाभी से जिस प्रकार ताला हटात् खुल जाता है उसी प्रकार कुण्डली के उद्बोधन से हठात् मोक्षद्वार अनायास ही खुल जाता है^६। हठात् मोक्षद्वार खोलने की विधि बताने के कारण भी इस योग को 'हठ योग' कहते हैं। इस कुण्डली-उद्बोध की कई विधियाँ हो सकती हैं।

शरीर में तीन ऐसी चीजें हैं जो परम शक्तिशाली हैं पर चंचल होने के कारण वे अनुष्ठानों के काम नहीं आ रही। पहली और प्रधान वस्तु है (१) बिंदु अर्थात् शुक्र। इसको यदि ऊपर की ओर उठाया जा सके तो बाकी दो भी स्थिर होते हैं। बाकी दो हैं, (२) वायु और (३) मन। हठयोगी का सिद्धान्त है कि इन में से किसी एक को भी यदि वश में कर लिया जाय तो दूसरे दो स्वयमेव वश में हो जाते हैं। एक एक पर संज्ञे में विचार किया जा रहा है। यहाँ इतना और कह रखना उचित है कि कभी कभी एक चौथी वस्तु की भी चर्चा शास्त्र में आ जाती है : वह है, वाक् या बाणी।

१. द्विधा हठ स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधितः ।

अन्यो मृच्छङ्गपुत्राद्यैः साधितो हठसंज्ञकः ॥

२. स० भ० स्ट० भग ६ में म० म० प० गोपीनाथ कविराज का लेख देखिए ।

३. गो० श० : १७; सि० सि० सं० : २४४

४. येन दारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम् ।

मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्तं परमेश्वरी ॥

—गो० श० १४८

५. उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ।

कुण्डलिन्या ततो योगी मोक्षद्वारं प्रवेदयेत् ॥ —वही १५१

अ म रौ घ शा स न में (पृ० ७) लिखा है कि मेरुदण्ड के मूज में सूर्य और चंद्र के बीच ये नि मे स्वयंभू लिंग है जिसे पश्चिम लिंग कहते हैं। यही पुरुषों के शुक्र और स्त्रियों के रजः स्खलन का मार्ग है। यही काम, विषहर और निरंजन का स्थान है। वीर्य स्खलन की दो अवस्थाएं होती हैं। इन दोनों के पारिभाषिक नाम प्रलयकाल और विषकाल हैं। इन दो अवस्थाओं में जो आनंद होता है वह घातक है। एक का अधिष्ठाता काम है और दूसरी का विषहर। तीसरी अवस्था नानाभाव-विनिर्मुक्त सहजानंद की अवस्था है, इसमें बिंदु ऊर्ध्वमुख होकर ऊपर चठता है तब यह सहज समाधि प्राप्त होती है जिसमें मन और प्राण अचंचल हो जाते हैं।^१ ब्रह्मचर्य और प्राणायाम के द्वारा इस बिंदु को स्थिर और ऊर्ध्वमुख किया जा सकता है। परन्तु इसके लिये आवश्यक है कि नाड़ियों को शुद्ध किया जाय। हठयोगी षट् कर्म के द्वारा वही कार्य करण है। इन शुद्ध को क्रियाओं का साधनग्रंथों में बिरतृत रूप से उल्लेख है। इनमें धौति है, बस्ति है, नति है, त्राटक है, नौलि है, कपालभाति है—इन्हीं को षट् कर्म कहते हैं। नाड़ी के शुद्ध होने से बिंदु स्थिर होता है, सुषुम्ना का मार्ग साफ हो जाता है, प्राण और मन क्रमशः अचंचल होते हैं और प्रबुद्ध कुण्डलिनी परमेश्वरी सहस्रार चक्र में स्थित शिव के साथ समरस हो जाती है और योगी चरम प्राप्तव्य पा जाता है। इस क्रिया के लिये ही योगी लोग वस वज्राली मुद्रा का अभ्यास करते हैं जिसमें नाना विधियों से पुरुष स्त्री के रज को और स्त्री पुरुष के शुक्र को आकर्षण करके ऊर्ध्वमुख करती है।^२ यद्यपि यह साधना नाथमार्ग में प्रक्षिप्त जान पड़ती है पर अपने पारमार्थिक अर्थ में यह इस मार्ग में स्वीकृत थी। सिद्ध सिद्धान्त सं प्र ह में एक संदिग्ध श्लोक है जो इस साधना के प्रकाश में कुछ स्पष्ट हो जाता है।^३ इसमें

१. इस प्रसंग में अ म रौ घ शा स न में निम्नलिखित श्लोक हैं जिनमें वज्रयानी साधकों के पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार जान पड़ता है। इन शब्दों के सांवृतिक और पारमार्थिक अर्थ भी यात हम कृष्णपाद (कानिषा) के प्रसंग में जान चुके हैं—

शक्तित्रयविनिर्भिन्ने चित्ते बीजनिरंजनात् ।

वज्रपूजापदानंदं यः करोति स मन्मथ ॥

चित्ते तु मे मनोमुक्तिरूर्ध्वमार्गाश्रितेऽ ले ।

वदानचलितं रेतो मृत्युरेखाविपं विदुः ॥

चित्तमध्ये भवेद्यस्तु बालाग्रशतधाश्रये ।

नानाभावविनिर्मुक्तः स च प्रोक्तो निरंजनः ॥

—अ० शा० पृ० ८

२. गी० प०: (पृ० १३ ५५)

३. मंकोचनेन मणिकंथ पात्र तुर्ये दण्डध्वनैव चरमेण निवेश्य नित्तम् ।

वज्रोदरे सगतिबंधनभेदिदृष्यां भृंगस्य चेद्विदुदरे (?) खलु विदुबंधः ॥

एषा वज्रोलिका प्रोक्ता सिद्धिभिद्धान्तवेदिभिः ॥

ज्ञानादेव भवेदम्याः सिद्धमार्ग प्रकाशितः ॥ सि० सि० सं० २।१७-१८

स्वप्न रूप से कहा गया है कि इसके जन्मत्र से सिद्ध मार्ग प्रकाशित हो जाता है। इस कथन का स्पष्ट अर्थ है कि केवल पारमार्थिक अर्थों में ही यह सिद्धमार्ग में गृहीत है।

नाडीशुद्धि होने के बाद प्राणादि वायुओं का शमन सहज हो जाता है। नाना प्रकार के आसनो और प्राणायामों से सुषुम्ना मार्ग खुल जाता है। नाडियों को प्रवानत दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। इच्छिणाङ्ग में व्याप्त नाडियाँ सत्य का अंग हैं और वाम भाग वाली चंद्रमा के अंग। इन दोनों के बीच सुषुम्ना है। जब नाना भाँति के अभ्यास से योगी चंद्र और सूर्य मार्गों को बंद कर देता है और उनमें बहने वाली वायु शक्तिसंयमित होकर योनिबंध के मूल में स्थित सुषुम्ना की मध्यवर्तिनी ब्रह्मनाड़ी के मुख को खुला पाकर उस मार्ग से ऊपर उठती है तो वस्तुतः कुण्डलिनी ही ऊर्ध्वमुख होती है। प्राणायाम से कुण्डलिनी का उद्बोध सुकर हो जाता है।

यह कुण्डलिनी जब उद्बुद्ध होती है तो प्राण स्थिर हो जाता है और साधक शून्य पथ से निरंतर उस अनाहत ध्वनि या अनन्त नाद को सुनने लगता है, जो अखण्ड रूप से निश्चित ब्रह्माण्ड से निरंतर ध्वनित हो रहा है। अनुभवी लोगों से बताया है (४०० ४८२ ८५५) कि पहले तो शरीर के भीतर समुद्रगर्जन, मेघगर्जन और भेरी भभोर आदि कानसा शब्द सुनाई देता है, फिर मंदल, शंख, घटा और काहल की सी आवाज सुनाई देती है, और अन्त में किकिणी, वंशी और बोरणा की भकार सुनाई देने लगती है। परन्तु उन्हीं उन्हीं साधक का चित्त स्थिर होता जाता है त्यों त्यों इन शब्दों का सुनाई देना बंद होता जाता है, क्योंकि उस समय आत्मा अपने स्वरूप में क्रमशः स्थिर होता जाता है और फिर तो बाह्य विषयों से उसका सरोकार नहीं रह जाता।

इस प्रकार हठयोगी प्राण वायु का निरोध करके कुण्डलिनी को उद्बुद्ध करता है। उद्बुद्ध कुण्डलिनी क्रमशः पट्चक्रों को भेद करती हुई सातवें अंतिम चक्र सहस्रार में शिव से मिलती है। प्राण वायु ही इस उद्बोध और शक्ति संप्रदान का हेतु है इसलिये हठयोग में प्राण-निरोध का बड़ा महत्त्व है। पट्चक्रों के विषय में हम पहले सक्षेप में कह आए हैं। यहाँ भी उसका थोड़ा उल्लेख कर देना उचित है।

१. मूलकन्दोदयतो वायुः सोमसूर्यपथोद्भवः ।
शक्त्याधारस्थितो याति ब्रह्मदण्डकभेदकः ॥१॥
- मूलकन्दे तु सा शक्तिः कुण्डलाकाररूपिणी ।
उद्गमावर्तवातोऽयं प्राण इत्युच्यते त्रिधैः ॥२॥
- कन्ददण्डेन चादृष्टधर्माभिन्ना या भुजङ्गिनी
मूर्च्छिता सा शिव वेतिप्राणैरेव व्यवस्थिता ॥३॥

— अमरौघ ७० पृ० ११

आमरौघशासन में तीन श्लोक इसी प्रकार छपे हुए हैं। परन्तु जान पड़ता है कि इसी का वागीश्वरी पंक्ति उलटी छप गई है। उसे यदि चौथी पंक्ति मान लिया जाय और चौथी को तीसरी तथा अष्टमिक स्पष्ट होता है। प्रथम तीन पंक्तियाँ प्राण की व्याख्या हैं और अन्तिम तीन पंक्तियाँ बुद्धि की।

ऊपर जिस त्रिकोण चक्र की बात कही गई है उसके ऊपर चारदलों के आधार का एक चक्र है जिसे मूलाधार चक्र कहते हैं, उसके ऊपर नाभि के पास स्वाधिष्ठान चक्र है जिसका आकार छः दलों के कमल का है, इस चक्र के ऊपर अग्निरूप चक्र है और उसके भी ऊपर हृदय के पास अनाहत चक्रः। ये दोनों क्रमशः दस और बारह दलों के पदों के आकार के हैं। इसके भी ऊपर कंठ के पास विशुद्धाख्य चक्र है जिसका आकार मोलह दल के पद के समान है। और भी ऊपर जाकर भ्रमध्य में आह्ला नामक चक्र है जिसके सिर्फ दो ही दल हैं। ये ही पट्चक्र हैं। इनमें सब के दलों की समुक्त संख्या पचास है और यही समस्त स्वर और व्यंजनों की मिलित संख्या भी है। प्रत्येक दल पर एक एक अक्षर की कल्पना की गई है, प्रत्येक कमल की कणिका में कई न कई देवता और शक्ति निवास करती हैं। यह सब बातें साधकों के काम की हैं। इस अध्ययन में इनका विशेष प्रयोजन नहीं है। फिर भी अन्यान्य साधनाओं से सुलभता करने के लिये और इस मार्ग के दृढभाव को समझने के लिये राठका को इस की आवश्यकता हो भी सकती है। यही सोचकर एक सारणी नीचे दी जा रही है जिससे सारी बातों का सुतासा हो जायगा। इन पट्चक्रों की भेद करने के बाद सत्स्थिक में वह शून्य चक्र मिलता है जहाँ अद्भुत कुण्डली को पहुँचा देना योगी का लक्ष्य है। यह सहस्रदलों के कमल के आकार का है, इसीलिये इसे सहस्रार भी कहते हैं। यही इस पिण्ड का कैशरा है, यहीं पर शिव का निवास है^१। इस महातीर्थ तक छे जाने वाली नाड़ी सुषुम्णा को इसीलिये शांभवी शक्ति कहा जाता है; क्योंकि जैसे दो प्राणवायु को वहन करने वाली नाड़ियों की संख्या ७२ हजार है पर असल में यह शांभवी शक्ति सुषुम्णा ही मार्गक है; बाकी सब तो निरर्थक हैं।^२ इस प्रकार यह ठोक ही कहा गया है कि हठयोग अस्त में प्राणवायु के निरोध को कहते हैं और राजयोग मन के निरोध को।

किन्तु योग शिखोपनिषद् में राजयोग अन्वभाव से वर्णित है। उक्त उपनिषद् में भी चार प्रकार के योग बहे गये हैं—मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। इनमें इसारा प्रकृत विषय हठयोग है। मंत्रयोग में कहा गया है कि जीव के निश्चल-प्रवास में ह और स वण पृच्छरित होते हैं। 'ह'कार के साथ प्राणवायु आकर आता है और सकार के साथ भीतर जाता है। इस प्रकार जीव सदा ही 'हं-सः' इस मंत्र का जप करता रहता है। गुणवाक्य जान लेने पर सुषुम्णा मार्ग में यही

१. अत ऊर्ध्वं दिव्यरूप सहस्रारं सरोरुहम्
ब्रह्माण्डव्यस्तदेहस्य बाह्ये निष्ठति सर्वदा
कैलाशो नाम तस्यैव महेशो यत्र निष्ठति।

— शि० ५.१६१ — १६२

२. द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीदाराणि पञ्चरे
सुषुम्णा शांभवी शक्तिः शेषास्तेषु निरर्थकाः॥

षट्चक्र

चक्र	स्थान	दल- संख्या	वर्ण	तत्त्व और गुण	तत्त्व का रंग	मंडल का आकार	बीज और वाहन	देवता और वाहन	धातु- शक्ति	लिंग और योनि	अन्यतत्त्व और इन्द्रिय	पोठ
१. मूलाधार	रीढ़ के अर्धो- भाग में पायु और मुष्क मूल के मध्य	४	व, श, ष, स	पृथ्वी आकषण गंध	पीत	वर्गाकार	लं पेरावत	ब्रह्मा. हंस	डाकिनो	स्वयंभू, त्रैपुर त्रिकोण	गंधतत्त्व घ्राणेन्द्रिय पैर	कामा- ख्या
२. स्वाधिष्ठान	मैरुदण्ड में मेढ्र के ऊपर	६	ब भ म य र ल	जल, संको- चन रस	श्वेत	अर्द्ध चंद्र	व मकर	विष्णु गरुड़	राकिनो	...	रसतत्त्व रसना हाथ	
३. मणिपूर	मेरुदण्ड में नाभि के पास	१०	ड ठ ण न त थ द ध प फ	तेज प्रसरण रूप	लाल	त्रिभुज	रं मेघ	रुद्र, वृषभ	लाकिनो	...	रूपतत्त्व, बुद्धि, पायु	
४. अनाहत	हृदय के पास	१२	क ख ग घ ङ च छ ज झ ण ट ठ	वायु गति, स्पर्श	धूस्र	पट् कोण	य कृष्ण- सुग	ईश	काकिनो	बाण, त्रिकोण	स्पर्श, स्वचा, संस्थ	पूर्ण गिरि
५. विशुद्धाख्य	कंठ के पास	१६	अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ए ऐ ओ औ	आकाश आवकाश शब्द	श्वेत	वृत्त	ह श्वेत हस्तो	सदाशिव	शाकिनो		शब्द कान वाक्	जाल- धर
६. आज्ञा	श्रुतियों के बीच में	२	ह च	मन	×	×	औ	शंभु	हाकिनो	इतर, त्रिकोण	महत् सूक्ष्मप्रकृति (हिरण्यगर्भ)	चिट्- ति ध्यान

मंत्र उल्टी दिशा में उच्चरित हो 'सोऽहं' हो जाता है और इस प्रकार योगी 'बह' (सः) के साथ 'मै' (अहम्) का अभेद अनुभव करने लगता है। इसी मंत्रयोग के सिद्ध होने पर हठयोग के प्रति विश्वास पैदा होता है। इस हठयोग में हकार सूर्य का वाचक है और सकार चंद्रमा का। इन दोनों का योग ही हठ योग है। हठ योग से जड़िमा नष्ट होती है। और आत्मा परमात्मा का अभेद सिद्ध होता है। इसके बाद वह लय योग शुरू होता है जिसमें पवन स्थिर हो जाता है और आत्मानन्द का सुख प्राप्त होता है। इस लययोग को साधना से भिन्न अन्तिम मार्ग राजयोग है। योनि के महाक्षेत्र में जपा और बंधूक पुष्पों के समान लाल रज रखा करता है। यह देवी तरब है। इस रज के साथ रेत का जो योग है वही राजयोग है^२। इससे अग्निमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। निश्चय ही यहाँ पारमार्थिक अर्थ में 'रज' और 'रेतस्' (शुक्) का उल्लेख हुआ है। परन्तु शब्दों का प्रयोग अपूर्व तथा अर्थपूर्ण है। उपनिषद्ब्रह्मयोगी ने इसकी टीका में विशेष कुछ नहीं लिखा। सिर्फ इतना और भी जोड़ दिया है कि शिशन मूल का 'रेतस्' शिवतत्त्व है।^३

हमने ऊपर देखा है कि गोरक्षनाथ ने स्वयं कहा है कि जो व्यक्ति छः चक्र, सोलह आधार और दो लक्ष्य तथा, व्योमपञ्चक को नहीं जानता वह सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। षट् चक्र की बात ऊपर बताई गई है। आधार सोलह हैं—दृष्टि को स्थिर करने वाला (१) पादांगुष्ठ, अग्नि को दीप्त करनेवाला (२) मूलाधार, संकोच-विकास के अभ्यास द्वारा अपान वायु को ब्रह्मगर्भनाडी में प्रवेश करा कर शुक्र और रज को आकर्षण कराने वाली बज्रोली के सहायक (३) गुह्याधार और (४) बिन्दुषक, मल मूत्र और कृमि का विनाशक (५) नाड्यधार, नादोत्तरादक (६) नाभिमण्डलाधार, प्राण वायु का रोधक (७) हृदयाधार, इन्द्र बिजला में प्रवर्तमान वायु को रोकने वाला (८)

१. योग शिखोपनिषत् (१२६—१३५)

२. योनिमध्ये महाक्षेत्रे जपाबंधूकत्रिभम् ।

रजो वसति जंतूनां देवीतत्त्वं समावृतम् ॥

रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः ।

अग्निमादिपदं प्राप्य राजने रात्रयोगतः ॥

योग शिखोपनिषत् १३६—१३७

३. राजयोगलक्षणमाह । योनीति । शशि (शिशन ?) स्थाने रेतो वतते लक्षि शिवतत्त्वम् ।

कंठाधार और कंठमूल का वह (९) लुद्रघटिकाधार जिसमें दो त्रिगाकार जोरें लटक रही हैं, जहाँ जिह्वा पहुँचाने से ब्रह्मरंध्र में स्थित चंद्र मंडल का भरता हुआ अमृतरस पीना सहज होता है। खेचरी मुद्रा का सहायक (१०) तारवन्ताधार, जिह्वा के अधोभाग में स्थित (११) रसाधार, रोगशामक (१२) ऊर्ध्वदन्तमूल, मन को स्थिर करने वाला (१३) नासिकाग्र, ज्योति को प्रत्यक्ष करने में सहायक (१४) नासाभूज, सूर्याकाश में मन को लीन करने वाला (१५) अ मध्याधार और (१६) सोलहवाँ नेत्राधार जिस में ज्योति प्रत्यक्ष अवभासित होती है। ये सब बाह्यलक्षण हैं। आन्तरलक्ष्य षट्चक्र हैं। दो लक्ष्य बड़ी हैं। पाँच आकाश इस प्रकार हैं—(१) श्वेत वर्ण ज्योति रूप आकाश, इसके भीतर (२) रक्तवर्ण ज्योति रूप प्रकाश है, इसके भी भीतर (३) धूस्रवर्ण महाकाश, फिर (४) नीलवर्ण ज्योति रूप तत्वाकाश है, और इसके भी भीतर विद्युत् के वर्ण का ज्योति रूप (५) सूर्याकाश है।

इन विविध ध्यानों को आसन प्राणायाम और मुद्रा के अभ्यास से सिद्ध किया जाता है। मुद्रा का उद्देश्य शक्ति को ऊपर की ओर चलाना है। इरीलिये अ म रौ च शा स न में मुद्रा को 'सारणा' (=चलाने वाली) कहा गया है। अब, अगर विचार किया जाय तो जीव के जन्म-मरण का कारण इस सृष्टि चक्र में पच पच कर मरने का रहस्य सिर्फ यही है कि किसी अनादिकाल में शिव और शक्ति क्रमशः स्थूलता की ओर अपसर होने के लिये अलग अलग स्फुटित हुए थे। शिव और शक्ति जिस दिन समरस होकर एकमेक हो जायेंगे उस दिन यह सारा प्रतीयमान सृष्टिचक्र अपने आप निःशेष हो जायगा। शक्ति कुण्डलिनी रूप में देह में स्थित है और शिव भी सहस्रार में विराजमान हैं। जन्म जन्मान्तर के संचित मलों के भार से कुण्डलिनी दबी हुई है। एक बार यदि मनुष्य ध्यान धारणा के बल से वायु को संयमित करे और नाडियों को शोधकर पवित्र करे तो वह परम पवित्र सुषुण्णा मार्ग खुल जाय जिसके ब्रह्मरंध्र को ढक कर परमेश्वरी कुण्डलिनी सोई हुई हैं। वस्तुतः यह सृष्टि ही कुण्डलिनी है। वह दो प्रकार की है—स्थूल और सूक्ष्म। साधारणतः स्थूलरूपा कुण्डलिनी को ही लोग जान पाते हैं, अज्ञान के बोझ से दबे रहने के कारण उसके सूक्ष्म रूप को नहीं जान पाते। बिद्धियां स्थूला कुण्डलिनी के ज्ञान से भी मिल जाती हैं परन्तु सर्वोत्तम ज्ञानरूपिणी—परा संवित्—जो साक्षात् महेश्वरी शक्ति है उससे पहचाने बिना परमपद नहीं मिलता। शक्ति जब उद्बुद्ध होकर शिव के साथ समरस हो जती है—इसी को विष्णुब्रह्माण्डैक्य भी कहते हैं—तो योगियों की परम काम्य कैवल्य अवस्थावाली सहजसमाधि प्राप्त होती है जिस से बढ़कर आनंद और नहीं है। यह सब गुरु की कृपा से होता है, वेद पाठ से

नहीं, ज्ञान से भी नहीं, बैराग्य से भी नहीं । ^१ जो इस सहजसमाधि रूप परम विश्राम को पाना चाहे वह अच्छे गुरु के चरणरुमकों की सेवा करे । उनकी कृपा होने से न परमपद ही दूर रहेगा और न शिव-शक्ति समरस्य ही—

अनुबुभूषति यो निजविश्रमं

स गुरुपादसरोरुहमश्रयेत् ।

तदनुसंमरणं त्वात्मं पदं

समरसीकरणं च न दूरतः ॥

—सि० सि० सं० ५५९

१. सृष्टिस्तु बुगडली ख्याता सर्वभावगता हि सा ।

बहुधा स्थूलरूपा न लोकानां प्रत्ययात्मिका ।

अपरा सधमा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापक वर्जिता ।

तस्या भेदं न जानाति मोहितः प्रत्ययेनतु ।

ततः सूक्ष्मा परासंवित् मध्यशक्तिमहेश्वरी ॥

— सि० सि० सं० ४३०-३२

(२) गोरक्ष-सिद्धान्त

गोरक्षनाथ के नाम पर जितने भी ग्रन्थ पाए जाते हैं वे प्रायः सभी साधन-ग्रन्थ हैं। उनमें साधना के लिये उपयोगी व्यावहारिक तथ्यों का ही संकलन है। बहुत कम पुस्तकें ऐसी हैं जिनसे उनके दार्शनिक मत का, और सामाजिक जीवन में उसके उपयोग का प्रतिपादन हो। सरस्वती भवन टेक्सट सीरीज में 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' नामकी एक अत्यन्त उपयोगी पुस्तक प्रकाशित हुई है। पुस्तक अधूरी ही छपी है। इससे सम्पादक सुप्रसिद्ध विद्वान् म० म० पं० गोपीनाथ कविराज हैं। पुस्तक की संस्कृत हल्की, और स्थान स्थान पर, अशुद्ध भी है। इसमें भी सन्देह नहीं कि पुस्तक हाथ की किस्म की है। फिर भी इसका लेखक बहुश्रुत ज्ञान पकता है। पुस्तक में पुरानी ५८ पोथियों के प्रमाण संग्रह किए गए हैं। उद्धृत पुस्तकों में से अनेक उपलब्ध नहीं हैं।

१. निम्नलिखित पुस्तकों के प्रमाण उद्धृत किए गए हैं :—

- | | |
|---------------------------|--------------------------------------|
| १. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति | ३०. शास्त्ररतंत्र |
| २. अवधूत गीता | ३१. षोडशित्यातंत्र |
| ३. सूतसंहिता | ३२. पट्टशाम्ब रहस्य |
| ४. ब्रह्मविंदु उपनिषत् | ३३. पद्मपुराण |
| ५. कैवल्योपनिषत् | ३४. महाभारत |
| ६. तेजविंदुपनिषत् | ३५. कवेष्य गीता |
| ७. अमनस्क | ३६. सनत्कुजातीय |
| ८. विवेकमार्तण्ड | ३७. बह्वचक्राष्टांग |
| ९. ध्यानविंदुपनिषत् | ३८. शिव उ० |
| १०. मुरडक उ० | ३९. माण्डूक्य उप० |
| ११. आत्मोपनिषत् | ४०. भागवत |
| १२. अमृतविंदु उप० | ४१. योगबी |
| १३. मनुस्मृति | ४२. करिणीता |
| १४. उत्तर गीता | ४३. गोरक्षस्तोत्र |
| १५. वायुपुराण | ४४. कल्पद्रुमततंत्रका गोरक्षवृद्धनाम |
| १६. मार्कण्डेय पुराण | ४५. सांग्रह |
| १७. गीता | ४६. स्कंदपुराण |
| १८. तंत्रमहार्णव | ४७. रुद्रयामल |
| १९. लुपिका उप० | ४८. तारासूक्ति |
| २०. गोरक्ष उप० | ४९. कुलाशंख तंत्र. |
| २१. वृद्धारण्यक उ० | ५०. वायुपुराण |
| २२. छान्दोग्य उ० | ५१. सूत संहिता |
| २३. कालाग्निरुद्र उप० | ५२. आदिनाथ संहिता |
| २४. ब्रह्मोप० | ५३. ब्रह्मवैवर्त |
| २५. सर्वोप० | ५४. शिवपुराण |
| २६. राजगुह्य | ५५. परमहंस उप० |
| २७. शक्ति संगम तंत्र | ५६. योगशास्त्र |
| २८. इष्टप्रदीपिका | ५७. श्रीनाथसत्र |
| २९. सिद्ध मत् विंदु | ५८. अखण्ड लेख |

यह तो वहना ही व्यर्थ है कि गोरक्षनाथ के पहले योग की बड़ी जबरदस्त परंपरा थी, जो ब्राह्मणों और बौद्धों में समान रूप से मान्य थी। इसका एक विशाल साहित्य था। नाना उपनिषदों में नाना भाव से योग की चर्चा हुई है और बौद्ध साधकों के पास तो काया योग का साहित्य अनेक अंगों से कहीं बढ़ा था। इन सब से गोरक्षनाथ ने सार संग्रह किया होगा, परन्तु दुर्भाग्यवश उनके पूर्ववर्ती अनेक ग्रंथ लुप्त हो गये हैं और यह जानने का हमारे पास कोई उपाय नहीं रह गया है कि कहाँ से कितना अमृत उन्होंने संग्रह किया था। अब भी योग साधना बताने वाली उपनिषदें कम नहीं हैं। यह कह सकना बड़ा कठिन है कि इनमें कौन सी गोरक्षनाथ के पहले की लिखी हुई हैं और कौन सी बाद की। डा० डायसन^२ ने कालक्रम से इन उपनिषदों को चार भागों में विभक्त किया है।

१. प्राचीन गद्य उपनिषत्
२. प्राचीन छन्दोबद्ध उपनिषत्
३. परवर्ती गद्य उपनिषत्
४. आथर्वण उपनिषत्

ये क्रमशः परवर्ती हैं। आथर्वण उपनिषदों में संन्यास उपनिषद्, योग उपनिषद्, सामान्य वेदान्त, उपनिषद्, वैष्णव उपनिषद् तथा शैव और शाक्तादि उपनिषद् शामिल हैं। पता नहीं किस आधार पर डायसन ने इन सब को आथर्वण उपनिषद् कहा है। उपनिषद्ब्रह्मयोगी ने २० योगोपनिषदों में एक को भी आथर्व वेद से संबद्ध नहीं माना। परन्तु डायसन का यह कथन ठीक जान पड़ता है कि योग उपनिषद् परवर्ती

१. मद्रास की अड्यार लाइब्रेरी से अ० महादेव शास्त्री ने सन् १९२० में 'योग उपनिषद्' नामक एक योग विषयक उपनिषदों का संग्रह प्रकाशित किया है। ये सभी उपनिषदें अष्टोत्तरशत उपनिषदों में प्रकाशित हो चुकी हैं; परन्तु शास्त्री जी के संस्करण में यह विशेषता है कि उसमें उपनिषद्ब्रह्मयोगी की व्याख्यायें भी हैं। इस संग्रह की उपनिषदों के नाम ये हैं :

- | | |
|---------------------------|--------------------------|
| १. अद्वयतारकोपनिषत् | ११. ब्रह्मविशोपनिषत् |
| २. अमृतनादोपनिषत् | १२. मण्डलब्राह्मणोपनिषत् |
| ३. अमृतविदूषणोपनिषत् | १३. महावाक्योपनिषत् |
| ४. क्षुरिकोपनिषत् | १४. योगकुण्डल्युपनिषत् |
| ५. तेजोविन्दूपनिषत् | १५. योगचूडामण्युपनिषत् |
| ६. त्रिशिखराष्ट्रयोपनिषत् | १६. योगतत्त्वोपनिषत् |
| ७. दर्शनोपनिषत् | १७. योगशिलोपनिषत् |
| ८. ध्यानविन्दूपनिषत् | १८. वराहोपनिषत् |
| ९. नादविदूषणोपनिषत् | १९. शार्ङ्गल्योपनिषत् |
| १०. पाशुपतब्रह्मोपनिषत् | २०. हंसोपनिषत् |

२. फिलारफी आफ़ उपनिषत्स, पृ० १२-२६

हैं। यदि यह मान लिया जाय कि पञ्चयोग गोरक्षनाथ आदि का प्रवर्तित है, आसनों की संख्या अधिक मालिना इष्टयोगियों का प्रभाव है और नादानुसंधान इन लोगों की ही विशिष्ट साधना है, तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इनमें कई उपनिषद् गोरक्ष परवर्ती हैं। अमृतनाद, लुरिका, ध्यानविन्दु और योगचूड़ामणि आदि उपनिषदों में पञ्चयोग की चर्चा है, दशभोपनिषद् में नौ और त्रिशिख ब्राह्मण में अट्ठारह आसन बताए गए हैं। ब्रह्मविन्दु और ब्रह्मविद्या आदि उपनिषदों में नादानुसन्धान का उल्लेख है, योगतत्व, योगशिखा और योगराज उपनिषदों में चार प्रकार के योग और प्राणायाम समीकरण की विधि है। कई उपनिषदों में जलधर और उड्डियान बन्धों की चर्चा है। यह जार देकर नहीं कहा जा सकता कि ये सारी उपनिषदें गोरक्षनाथ के बाद ही लिखी गई हैं—कछ में प्राचीनता के बिह्व अवश्य हैं—परन्तु इनमें से अधिकांश पर उनकी प्रभाव पड़ा है, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में प्रायः सभी मुख्य मुख्य योगोपनिषदों के वाक्य प्रमाण रूप से उद्धृत किए गए हैं। कुछ ऐसी भी हैं जो इस संग्रह में उल्लेख नहीं हैं। गोरक्ष, सर्वकालाग्नि और शिव उपनिषदें ऐसी ही हैं। अड्यार लाश्वरी ने ७१ उपनिषदों का एक और उपनिषत्-संग्रह प्रकाशित किया था। उसमें शिवोपनिषत् है पर और नहीं हैं। इस प्रकार गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह के उद्धृत वाक्य महत्त्वपूर्ण जान पड़ते हैं। जो हो, परवर्ती साधना साहित्य के अध्ययन के लिये यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। उस पुस्तक के सिद्धान्तों के संक्षेप में यहाँ संग्रह किया जा रहा है।

ग्रंथ के आरंभ में ही गुरु की महिमा बताई गई है। गुरु ही समस्त श्रेयों का मूल है, इस लिये बहुत सब सघम कर गुरु वगाना चाहिए।^१ एकमात्र अवधूत ही गुरु हो सकता है; अवधूत—जिसके प्रत्येक वाक्य में वेद निवास करते हैं, पद पद में तीर्थ बसते हैं, प्रत्येक दृष्टि में कैवल्य विराजमान है, जिसके एक हाथ में त्याग है और दूसरे में भोग है और फिर भी जो त्याग और भोग दोनों से अलिप्त है। सूतसंहिता में कहा गया है कि वह धर्माश्रम से परे है, समस्त गुरुओं का साक्षत् गुरु है, न उससे कोई बड़ा है न बराबर। इस प्रकार के यक्षपात-विनिर्मुक्त मुनोन्मत्त को ही अवधूत कहा जा सकता है, उसे ही 'नाथ पद' प्राप्त हो सकता है। इस अवधूत का परम पुरुषार्थ मुक्ति है जो द्वैत और अद्वैत के द्वन्द्व से परे है। अवधूत गोरक्ष में कहा गया है कि कुछ लोग अद्वैत को चाहे हैं कुछ द्वैत को पर द्वैताद्वैतव्यञ्जन समतरेब को कोई नहीं जानता। यदि सर्वगत देव स्थिर, पूर्ण और निरन्तर हैं तो यह द्वैताद्वैत कलना क्या मोह नहीं है?^२

१. तुलनीय—सिः सि० सं०, पंचम उपदेश

२. अद्वैत वेनिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।

समतत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम्।

यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।

अहो माया महामोहो द्वैताद्वैत विकल्पना ॥ पृ० ११

इसीलिये सिद्ध जालंधर ने नाथ द्वैत और अद्वैत दोनों से परे—द्वैता द्वैतविज्ञक्षण—
कह कर स्तुति की है ।^१

यह मत अपने को वेदान्तियों, सांख्यों, मीमांसकों, बौद्धों और जैनों के मत से अपनी विशेषता प्रतिपादित करता है ।^२ श्रुति इन लोगों के मत से सधिका नहीं है ।^३ वेद दो प्रकार के माने गए हैं, श्रूत और सूक्ष्म श्रूत वेद यज्ञयाग का विधान करते हैं योगियों को इससे कोई वास्ता नहीं उनका मतलब तो केवल श्रौंकारमात्र से है । यह श्रौंकार ही सूक्ष्म वेद है ।^४ पुस्तकी विद्या का इन में बड़ा मन्त्राक उड़ाया गया है ।^५ और अद्वैत मत से नाथमतका स्तरार्थ दिखाया गया है । इस लिखसिले में एक मनोरंजक कहानी दी गई है । शंकराचार्य अपने चार शिष्यों सहित नदी तीर पर बैठे थे । वहीं भैरव उनकी परीक्षा लेने के लिये कापालिक रूप में उदस्थित हुए और बोले कि आप तो अद्वैतवादी हैं, शत्रु और मित्र को समान भाव से देखते हैं, कृपया मुझे आपका सिर काट लेने दीजिए । शंकराचार्य चक्कर में पड़ गए दोनों ओर आफन थो देते हैं तो प्राण जाता है, नहीं देते तो अद्वैत मत स्वतः परागत हो जाता है । उन्हें निरुपय देखकर शिष्यों में से एक ने नृमिद्र भावान् को स्मरण किया । वे तुन्त घटनस्थल पर पहुंच भैरव से भिड़ गये । तब भैरव ने कापालिक वेश परित्यक्त कर अपना रूप धारण किया और प्रयत्न लेकर मेघमद्र स्वर में कहा—अहो, अद्वैतवाद आज पराजित हुआ, मैंने चालाक मल्ल की भाँति अपने शरीर की हानि करके भी प्रतिद्वंद्वी को परास्त कर दिया । आओ युद्ध करो । शंकराचार्य इस लक्ष्यार का मुकाबला नहीं कर सके क्योंकि उनके उनकी अद्वैत-साक्षता से संतुष्ट और क्रियमाण धर्म तो दग्धबीज की भाँति निष्कल हल जाते हैं परन्तु प्राण्य कर्म बने ही रहते हैं । एक काया क्षिप्तों का योगमार्ग ही ऐसा है जिसे में सभी धर्म अस्मृत जाते हैं । वो प्राण्य कर्मों के प्राप से शंकर जड़ हो गए । तब जंकर उन्होंने सत्यता कि उत्तम मार्ग क्या है । इसी अवस्था में उन्होंने सिद्धान्त विन्दु की प्रकृति को जो असल में नाथमत का ग्रंथ है । इसी अवस्था में उन्होंने वज्र सूचि को प्रतिपाद भी लिखी ।

१. वन्दे तन्नाथतेजो भुवनतिमिरहं भानुतेजस्करं वा ।
सत्कर्मव्यापकं त्वा पवनगतिकरं व्योमवन्निर्भरं वा ।
मुद्रानादविशूलैर्मिलसन्धिधरं खपरं भग्ममिश्रं
द्वैतं वाऽद्वैतरूपं द्वय उत्तरं योगिन शंकर वा ॥

२. देखिए ऊपर ५० १-२
३. पृ० २२-२८; ७५-७६
४. पृ० २६
५. तुल०—

पदा लिखा सुभा बिलाई खाया पंडित के हाथि रह गई पोथी ।

—गोरख या नी, पृ० ४२

मुक्ति क्या है? मुक्ति वस्तुतः नाथस्वरूप में अवस्थान है। इसीलिये गोरक्ष-उपनिषद् में कहा गया है अद्वैत के ऊपर सदानन्द देवता है अर्थात् अद्वैतभाव ही परम नहीं है, सदानन्द बाकी अवस्था उसके ऊपर है। वह बाह्याचार के पालन से नहीं भिन्न सञ्जतो। इन मत के अनुसार शक्ति सृष्टि करती हैं, शिव पालन करते हैं काल संहार करते हैं और नाथ मुक्त देते हैं। नाथ ही एकमात्र शुद्ध आत्मा हैं, बाकी सभी बद्ध जोव हैं—शिव भी, विष्णु भी और ब्रह्मा भी (पृ० ७०)। न तो ये लोग द्वैतवादियों के किंवा ब्रह्मा में विश्वास रखते हैं न अद्वैतवादियों के निष्क्रिय ब्रह्म में। द्वैतवादियों के स्थान हैं, कैलाश और बैकुण्ठ आदि, अद्वैतवादियों का माया-शबल ब्रह्मस्थान और योगियों का निर्गुण स्थान है पर बंधमुक्ति रहित परमसिद्धान्तवादी अबधूत लोग निर्गुण और सगुण से परे उभयतीत स्थान को ही मानते हैं क्योंकि नाथ, सगुण और निर्गुण दोनों से अतीत परात्पर हैं। वे ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, शिव वेद, अक्षय, सूर्य, चंद्र, निष्कामिपेय, जल, स्थल, अग्नि, वायु दिक् और काल—सबसे पर स्वयं ज्योतिःस्वरूप एकमात्र सच्चिदानन्द मूर्ति हैं

न ब्रह्मा विष्णुकद्रौ न सुरपतिरुग नैव पृथ्वी न चापो
नैवाग्निर्वापि वायुर्न च गगनतलं नो दिशो नैव कालः
नो वेदा नैव ऋषा न च रविशशिनौ नो विधि नैव कल्पः
स्वज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानन्द मूर्ते।

—सिद्ध सिद्धा न्त पद्धति

गोरक्षनाथ के समसामयिक सिद्ध

नाथपंथ के चौरासी सिद्धों में से कई ब्रह्मज्ञानो परंपरा के सिद्ध हैं। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इन प्रभय सामान्य सिद्धों में से कुछ तो गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती होंगे और कुछ समसामयिक। गोरक्षनाथ के अप्रतिद्वंद्वी व्यक्तित्व और अप्रतिहत प्रभाव को देखते हुए यह अनुमान करना अनुचित नहीं है कि उनके बाद का कोई भी ऐसा व्यक्ति नाथ-परंपरा का सिद्ध नहीं माना गया होगा जो सम्पूर्ण रूप से उनका अनुयायी न हो। जिन सम्प्रदाय-प्रवर्तक सिद्धों की चर्चा हम पहले कर चुके हैं उनके अप्रतिरिक्त निम्नलिखित सिद्धों के विषय में नाना मूलों से हम कुछ जानकारी संग्रह कर सके हैं (अधिकांश में यह बातें दत्तकथाओं पर ही आधारित हैं पर कुछ बातें समसामयिक या परवर्ती ग्रंथों से भी मिल जाती हैं।) —

१. चौरंगीनाथ	१३. डेम्डस
२. चामरोनाथ	१४. जुगकर
३. तत्तिपा	१५. मादे
४. वारिपा	१६. कामरी
५. विरूप	१७. धर्मपापतंग
६. कामरी	१८. भद्रपा
७. कनखल	१९. सबर
८. मेखल	२०. सान्ति
९. धोषी	२१. कुमारो
१०. नागार्जुन	२२. सियारी
११. अभिति	२३. कमलकंगारि
१२. चम्पक	२४. चर्पटीनाथ

नीचे हम इनका संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं—

१. चौरंगीनाथ—दिव्यतो परंपरा में गोरक्षनाथ के गुरुभाई माने गए हैं।^१ इनकी लिखी कही जाने वाली एक पुस्तक—प्राण संकली—पिएडी के जैन ग्रंथ भाण्डार में सुरक्षित है। इसमें इन्होंने अपने को राजा सालवाहनका बेटा, मच्छंद्रनाथ का शिष्य और गोरक्षनाथ का गुरुभाई बताया है। इस छोटी-सी पुस्तक से यह भी पता चलता है कि इनकी बिमाता ने इनके हाथ पैर कटवा दिए थे। ये ही पंजाब की लोक कथाओं के पूरनभगत हैं जिनके विषय में हम आगे कुछ विस्तार पूर्वक लिखेंगे। चौरंगीनाथ की

प्राणसंकली की भाषा शुरु में पूर्वी है पर बाद में राजस्थानी-जैसी हो जाती है। शुरु का अंश इस प्रकार है—

सत्य वदत चौरंगीनाथ - आदि अन्तरि सुनौ त्रितात सालवाहन घरे
हमारा जनम नवनि सजिमा भुट बोलीला ॥ १ ॥ ह अम्हारा
भइला सासव पाप कलपना नही हमारे मने हाथ पाव कटाय
रलायला तिरंजन बने सोष सन्ताप मने परभेव सनमुष देखीला
श्री मछंद्रनाथ गुरुदेव नमस्कार करीला नमाइला माथा ॥ २ ॥
आसीरवाद पाइला अम्हे मने भइला हरषित होठ कंठ तालुकारे
सुकाईला धर्मना रूप मछंद्रनाथ स्वामी ॥ ३ ॥ मन जानै पुन्य
पाप मुष बच न आवै मुपै बोलव्या कैसा हाथ रे दीला फल मुपे
पीछीला ऐसा गुलाई बोलीला ॥ ४ ॥ जीवन उपदेस भाषिला फल
आदम्हे विसाळा दोष बुध्या त्रिषा बिसारला ॥ ५ ॥ नही मानै
सोक धर धरम सुमिरला अम्हे भइला सचेत के तम्ह कहारे
बोले पुछीला ॥ ६ ॥

स्पष्ट ही यह भाषा पूर्वी है यदि प्राणसंकली मन्त्रमुक्त चौरंगीनाथ की रचना है तो मानना पड़ेगा कि चौरंगीनाथ पूर्वी प्रदेश के रहने वाले थे। मैं इस पुस्तिका का संपादन कर रहा हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि इस में पुराने अंशों के साथ नये अंश भी जोड़ दिए गए हैं। जितनी भी परंपराएं उपलब्ध हैं वे सभी पूरनभगत को स्यालकोट (पंजाब) से ही संबंध बताती हैं। तनजुर में चौरंगिणा की एक पुस्तक है जिसका नाम है तत्त्वभाषनोपदेश। ठीक इसी नाम की एक पुस्तक गोरक्षनाथ की भी बताई जाती है। इतना यहाँ और उल्लेख योग्य है कि प्राणसंकली नामक एक छोटी सी रचना भी गोरखनाथ की मानी जाती है। ऐसा जान पड़ता है कि चौरंगीनाथ नामक किसी पूर्व देशीय सिद्ध की कथा से पूरनभगत की कथा का साम्य देखकर दोनों को एक मान लिया गया है।

२. चामरीनाथ—संभवतः तिब्बती परंपरा के चौंसठवें सिद्ध चंवरिपा से अभिन्न हैं जिन्हें मगधदेश का रहनेवाला धी-विक्रमा बतिया जाति में उत्पन्न और गोरक्षनाथ का परबर्ती बताया गया है।

३. तंतिषा—तेरहवें बज्रयानी सिद्ध तंतिषा हैं। इन्हें तिब्बती परंपरा में मगध देश का ब्राह्मण और जालंधरपाद का शिष्य कहा जाता है। राहुल जी ने गंगा के पुरातत्त्वों में एक स्थान पर इन्हें मगधदेशवासी ब्राह्मण (पृ० २२१) लिखा है और दूसरी जगह अवन्ती देश का तंती (पृ० २५६)। नाम देखने से दूसरी ही बात ज्यादा विश्वसनीय जान पड़ती है। कभी कभी इन्हें ढेण्डणनाथ से अभिन्न भी माना गया है जो ठीक नहीं जान पड़ता।

४. दारिषा—संभवतः बज्रयानी सिद्ध (नं० ७७) दारिकपा से अभिन्न हैं। इन्हें उड़ीसा का राजा बताया गया है। जब परम सिद्ध लुईषा (लूहिषा) बंधर गए तो ये और इसके ब्राह्मण मंत्री उनके शिष्य हो गए। गुरु ने इन्हें बेश्या दारिका (बेश्या की

कन्या) की सेवा का आदेश दिया था। इस व्रत में उन्हें सफ़लता मिली। दारिका (लडकी) की सेवा करके सिद्धि प्राप्त के कारण इन्हें 'दारिकपा' कहा जाने लगा। इनके निम्नलिखित पद से इनके राजा होने का तथा लुईया का शिष्य होने का अनुमान किया जा सकता है :

राजा गङ्गा राजा रे

अप्रसाद महेश्वर शिष्या ।

लुः पात्रा जगद्गुरु

द्वादश भुवनं लाभा ॥

अर्थात्, 'राजा तो मैं अब हूँ। मैं छोटी पात्रा का मोह के बंधन हूँ। लुईया के चरणों का आश्रय करने से दारिका ने चौदह भुवन प्राप्त कर लिया है।' भगवद्गीताध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने इन्हें वज्रनाम का कवि माना है^१ और महापंडित श्री राहुल सांकृत्यायन ने चडिया का^२ इनके नाम-रूपा में लिखा कोई पद प्राप्त हुए हैं। भाषा उनको 'नरसन्देश' पूर्वी प्रदेशों की है लेकिन वास्तविक अवस्था यह है जिसे आज को सभी पूर्वी भाषाओं का पूर्वरूप कहा जा सकता है। सज्जनगंजी चिन्ता इन्हीं की शिष्या थी और घटापा शिष्य थे। तनजुर में इनकी लिखी ग्यारह पात्रियाँ संगृहीत हैं।

५. विरूपा—वज्रनाम सिद्ध तोलरे से अभिन्न। गोरक्षनाथ और कानिपा के समकालीन थे। सिद्ध नामकाधिका के शिष्य थे। हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है कि वज्रनाम और काजवक्रनाम दोनों ने इनकी पुस्तकें मान्य हैं। पुस्तकों में छिन्न मस्ता लाघन, रक्तयमारा शिष्या धनप्रसिद्ध हैं। इनको चार पुस्तकें गान की हैं—विरूपगीति का विरूप पदचतुर्शोति, कर्मचण्डालिका, दोहाकोषगीति और विरूपवज्रगीति का^३ इनके अतिरिक्त अमृतसिद्धि, मार्गफलाभिवृत्तापवादक और सुनिष्पन्नतत्त्वापदेशमाला इनके लिखे हैं।^४ इनका सिर्फ एक पद मूज रूप में उपलब्ध हुआ है जो बी० गा० दो० १० और गंगा के पुरातत्त्वाक्रम में भी संगृहीत है।

६. कुमार—पादवज्रनाम का पंजलासिद्ध अभिन्न ही तो आति के लुहार थे।

७. कनखन—वज्रनाम सिद्ध गंगनाम कनखन (नं० ६७) से अभिन्न जान पड़ती हैं। ये कृष्णाचार्यनाम (नामपा) का शिष्या था। छपे वर्णरत्नाकर में इनका नाम केवल पल (खल) हुआ। संभवतः गंगनाम से छत्रा है। इसका पूर्ववर्ती भाग (कन) कान्ह के नाम के साथ जुड़ा था है।

८. मेखन—सिद्धयोगनाम मेखनापा (नं० ६६) से अभिन्न जान पड़ती हैं। ये भी कानिपा की शिष्या थी। कृष्णवज्रनाम (कानिपा) के दोहाकोषपर मेखना नाम की संस्कृत टीका संभवतः इनकी का लिखी हुई है। तिवरत में ये छिन्नमस्ता देवी के रूप में पूजी जाती हैं।

१. बी. गा. दो० : पृ० ३०

२. गं गा : पृ० २५१

३. बी० गा० दो० : पृ० ८८

४. गं गा : पृ० २५०

९. घोषी—वृजपानी सिद्ध षट्पाईम से प्रसिद्ध ज्ञान पढ़ते हैं। साक्षिपुत्र (१) देश में घोषी कुल में उत्पन्न हुए थे।

१०. नागार्जुन—महायान मत के प्रसिद्ध नागार्जुन से ये भिन्न थे। अक्षबेरुनी ने लिखा है कि एक नागार्जुन उनसे लगभग सौ वर्ष पहले वर्तमान थे। साधन माला में ये कई साधनाओं के प्रवर्तक माने गए हैं। इन साधनाओं से कई बातों का खुलासा होता है। नागार्जुन, शबरपाद (सर) और कृष्णाचार्य का काश्मिरी भी मिल जाता है।

साधन माला में कृष्णाचार्य की कुरुकुला साधना का उल्लेख है। इस कुरुकुला को ध्यानी बुद्ध की अभिव्यक्ति से उद्भूत बताया गया है। डा० विनयतोष भट्टाचार्य का अनुमान है कि कुरुकुला की उपासना व प्रथम प्रवर्तक शबरपाद नामक सिद्ध हैं जिनका समय सप्तम शताब्दी सन ईसवी का मध्यभाग है। ये नागार्जुन के शिष्य थे। नागार्जुन ने भी एक विशेष देवी 'एकजटा' की उपासना का प्रवर्तन किया था। साधन माला में बताया गया है कि इस एकजटा देवी की साधना को नागार्जुनपाद ने भोट देश (तिब्बत) से उद्धार किया था। इसी देवी का एक नाम 'महाचीन तारा' भी है। तारा की उपासना ब्राह्मण तंत्रों में भी विहित है। साधन माला में कुरुकुला के भी अनेक रूपों का वर्णन है जिन में एक रूप है तारोद्भा कुरुकुला। इस प्रकार कुरुकुला, एकजटा और तारा की उपासनाओं में कोई संबंध स्पष्ट हो मालूम होता है। डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने पुरा नंद सूत्र की भूमिका (पृ० १०-११) में दिखाया है कि महाचीनतारा ने ही आगे चल कर हिंदुओं की चतुर्भुजा तारा (जो दस महाविद्याओं में है) का रूप ग्रहण किया है। हिंदू तंत्रों की उषा, महोषा, वज्रकाली, सरस्वती, कामेश्वरी आदि देवियों को तारा की ही अभिव्यक्ति बताया गया है। दस महाविद्याओं की छिन्नमस्ता को बौद्ध वज्रयोगिनी का समशील बताया गया है और कहा गया है कि इसकी उपासना के भी मूल प्रवर्तक शबरपाद ही थे। ऐसा जान पड़ता है कि कृष्णपाद या कृष्णाचार्य इस देवी के उपासक थे। कृष्णाचार्य की शिष्या मेखलापा विन्धत ने छिन्नमस्ता के रूप में पूजा जाती है। इससे दो बातों का अनुमान होता है। प्रथम तो कृष्णाचार्य का समय निश्चित रूप से शबरपाद के बाद स्थित होता है और दूसरा यह कि परवर्ती शाक्त मत के विकास में इनका बहुत बड़ा हाथ है।

प्रबंध चिन्ता मणि से पता चलता है कि नागार्जुन पादक्षिप्त सूरि के शिष्य थे और उनसे ही इन्होंने आकाश-गमन की विद्या सीखी थी। समुद्र में पुराकाल में पार्श्वनाथ की एक रत्नमूर्ति द्वारा का के पास डूब गई थी जिसे किसी सीढ़ागर ने उद्धार किया था। गुरु से यह ज्ञान मर कि पार्श्वनाथ के पादमूल में बैठ कर यदि कोई सर्वलक्षण समन्विता का पारे को घोंटे तो कटिवेध, रस स्थि होगा। नागार्जुन ने अपने शिष्य राजा सातबाहन की रानी चंद्रदेव से पार्श्वनाथ की रत्नमूर्ति के सामने पारद-मर्दन करवाया था। रानी के पुत्रों ने रस के लोभ से नागार्जुन को मार डाला था। इस कथा से कई ऐतिहासिक असंगतियाँ हैं पर इससे कुछ बातें स्पष्ट हो जाती हैं। (१) प्रथम यह कि नागार्जुन रसरवर सिद्ध थे, (२) दूसरी यह कि गोरखपंथियों की पारसनाथी शाखा के प्रवर्तक भी शायद वही है और (३) तीसरी यह कि वे पश्चिम भारत के

निवासी थे। नागार्जुन को परवर्ती योगियों ने "नागा अरजुन" कहा है। इनके संबंध में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। नथपंथ के बारह आचार्यों में इनकी गणना है।

एक परवर्ती सिद्ध नागनाथ के साथ भी कभी कभी इनको मिलाकर दोनों को अभिन्न मान लिया जाता है।

११. अचिति—वज्रयात्री सिद्ध अचिन्तिता (नं० ३८) से अभिन्न। धनिकुश देश में लङ्कहारे का काम करते थे। प्रसिद्ध है कि एक बार लकड़ी काट कर इन्होंने उसे एक नाग से बाँध लिया था। अपने आप में इतने मस्त थे कि उन्हें पता ही नहीं चला कि नाग है या रस्सी। उद्युक्त शिष्य देखकर इन्हें जलधर नाथ के शिष्य जानिपा ने दावा दी थी।

१२. चम्पक—चम्पारण्य देश (अधुनिक बंगाल) के निवासी थे। तनजुा में इनका एक ग्रंथ 'कात्मपरिज्ञानद्विष्टतपदेश' नाम से उपलब्ध है।

१३. टेन्टस—संभवतः टेण्डणपाद का नाम ही विकृत होकर टेन्टस हो गया है। बौ० गा० दो० में इनका एक संगृहीत है।

१४. चुणकरनाथ—ड० बड़धवाल ने इन्हें गोरखनाथ के समग्र का सिद्ध माना है। इनके कुछ पद हिन्दी में मिले हैं। इन पदों की भाषा को देखकर ड० बड़धवाल ने इन्हें चरपटनाथ का पूर्ववर्ती समझा है (योगप्रवाद, पृ० ७२)

१५. आदे—तिब्बती दरंग में इन्हें आवस्तो का ब्रह्मण और कामिपा का शिष्य कहा गया है। जाति के बिज्रदार थे। बौ० गा० दो० में इनका एक पद संग्रहीत है।

१६. कामरी—वज्रयात्री सिद्ध कंबोजावरपाद (कामरिपा) से शारद अभिन्न नहीं है। ये बौद्ध दर्शन के बड़े माध्यमिष्ठ थे। प्रज्ञाशारमिता दर्शन पर इनके चरमप्रभावोदभाषा में प्राप्य हैं। सुरसिद्ध सिद्ध वज्रपटापाद के शिष्य और राजा इन्द्रभूति के गुरु थे। राहुल जी ने (गंगा पृ० २५२) इन्हें उड़ीसा देशवासी कहा है। हरप्रसाद शारत्री इन्हें बंगला कवि मानते हैं। (पृ० ३७) वस्तुतः ये मगध में उत्पन्न ब्रह्मण थे और दीर्घकाल तक उड़ीसान में रहे थे। वज्रयान के ये प्रसिद्ध आचार्य और युगानन्द हेतु के उपासक थे।

१७. धर्मपापवर्ग—जनपदता है कि धर्मपा और पतंग दो नाम हैं जो गलती से एक साथ पड़ गये हैं। इन्हीं का दूसरा नाम गुण्डरीपाद है जाति के लुहार थे। इनके पद बौ० गा० दो० में प्राप्य हैं।

१८. भद्रा—तिब्बती परम्परा के अनुसार मणिप्रदेश के ब्रह्मण थे। राहुल जी का अनुमान है कि मणिधर देश, स्वेलखंड का मैहर है।

१९. सवर—इस नाम के दो सिद्ध हो गए हैं। एक राजा धर्मपाल (७६९-८०९-८१०) के कायस्थ लूहिा के गुरु और दूसरे दसवीं शताब्दी के सिद्ध। दोनों को एक दूसरे से जुला मिला दिया गया है। सवर के लिखे अनेक ग्रंथ भोट अनुवाद में सुरक्षित हैं। (गंगा पृ० २४७) पर हरप्रसाद शर्मा ने इनकी पुस्तक बज्रयागिनीसाधन के आधार पर अनुमान किया है कि ये उड़ीसा के राजा इन्द्रभूति और उनकी कन्या लक्ष्मीकरा के दल के आदमी थे। इन लोगों ने उड़ीसा में वज्रयान का बड़ा प्रचार किया

था (बौ० गा० दो० २९)। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या सच्चमुन ही उद्धियान उड़ीसा ही है? इस बात का विचार हम पड़ल्ले हो कर भाए हैं। वज्रयोगिनी के संबंध में इनकी कई पुस्तकें हैं। इनके दो गान बौ० गा० दो० में संग्रहीत हैं। डा० भट्टाचार्य ने इन्हें नागार्जुन का शिष्य माना है। उनके मत से महायान मत में जो करकल्ला थी साधना है उसके आदि प्रवर्तक यही हैं।

२०. शान्ति (शान्ति) — वज्रयानी सिद्ध बागह से अभिज्ञ। इस नाम के अनेक सिद्ध हुए हैं (बौ० गा० दो० पृ० २९) परन्तु दसवीं शतब्दी में एक बहुत बड़े पंडित विक्रम शिखा विहार के द्वारचक्र पंडित के रूप में नियुक्त थे। उनका नाम भी शान्तिपाद था। संभवतः जय सिद्ध यही होंगे। राहुल जी ने (गं गा० पृ० २५२) लिखा है कि मगध देश में ब्राह्मणकुल में इनका जन्म हुआ था। ये इन बड़े विद्वन् थे कि इन्हें लोग 'कलिकालसर्वज्ञ' कहा करते थे। बौद्धदर्शन पर इनके लिखे अनेक ग्रंथ थे जो भोट अनुवाद में ही शेष रह गए हैं। राहुल जी ने लिखा है कि वज्रयानी सिद्धों में इतना जबरदस्त पंडित दूसरा नहीं हुआ।

२१. कुमारी — संभवतः वज्रसिद्ध कुमारपा से अभिज्ञ हैं।

२२. सियारी — वज्रयानियों के एक सिद्ध का नाम शृंगालीपाद है जो मगध के शुद्रकुल में उत्पन्न हुए थे और महाशय महीपाल (९७४-१०२३ ई०) के राज्य काल में वर्तमान थे। सियारी और ये अभिज्ञ हो भी सकते हैं।

२३. कमल कंगारि — जान पड़ता है ये दो सिद्ध हैं, राजनी से दरभसार शास्त्री महाशय ने एक में लिख दिया है। वज्रयानी सिद्धों में एक कमलपा या कपालरा हो गए हैं जो दसवीं शताब्दी में वर्तमान थे और संभवतः बंगाल में शुद्रकुल में उत्पन्न हुए थे। छपे हुए वर्णरत्नाकर में कमल और कंगारी दो सिद्ध माने गए हैं।

२४. चर्पटीनाथ — डा० सोहन सिंह ने पंजाब यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी की ३७४ न० की हस्तलिखित प्रति से चर्पटीनाथ के नाम पाई आने वाली एक कविता अपने पुस्तक के परिशिष्ट (पृ० २०) में उद्धृत की है और इसका अंग्रेजी भाव भी दिया है। इसमें एक लक्ष्य करने योग्य बात यह है कि चर्पटीनाथ ने भेष के जोगी को बहुत भदरव नहीं दिया है, आत्मा का जोगी कहलाने को हो बहुमान दिया है। इसके अन्त में बाह्यआचार

१. परा नंद सूत्र की प्रस्तावना : पृ० १०-११

२. सुष्ठु फटकि मनु विधान रता।	चरपट प्रणिवै विष मता।
बाहिर उलग भवन नहि जाउ।	काहे कारन काननि का बीग खाउ।
विभूति न लगायो जिउतरि उतरिजाइ।	खर जिउ धूँड़ि लेटे मेरी बजाइ।
सेली न बाँधो लेबो ना मिगानी।	ओढउ ना बिधा जो होइ पुरानी।
पत्र न पूजो उड़ा न उठावो।	कुते की निश्राई मांगने न जावो।
बासी करि के भुगति न खाओ।	सिंधिआ देखि मिगी न बजाओ।
दुआरै दुआरे धूआ न पाओ।	मेखि का जोगी न कहावो।

आतिमा का जोगी चरपटनाउ।

धारण करने वाले अन्य संप्रदायों की व्यर्थता भी बताई गई है। जब काल की घटा सिर पर चढ़ आएगी तो स्वेत या नील पट या लची जटा, या तिलक या जनेऊ कुछ भी काम नहीं आएगा। इन बाह्याचारों के साथ कान फाड़ने वालों को भी एक ही सुर में सावधान किया गया है :

इक सेति पटा इक नीलि पटा, इक तिलक जनेऊ लचि जटा।

इक फीप एक मोनी इक कानि फटा, जब आवैगी कालि घटा।

इससे मिलता जुलता पद दिवू विश्वविद्यालय की एक प्रति से डॉ० मोहन सिंह ने ही संग्रह किया है। उसमें कान फाड़ने वालों की बात नहीं है, पर उन सिद्धों को सावधान किया गया है जो हठ करके तय करते हैं :

इह संसार कंटकों की बाड़ी

निरख निरख पगु धरना :

चरपट कहै सुनहु रे सिधो

हठि करि तपु नहि करना ॥

श्री संत अंपूर्ण सिंह ने तरनतारन से प्राण संग ली छपाई है उसमें चरपटीनाथ तथा गुरु नानक देव की बातचीत छपी है। उसमें भी यह पद है—

इक पीत पटा इक लंब जटा, इक सूत जनेऊ तिलक ठटा।

इक जंगम कही औ भसम घटा, जउजई नहीं चीनै पलटि घटा ॥

तब चरपट सगले स्वांग नटा।

—अध्याय ७६, पृ० ७९४

यहाँ प्रसंग से ऐसा जान पड़ता है कि चरपट नाथ रसायन सिद्धि की खोज में थे और निराश हो चुके थे। इस पद का भाव यह है कि वेश बनाने से क्या लाभ, सभी वेश तब तक स्वांग मात्र हैं जब तक उनसे मृत्यु को जीतने में सहायता न मिले। यदि मृत्यु पर विजय ही नहीं मिली तो इन टंटों से क्या लाभ? और मृत्यु पर विजय केवल रसायन से ही हो सकती है। सारी वार्ता रसायन के विषय में ही है।

इनके अतिरिक्त एक और अतिचिह्न-हस्तलेख से भी कुछ अंश संग्रह करके डॉ० मोहन सिंह ने अपनी पुस्तक में छपाया है। इन सारे वाक्यों को पढ़ने से दो बातें बहुत स्पष्ट हैं : (१) चरपटीनाथ बाह्य वेश के विरोधी थे और (२) कनफटा संप्रदाय में रहकर भी उसकी बाह्य प्रक्रियाओं को नहीं मानते थे। यह प्रवृत्ति नाथमार्ग में कब आई, यह विचारणीय है। बर्णरत्नाकर में चरपटीनाथ का नाम आने से इतना तो स्पष्ट है कि चौदहवीं शताब्दी के पहले वे अवश्य प्रादुर्भूत हो चुके थे। प्राणसंश्लि के वार्तालाप से यह भी मालूम होता है कि वे रसायन-सिद्धि के अन्वेषक थे। इस पर से सिर्फ इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि वे गोरक्षनाथ के थोड़े परवर्ती थे, संभवतः रसायन वादी बौद्ध सिद्धों के दल से आकर गोरक्षनाथ के प्रभाव में आए थे और अन्त तक बाह्य वेश के विरोधी बने रहे।

वनसठ वें वज्रयानी लिख का नाम भी चपटी है। तिब्बती परंपरा में उन्हें धीनपा का गुरु माना गया है। परन्तु नाथ-परंपरा में इन्हें गोरखनाथ का शिष्य माना जाता है। एक अनुभूति के अनुसार गोरखनाथ के आशीर्वाद से उत्पन्न हुए थे। मी न चेतन में इन्हें ही कर्पटीनाथ कहा गया है। इनके 'चतुर्भुजाभिधासनक्रम' का तिब्बती अनुवाद प्राप्य है। रत्नव्यास के 'सरसंगीर्ष' में इन्हें चारणों के गर्भ से उत्पन्न बताया गया है। डा० बट्टवाल से लिखा है कि चंबा रियासत की राजवंशावली में इनकी चर्चा आती है। बोगेल और ओमेन ने बताया है कि चंबा के राजप्रासाद के सामने बाले मंदिरों में चर्पट का मंदिर है जो सूचित करता है कि अनुश्रुतियों का राजा साहिब देव सचमुच ही चर्पट का शिष्य था (योगप्रवाह पृ० १८३ और आगे)। इनके कछ हिंदी पद योगप्रवाह में संगृहीत हैं।

परवर्ती सिद्ध-संप्रदाय में प्राचीन मत

(१) संप्रदाय भेद

गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित योगि-संप्रदाय नाना पंथों में विभक्त हो गया है। पंथों के अलग होने का कोई-न-कोई भेदक कारण दृष्टा करता है। हमारे पास जो साहित्य है उस पर से यह समझना बड़ा कठिन है कि किन कारणों से और किन साधना-विषयक या तत्त्ववाद-विषयक मतभेदों के कारण ये संप्रदाय उत्पन्न हुए। गोरक्षनाथ के संप्रदाय की इस समय जो व्यवस्था उलभ्य है उस पर से ऐसा साजूस होता है कि भिन्न भिन्न संप्रदाय उनके अव्यवहित पश्चात् उत्पन्न हो गये। भट्टहरी उनके शिष्य बताये जाते हैं, कानिपा उनके समकालीन ही थे, पूरनभगत या चौरंगीनाथ भी उनके गुरुभाई और समकालीन बताये जाते हैं, गोपीचंद उनके समसामयिक सिद्ध कानिपा के शिष्य थे। इन सब के नाम से संप्रदाय चला है। जालंधर नाथ उनके गुरु के सनीर्थ थे, उदका प्रवर्तित संप्रदाय भी गोरक्षनाथ के संशय के अन्तर्गत माना जाता है। इस प्रकार गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती समसामयिक और ईपतरवर्ती जितने सिद्ध हुये उन सबके प्रवर्तित संप्रदाय गोरक्षपंथ में शामिल हैं। इसका रहस्य क्या है ?

हमने पहले ही कक्ष किया है कि वर्तमान नाथपंथ में जितने संप्रदाय हैं वे मुख्य रूपा से उन बारह पंथों से सम्बद्ध हैं जिनमें आधे शिव के द्वारा प्रवर्तित हैं और आधे गोरक्षनाथ द्वारा। इनके अतिरिक्त और भी बारह (या अष्टारह) संप्रदाय थे जिन्हें गोरक्षनाथ ने नष्ट कर दिया। उन नष्ट किये जाने वालों में कुछ शिव जी के संप्रदाय थे और कुछ स्वयं गोरक्षनाथ जी के। अर्थात् गोरक्षनाथ की जीवित-व्यवस्था में ही ऐसे बहुत से संप्रदाय थे जो अपने को उन वा अनुवर्ती मानते थे और उन अधिकारी संप्रदायों का दावा इतना अमक हो गया कि स्वयं गोरक्षनाथ ने ही उनमें से बारह या अष्टारह को तोड़ दिया ! क्या यह सम्भव है कि कोई महान् गुरु अपने जीवित काल में ही अपने मार्ग को भिन्न-भिन्न उपशाखाओं में विभक्त देखे और उनके मतभेदों को तो दूर न करे बल्कि उनकी विभिन्नता को स्वीकार कर ले ? इस विचित्र आचरण का रहस्य क्या है ?

गोरक्षनाथ का जिस समय आभिर्भाव हुआ था वह कृष्ण भारतीय धर्म साधना में बड़े उथल-पुथल का है। एक ओर मुसलमान लोग भारत में प्रवेश कर रहे थे और दूसरी ओर बौद्धसाधना क्रमशः मंत्र-तंत्र और टोने-टोटके की ओर अग्रसर हो रही थी। दसवीं शताब्दी में यद्यपि ब्राह्मणधर्म संपूर्णरूप से अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था तथापि बौद्धों, शाक्तों और शैवों का एक बड़ा भारी समुदाय ऐसा था जो

ब्राह्मण और वेद के प्राधान्य को नहीं मानता था। यद्यपि उनके परवर्ती अनुयायियों ने बहुत कोशिश की है कि उनके मार्ग को श्रुतिसम्मत मान लिया जाय परन्तु यह सत्य है कि ऐसे अनेक शैव और शक्त संप्रदाय उत्पन्न दिनों वर्तमान थे जो वेदाचार को अत्यन्त निम्न कोटि का आचार मानते थे और ब्राह्मण-प्राधान्य एकदम नहीं स्वीकार करते थे।

हमारे आलोक्य काल के कुछ पूर्व शैवों का पाशुपत मत काफी प्रबल था। इण्डो-सर्ग ने अपने यात्रा-विवरण में इसका उल्लेख बारह बार किया है। वैशेषिक-दर्शन के टीकाकार प्रशस्तपाद शाश्वत पाशुपत ही थे। बाणभट्ट ने अपने ग्रंथों में इस मत की चर्चा की है। परन्तु यह मत वेदवाह्य ही माना जाता था। शंकराचार्य ने अपने शांतीरक्षाय में इसका स्मरण किया है। लिङ्गपुराण में पाशुपत मत को तीन प्रकार का बताया गया है—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र। वैदिक लोग लिङ्ग, रुद्राक्ष और भस्म धारण करते थे, तान्त्रिक लोग तम्र-लिङ्ग और शूल आदि का चिह्न धारण करते थे और मिश्र पाशुपत समाज भाव से 'पंचदेवों' की उपासना किया करते थे। बामनपुराण में शैव, पाशुपत, कालाग्र्य और कपाली की चर्चा है। अनुश्रुति के अनुसार २८ शैव आगम और १७० उपागम थे। इन आगमों को निगम (अर्थात् वेद) के समान, और उनसे भिन्न स्वतंत्र प्रमाण रूप में स्वीकार किया गया है। काश्मीरका शैव-दर्शन इन आगमों से प्रभावित है। वैसे तंत्र-शास्त्र में निगम का अर्थ वेद माना भी नहीं जाता। 'आगम' शाक्त तंत्रों में उस शास्त्र को कहते हैं जिसे शिव ने देवी को सुनाया था और 'निगम' वह है जिसे शिव को स्वयं देवी ने ही सुनाया था। इस प्रकार ये संप्रदाय स्वयं भी देवों को दत्त महत्त्व नहीं देते थे और वैदिक मार्ग के बड़े-बड़े आचार्य भी नहीं कथैतिक समझते थे। हमने कौत्त-साधना के ब्राह्मणविरोधी स्वर का जोड़ा पश्चिम पिटले अध्यायों में पाया है।

कमशः ब्राह्मण मत प्रबल होता गया और इमलाम के आने के बाद सारा देश जब दो प्रधान प्रतिस्पर्द्धी धार्मिक दलों के मध्य में अभिभक्त हो गया तो किनारे पर पड़े हुए अनेक संप्रदायों को दोनों में से किसी एक को चुन लेना पड़ा। अधिकांश लोग ब्राह्मण और वेद-प्रधान हिंदू संप्रदाय में शामिल होने का प्रयत्न करते गये। कुछ संप्रदाय मुसलमान ही हो गये। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के बाद कमशः वेदवाह्य संप्रदायों की यह प्रवृत्ति बहुत ही गर्हित हो अपने को वैशाखुयायी सिद्ध किया जाय। शैवों ने भी ऐसा किया और शाक्तों ने भी। पश्चिम कुछ मार्ग इतने वेदविरोधी थे कि उनका सामंजस्य किसी प्रकार इन दोनों में नहीं हो सका। वे धीरे धीरे मुसलमान होते रहे। गोरक्षनाथ ने योग मार्ग में ऐसे अनेक मार्गों का संघटन किया होगा। हमने ऊपर देखा है कि उनके गुरु और गुरुआइ तथा गुरु इतीर्थ रहे जानेवाले लोगों का मत भी उनका संप्रदाय माना जाने लगा है। इस पुस्तक में हमने जालंधरनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ

१. सा चेयं वेदवाह्येश्वरकल्पनाऽनेकप्रकारा । ... माहेश्वरास्तु मन्यन्ते कार्यकारणयोग-विधिदुःखान्ताः पञ्चप्रदायाः पशुपतिनेश्वरेण पशुपाशविमोक्षणोपायदिष्टाः पशुपतिरीश्वरो निमित्तकारणसितिवर्णयन्ति । इत्यादि । शांतीरक्षाय २-२-३७ ।

और कृष्णपाद के प्राण ग्रंथों से उद्धृत्य लेकर उनके मतों का साधारण परिचय दिया है। स्पष्ट ही वे लोग वेदों की परवा नहीं करते थे। इन सबके शिष्य और अनुयायी, भारतीय धर्मसाधना के उस उग्रल-पुग्रल के जमाने में गोरक्षनाथ के नेतृत्व में संवटित हुए। परन्तु जिनके आचरण और विश्वास इन्होंने दूरविभ्रष्ट थे कि वे किसी प्रकार योग मार्ग का अर्थ बन ही नहीं सकते थे, उन्हें उन्होंने स्वीकार नहीं किया। शिवजी के द्वारा प्रवर्तित जा संप्रदाय का वह द्वारा स्वीकृत हुए वे निश्चय ही बहुत पुत्रि थे। एक सदसरी नगद से इक्ष्वाकु ने भी स्पष्ट ही जाना कि आज भी उन्हीं संप्रदायों में मुसलमान योगी आध्यात्मिक ने शिव द्वारा प्रवर्तित और बाद में गोरक्षनाथ द्वारा स्वीकृत थे।

कहने का तात्पर्य यह है कि गोरक्षनाथ के पूर्व इस बहुत से शैव, बौद्ध, और, शाक्त-संप्रदाय थे जो वेदवाह्य होने के कारण नष्ट हो गए और न मुसलमान। जब मुसलमानी धर्म प्रथम बार इस देश में पारंगत हुआ तो जना का ऐसा सदा दो प्रतिद्वंद्वी, धर्मसाधनामूलक दोनों में विभक्ति उत्पन्न हुई। शैव-भाग और शाक्त-भाग वेदानुयायी थे, वे वृत्तर ब्रह्माण्प्रधान विद्वत्समाज में मिल गए और निरन्तर अपने की कट्टर वेदानुयायी सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे। वह प्रयत्न आज भी जारी है। उत्तर भारत में ऐसे अनेक संप्रदाय थे जो वेदवाह्य कारण से वेदसम्मत योगसाधना या पौराणिक देव-देवियों का उपासना करने करते थे। ये अपने को शैव, शाक्त और योगी कहते रहे। गोरक्षनाथ ने उनको दो प्रधान दिशाएं दीया होगी—(१) एक तो वे जो योगमार्ग के अनुयायी थे, परन्तु शैव या शाक्त नहीं थे, दूसरे (२) वे जो शिव या शक्ति के उपासक थे—शैवान्मा के अनुयायी थे—परन्तु गोरक्षसम्मत योग मार्ग के होने नजदीक नहीं थे। इनमें से जो लोग गोरक्षसम्मत मार्ग के नजदीक थे उन्हें उन्होंने योगमार्ग में स्वीकार कर लिया, बाकी को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार दोनों ही प्रकार के लोगों से एक बहुत से संप्रदाय आए जो गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे परन्तु बाद में उन्हें गोरक्षनाथ माना जान लगा। धीरे धीरे जब परंपराएं लुप्त हो गईं तो उन पुराने संप्रदायों के मूल प्रवक्तव्यों का भी गोरक्षनाथ का शिष्य समझा जान लगा। इस अनुमान को स्वीकार कर लेने पर वह व्यर्थ का वाद-समूह स्वयमेव समाप्त हो जाता है जो गोरक्षनाथ के काङ्क्षानिरूपक प्रसंग में पंडितों ने रचा है। इन तथा कथित शिष्यों के राज के अनुसार वे सभी आठवीं शताब्दी के सिद्ध होते हैं, सभी दसवा, कम ग्यारहवा और कभी कभी तो पहली-दूसरी शताब्दी के भी !!

ऊपर का मत केवल अनुमान पर ही आधारित नहीं है। कभी कभी एकाध प्रमाण परंपराओं के भीतर से निकल भी आते हैं। शिव और गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित संप्रदायों की परंपरा स्वयमेव एक प्रमाण है, नहीं तो यह समझ में नहीं आता कि क्यों कोई महागुरु अपने जीवितकाल में ही अनेक संप्रदायों का संगठन करेगा ? संप्रदाय मतभेद पर आधारित होते हैं और गुरु का अनुग्रहस्थिति में ही मतभेद उत्पन्न होते हैं; गुरु के जीवितकाल में होते भी हैं तो गुरु उन्हें दूर कर देता है। परन्तु प्रमाण और भी है।

योगि संप्रदायाविष्कृति (पृ० ४१९-२०) में लिखा है कि धवलगिरि से लगभग ८०-९० कोस की दूरी पर पूर्व दिशा में, वर्तमान त्रिशूल गंगा के प्रभवस्थान पर्वत पर वाम मार्गी लोगों का एक दल एकत्रित हो कर इस विषय पर विचार कर रहा था कि किस प्रकार हमारे दल का प्रभाव बढ़े। बहुत छानबीन के बाद उन्होंने देखा कि आज-कल श्री गोरक्षनाथ जी का यश चारों ओर फैल रहा है, यदि उनसे प्रार्थना की जाय कि वे हमें अपने मार्ग का अनुयायी स्वीकार कर लें तो हम लोगों का मत लोकमान्य हो जाय। उन्होंने इसी उद्देश्य से उन्हें बुलाया। सब कुछ सुनकर श्री गोरक्षनाथ जी ने कहा कि "आप यथार्थ रीति से प्रकट कर दें कि अपनी प्रतिष्ठा चाहते हैं या प्रतिष्ठा की उपेक्षा कर अपने अवलंबित मार्ग की वृद्ध करना चाहते हैं। यदि प्रतिष्ठा चाहते हैं तो आप अन्य सब भगवत्ओं को छोड़ कर केवल योगक्रियाओं से ही संबंध जोड़ लें। इसके आतिरिक्त यदि (अपने पहले से ही) गृहीत मत की पुष्टि करना चाहते हैं तो म (यह) नहीं सह सकत कि साधुओं का कार्य जहाँ मुमुक्षुजनों को सन्मार्ग पर चढ़ा देना है वहाँ वे उन विचारों को कुतस्त पथ में प्रविष्ट करने के लिये कटिबद्ध हो जाय।" वाममार्गीयों ने—जिन्हें लेखक ने यहाँ 'कपाली' लिखा है—दूसरी बात को ही स्वीकार किया और इसीलिये गुरु गोरक्षनाथ ने उनकी प्रार्थना अस्वीकृत कर दी। यह पुराने संप्रदाय को अपने मार्ग में स्वीकार करने का प्रमाण है।

पुराने मार्ग को स्वीकार करने का भी उदाहरण पाया जा सकता है। प्रसिद्ध है कि गोरक्षनाथ जी जब गोरखबंसी (आधुनिक कलकत्ते के पास) आए थे तो वहाँ काली जी से उनकी मुठभेड़ हो गई थी। काली जी को ही हारना पड़ा था और उनके समस्त शक्ति शिष्य गोरक्षनाथ के योगमार्ग में शामिल हो गए। तभी से गोरक्ष-संप्रदाय में काली पूजा प्रचलित हुई। इन दोनों सारे भारतवर्ष में नाथ-पंथी लोगों में काली की पूजा प्रचलित है। यह कथा योगि संप्रदायाविष्कृति (पृ० १९४-१९९) में भी हुई है परन्तु लेखक की सुधारक मनावृत्ति ने इतना जोड़ दिया है कि काली ने योगियों से माँसादि की बलि नहीं लेने की प्रतिज्ञा की थी। लेखक को इस बात का बड़ा खेद है कि आजकल "जिह्वास्वादन क वशीभूत योगिबेशधारी ठगिया और प्रपंची लोग" उस नियम का उल्लंघन कर रहे हैं! इस विषय को अधिक चर्चा करने के पहले एक बार आधुनिक पंथों और पुराने पंथों के संबंध पर विचार कर लिया जाय। सत्त्व में देखा जाय कि किस प्रकार मुख्य पंथों का संबंध शिव और गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित पुराने संप्रदायों के साथ स्थापित किया जाता है। नीचे का व्यौरा उसी संबंध को बताने के लिये दिया जा रहा है। इसे तैयार करने में मुख्य रूप से ब्रिगस साहब की पुस्तक का सहारा लिया गया है, परन्तु अन्य मूलों से प्राप्त जानकारीयों को भी स्थान दिया गया है।

- (१) शिव के द्वारा प्रवर्तित प्रथम संप्रदाय भुज के कण्ठरनाथी लोगों का है। कण्ठरनाथ के साथ अन्य किसी शाखा का संबंध नहीं खोजा जा सका है।
- (२) और (३) शिवद्वारा प्रवर्तित पागलनाथ और रावल संप्रदाय परस्पर बहुत मिश्रित हो गये हैं। ध्यान देने की बात है कि गोरखपुर में सुनी हुई परंपरा

के अनुसार पागलनाथी संप्रदाय के प्रवर्तक पूरनभगत या चौरंगीनाथ हैं। ये राजा रसालू के वैमात्रेय भाई माने जाते हैं। ज्वालामुखी के माननाथ राजा रसालू के अनुयायी बताये जाते हैं, इसलिये कभी कभी माननाथ और उनके अनुवर्ती अर्जुन नागा या भरजननंगा को भी पागलपंथी मान लिया जाता है, वस्तुतः भरजननंगा नागार्जुन का नामान्तर है। फिर अफगानिस्तान के रावल—जो मुसलमान योगी है—दो संप्रदायों को अपने मत का मानते हैं— (१) मादिया और (२) गल। गल को ही पागलपंथी कहते हैं। इस प्रकार इन दोनों शब्दों से पागलपंथ का संबन्ध स्थापित होता है। इन लोगों को रावल गल्ला भी कहते हैं। इनका मुख्य स्थान रावलपिंडी में है—जो एक परंपरा के अनुसार पूरनभगत और राजा रसालू के प्रतापी पिता गज की पुरानी राजधानी थी। गजनी के पुराने शासक भी ये ही थे और गजनी नाम भी इनके नाम पर ही पड़ा था। गजनी का पुराना हिन्दू नाम 'गजबनी' था। बाद में गज ने स्वातंत्र्य को अपनी राजधानी बनाया था। रावलों का स्थान पेशावर रोश्तक और सुदूर अफगानिस्तान तक में है।

(४) पंच या एक से निम्नलिखित संप्रदाय संबद्ध माने जा सकते हैं—

(i) सतनाथ या सत्यनाथी जिनकी प्रधान गद्दी पुरी में और जिनके अन्य स्थान मेवा थासेश्वर और करनाल में हैं। ये ब्रह्मा के अनुवर्ती कहे जाते हैं।

(ii) धर्मनाथ—जो कोई राजा थे और बाद में योगी हो गये थे।

(iii) गरीबनाथ जो धर्मनाथ के साथ ही कच्छ गये थे।

(iv) हाड़ीभरंग (?)

(५) शिव के पाँचवे संप्रदाय मारवाड़ के 'बन' से किसी राखा का कोई सम्बन्ध नहीं मालूम हो सका।

(६) गोराल या राम के -

(i) सन्तोषनाथ ये ही सम्भवतः इसके मूल प्रवर्तक हैं। कौ ला-व ली नि एं य और श्या मार इ स्थ के मानव गुरुओं में मत्स्येन्द्रनाथ, गोरलनाथ आदि के साथ इनका भी नाम है २।

(ii) जोधपुर में दासगोरालनाथियों का सम्बन्ध बताया जाता है।

१. पागलनाथ के कथनानुसार मैंने इन्हें सतनाथ से संबद्ध समझा है। परन्तु जिंग्स ने रसेल और हीगलाल (डा. का. से. प्रो.) के आधार पर इनका सम्बन्ध किसी सन्तनाथ से बताया है। मैं यह ठीक नहीं कर सका कि सतनाथ और सन्तनाथ एक ही हैं या भिन्न भिन्न।

(७) चाँदनाथ कपिलानी—

- (i) गगानाथ
- (ii) कायानाथ (परन्तु, आगे देगिए)
- (iii) कपिलानी—अजयपाक द्वारा प्रवर्तित ।
- (iv) बीमनाथ } दोनों जैन हैं ।
- (v) पारसनाथ }

(८) हेठनाथ —

- (i) लक्ष्मणनाथ । कहते हैं, ये ही प्रसिद्ध योगी बालानाथ थे ।
(यो ग प्र वा ह पृ० १८६) इसकी दो शाखाएँ हैं—
- (ii) दरियापंथ—हरद्वार के चंद्रनाथ योगी से ^१ इनको नाटेश्वरी (नाटेशरी) संप्रदाय का माना है और अलग स्वतंत्र पंथ होने में सन्देह उपस्थित किया है । परन्तु टिला में उद्भूत स्वतंत्र संप्रदाय के रूप में भी इसकी ख्याति है । दरिया-पंथी साधु बवेठा और अफगानिस्तान तक में हैं ।
- (iii) नाटेशरी—आंवाला और करनाल के हेठ तथा करनाल के बाल जाति वाले इसी शाखा के हैं । ^२
कुछ लोग कहते हैं, रौम्हा इसी संप्रदाय में थे । डा० बड़शवाल के मत में बालानाथ बाजयती थे इसलिये उन्हें ही लक्ष्मणनाथ कहते हैं । पंजाब में बालानाथ का टीला प्रसिद्ध है ।
- (iv) जाफर पीर—अपने को ये लोग रौम्हा और बालकेश्वरनाथ के अनुयायी (या संबद्ध) मानते हैं, इसलिये इनका सम्बन्ध नाटेशरी संप्रदाय से जोड़ा भी जा सकता है । कभी कभी इनका सम्बन्ध संतोषनाथ से भी जोड़ा जाता है ^३ । ये लोग ह्मलमान हैं ।

(९) आई पंथ के चोलीनाथ—हेठ यो ग प्र दी पि का के घोड़ाचूली सिद्ध से इस संप्रदाय का संबंध होना संभव है । घोड़ाचूली परंपरा के अनुसार गोरखनाथ के गुरुभाई थे । इनकी कुछ हिंदी रचनाएँ भी मिली हैं (यो० प्र०, पृ० ६८-७०) ।

१. यो. सं. आ.: पृ० ४६१

२. त्रिगुप्त: पृ० ६४-६५

३. वही, पृ० ७१

- (i) आई पंथ का संबंध करकाई और भूष्टाई^१ दोनों से बताया जाता है। ग़लतबाबा के मत से करकाई ने ही आई पंथ का प्रवर्तन किया था। ये दोनों गोरक्षनाथ के शिष्य थे। हरद्वार के आईपंथी अपने को पीर पारसनाथ का अनुयायी बताते हैं^२। आई देवी (= माता) की पूजा करने के कारण ये लोग आईपंथी कहलाए। ये लोग गोरक्षनाथ की शिष्या विमला देवी को अपनी मूल प्रवर्तिका मानते हैं। पहले ये लोग अपने नाम के आगे आई जोड़ा करते थे, नाथ नहीं। पर नरमाई के शिष्य मस्तनाथ जी के बाद ये लोग भी अपने नाम के आगे 'नाथ' जोड़ने लगे।
- (ii) मस्तनाथ--ये लोग 'बाबा' कहे जाते हैं। ग़लती से कभी 'बाबा' अलग संप्रदाय मान लिया जाता है।^३
- iii) साई पंथ (?)
- iv) बड़ी दरगाह } दोनों ही मस्तनाथ के शिष्य हैं। बड़ी
वाले मांस-मदिरा नहीं सेवन करते छोटी
- (v) छोटी दरगाह } वाले करते हैं।

(१०) वैराग पंथ. रतननाथ

- (i) वैराग पंथ—भरथरी या भर्तृहरि द्वारा प्रवर्तित ।
- (ii) माई नाथ (?)—एक अनुश्रुति के अनुसार माईनाथ—जो अनाथ बालक थे और मेवों द्वारा पाछे पोसे गए थे—भरथरी के अनुयायी थे ।
- (iii) प्रेमनाथ
- (iv) रतननाथ—भर्तृहरि के शिष्य पेशावर के रतननाथ जो ब्रह्म मुद्रा नहीं धारण करते थे । कभी टोके जाने पर छाती खोल के मुद्रा दिखा दी थी—ऐसी प्रसिद्धि है । वरियानाथ से भी इनका संबंध बताया जाता है । मुसलमान योगियों में इनका बड़ा प्रान है । इनके नाम से संबद्ध तीर्थ काबुल और जलानाबाद में भी हैं ।

१. आई पंथ वाले परले अपने नाम के आगे आई जोड़ते थे, इसलिये ये लोग आई के अनुयायी ही होंगे, परवर्तक नहीं।

२. त्रिमासः पृ० १५

इ. यो. स. आ.: पृ० ४६२

(v. कायानाथ या कायमुद्दीन—कायानाथ के शरीर के मल से बना हुआ, बालक कायानाथ बाद में चलकर सिद्ध और संप्रदाय-प्रवर्तक हुआ ।

(११) जैपुर के पावनाथ —

(i) जालंधरिपा

(ii) पा-पंथ (?)

(iii) कान्पि—गोपीचंद्र इसी शाखा के सिद्ध हैं । गोपीचंद का हो नाम सिद्ध संगरी है । संपेरे इनको अपना गुरु मानते हैं ^१ ।

(iv) बामारग ?)

(१२) धजनाथ —

(i) धजनाथ महावीर हनुमान के अनुयायी बनाए जाते हैं । प्रसिद्धि है कि सिंहल में जब मत्स्येन्द्रनाथ भोगरत थे उस समय उनका उद्धार करने गोरखनाथ गए थे । उनसे हनुमान की उड़ाई हुई थी ^२ । बाद में हनुमान को उनका प्रभाव मानना पड़ा था । चौदहवीं शताब्दी के एक नाथ सिद्धों की सूची में 'धज' नामधारी दो सिद्धों का उल्लेख है ^३ । विविक्किधज और मगर धज । प्रसिद्धि है कि मकरध्वज हनुमान के पुत्र थे । संभवतः विविक्किधज और मगरधज इस पंथ से संबद्ध हों । कहते हैं इनका स्थान सिंहल या सीलोन में है । परन्तु यह भूल है । आगे देखिए । डा० बङ्गवाला ने लिखा है कि हनुमंत वस्तुतः वक्रनाथ नामक योगी का ही नामान्तर है ^४ ।

ऊपर इन योगियों के मुख्य मुख्य स्थानों का उल्लेख किया गया है । वस्तुतः सारे भारतवर्ष में इनके मठ और आखाड़े हैं । अंगना (उदयपुर), आदिनाथ (बंगाल) काट्रिमठ (मद्रास), गंभीरमठ (पूना), गरोबनाथ का टिला (सारगौर स्टेट), गोरक्ष-क्षेत्र (गिरनार) गोरक्षवंशी (दमदम, बंगाल), चंद्रनाथ (बंगाल), चंचुलगिरिमठ

१. प्रसिद्धि है कि जब जालंधरनाथ को कानया कुएँ से नहीं निकाल सके तो गोरक्षनाथ ने उनकी सहायता की । गुरु के उद्धार-महोत्सव में लोगों को मनोवांछित भोग दिया गया । किसी नवीन भक्त ने नाथ का प्रभाव देखने की शरणा से मन ही मन सर्प की कामना की और पत्तल में सर्प आ गया । उसी अभिशप्त शिष्य के अनुयायी संपेरे हुए जो कानवेज्ञिया कहे जाते हैं । किसी किसी ने इन्हें अज्ञग संप्रदाय कहा है (तुल०-यो. सं. आ. ० ३३७-८) ।

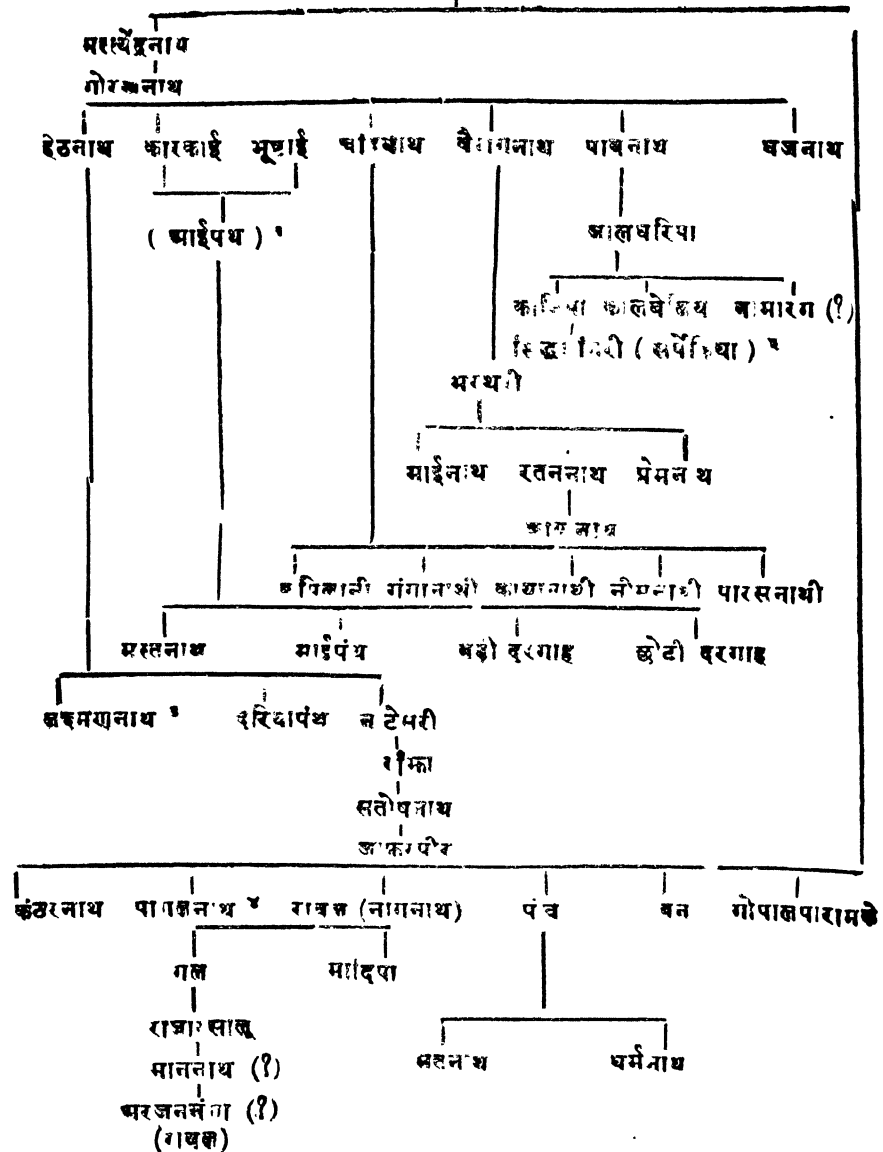
२. यो. सं. आ.: पृ० १६१...

३. बौ. गा. दो.: पृ० ३६

४. यो ग प्र वा ह: प० १८६

(मद्रास प्रान्त) ज्यम्बक मठ (नासिक), नीलकण्ठ महादेव (आगरा) जोहरमठ (बोकानर), पंचभुक्तोमहादेव (आगरा) पाण्डुधुनी (बरई), पीर सोहर (जम्मू) बत्तीस सराजा (सवागा) भर्तृगुफा (स्वालियर), भर्तृगुफा (गिरनार), मंगलेश्वर (आगरा), महानादमंदिर (बर्दवान, बंगाल), मठामंदिरमठ (जोधपुर), योगि-गुहा (दिनाजपुर), योगिभवन (बगुडा, बंगाल), योगिमठ (मेदिनीपुर), लादुवास (उदयपुर), हाँड़ीभरंगनाथ का मंदिर (मैसूर), हिगुआमठ (जैपुर) आदि इनके मठ हैं जो समूचे भारतवर्ष में विस्तृत हैं । यह नहीं समझना चाहिए कि जिस पंथ का जो मुख्य स्थान है उसके अतिरिक्त और कोई स्थान उनके लिये आदर्शनीय नहीं है । वस्तुतः सभी पंथ सब स्थानों का सम्मान करते हैं । ऊपर के विवरण से निम्नलिखित पंथों का प्रसार जाना जाता है :

मा व सी प्र दा व
शिव (आदिनाथ)



१. कोई कोई केवल कारकाई संप्रदाय से ही आईपंथ की उत्पत्ति मानते हैं।
२. कालवेदथ किसी किसी के मत से अलग अलग सम्प्रदाय नहीं है। सिद्धगिरी ही कानवेदथ कहलाते हैं।
३. मतान्तर में लक्ष्मणनाथ से ही इरिदानाथ श्रीर नादेवरी की उत्पत्ति है।
४. किसी परम्परा के अनुसार सम्पूर्ण पागलनाथी जाका रावको की उत्पत्ति है।

ध्यान से देखा जाय तो गोरक्षनाथ के प्रवर्तित संप्रदायों में कई नाम परिचित और पुराने हैं। जिनिलानी अपना संबंध कपिलमुनि से बताते हैं और इनका मुख्यस्थान गंगासागर में है, जहाँ कपिलमुनि का अश्रम था। कपिलमुनि सांख्य शास्त्र के प्रवर्तक माने जाते हैं। सांख्य और योग का अनिष्ट संबंध हमने पहले ही लक्ष्य किया है। मा ग व त में कपिलमुनि योग और वैराग्य के उद्देश्य के रूप में प्रसिद्ध हैं। सांख्यशास्त्र को निरीश्वर योग कहते हैं और योगदर्शन को संश्वर सांख्य। ऐसा जान पड़ता है कि कपिलमुनि के अनुयायी, जो निरीश्वरवादी योगी थे, गोरक्षनाथ के मार्ग में बाध में आ मिले थे। बादनाथ सभक्तः बहु प्रथम सिद्ध थे जिन्होंने गोरक्षमार्ग को स्वीकार किया था। इसी शब्दा के नामनाथ और पारसनाथों के मिताथ और पार्वेनाथ नामक जैनतर्कियों के अनुयायी जान पड़ते हैं। जैनसाधना में योग का महत्वपूर्ण स्थान है। कमिनाथ और पार्वेनाथ निश्चय ही गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे। इनका यह संप्रदाय गोरक्षनाथ योगियों से अन्तर्भूत हुआ है। कहना ठीक है कि जैनमत वेद और ब्रह्मण को प्रधानता नहीं मानता। अथर्वी के वैराग्य पर आगे विचार किया जा रहा है। पादनाथ के ज्ञानधारापाद सभक्तः वज्रयानी सिद्ध थे। उनकी जितनी पोथियाँ मिली हैं वे सभी वज्रयान की हैं और उनके शिष्य कृष्णपाद की साधना का परिचय व हमें मिल ही चुका है। कृष्णपाद ने स्वयं अपने को कापालिक कहा है, परन्तु कापालिक का अर्थ सब समय शैवकाराजिक ही नहीं होता। जो हो, इसमें तो कोई संदेह ही नहीं कि जलधारापाद का पूरा का पूरा संप्रदाय बौद्ध वज्रयान से संबद्ध था। धननाथ के विषय में आगे विचार किया जा रहा है। ये ही सभी पंच भिन्न भिन्न धर्मसाधनाओं से संबद्ध होने पर भी योगमार्गी अवश्य थे।

आदर्पण वाले विमलादेवी के अनुयायी माने जाते हैं। आई अर्थात् माता। ये लोग अपने नाम के सामने नाथ न जोड़ कर आई बोझा करते थे। कदाई और भूष्टाई का वस्तुतः नामपंथ के नाम ककनाथ और भूष्टनाथ (शशुनाथ ?) होना चाहिए। माता की पूजा देखकर अनुमान होता है कि ये किसी शाक्तमत से गोरक्षनाथ के योगमार्ग में अन्तर्भूत हुए होंगे। विमलादेवी गोरक्षनाथ की शिष्या बनी जाती है परन्तु निश्चय ही कि तत्काल में एक महापद्मावतारिणी सिद्धा विमलादेवी का नाम है, जो मरस्येन्द्रनाथ की भानुवतीनी रही होगी। कदाकि गोरक्षनाथ से दोहा भी ली हो तो अश्वर्य नहीं। इस्तिनापुर से कई वैश्य जाति के सेठ थे, नाम था शिष्यगण। उनकी पुत्री का नाम विमलादेवी का। गुप्तनाम भी गुप्तेवी था। एकबार भेरी के शब्द से इन्होंने बौद्धों को विमोहित किया। तब से इसकी कौटिक नाम बौद्धप्रासिनी (बोधप्रासिनी) माता पड़ गया। जब उनका जन्म हुआ तो बीरुग में उत्तरा हुआ थी पर अधिकार-काज में पुरुष-पुत्रा में दिक्की और वज्रपूर्वक अधिकार दखल किया। परन्तु पशु लोग (पाशुपथी) उन्हें बीरुग में ही देखते थे। इनके दस नाम हैं—

विमला च शिखा चैव विदेवी (च) सुशोभना ।
 नागकन्या कुमारी वंधारणी पयोधारणी
 रक्षाभद्रा समाख्याता दक्ष्या नामानि वै दश ।
 नामान्येतानि यो वेत्ति सोऽपि कोलाही (१) भवेत् ॥^१

यह कह सकना कठिन है कि यही विमलादेवी आईपंथ की पूजनीया विमला देवी हैं या नहीं। मैं अनुसंधानसु पाठकों का ध्यान आकर्षण करने के लिये इस बात को यहाँ लिख दिया।

स्पष्ट ही, गोरक्षनाथद्वारा प्रवर्तित कहे जानेवाले पंथों में पुराने सांख्य-योगवादी, बौद्ध, जैन, शाक्त समा हैं। सब की एकमात्र सामान्यधर्मिता योग मार्ग है।

शिव के द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय भी गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती होने चाहिए। इन्हें स्वीकार करके भी गोरक्षनाथ ने जय रूपने नाम से इन्हें नहीं चलाया तो कुछ न कुछ कारण होना चाहिये। मेरा अनुमान है कि ये लोग मन्त्र-तंत्र तो करते होंगे पर हठयोग सिद्धियों से कोई संबंध नहीं रखते होंगे। यह ज्ञेय करने की बात है कि शिव द्वारा प्रवर्तित कहे जानेवाले संप्रदायों का प्रसार अधिकतर काश्मीर, पश्चिमी पंजाब पेशावर और अफगानिस्तान में है, जहाँ अत्यन्त प्राचीनकाल से शैवमत प्रबल था। ज्ञान की वर्तमान अवस्था में इससे कुछ अधिक कहना संभव नहीं है।

इस प्रकाश में कुछ उलझी हुई समस्याओं का विचार किया जाय।

(२) रावल-शाखा

१. रावलसंप्रदाय योगियों की बड़ी भारी शाखा है। कभी कभी कहा गया है कि यह रावल शब्द संस्कृत 'राजकुल' शब्द का अपभ्रंश है। प्राचीनकाल के तीन राजवंशों ने यह विरुद्ध धारण किया था—(१) मेवाड़ के राजकुल ने,^२ (२) बाबू के पारमारों ने^३ और (३) जाफोरक बौद्धानों ने^४। और किसी राजघराने ने यह विरुद्ध धारण किया था या नहीं यह नहीं मालूम हो सका है। परन्तु रावल शब्द से सबसे अधिक प्रसिद्ध चित्तोड़ के बाप्पा रावल की ही मिलती थी। इस पर से यह अनुमान होता है कि रावलपंथ का किसी राजकुल से संबंध रहा होगा। यह ध्यान देने का बात है कि केवल बाप्पा के साथ यह शब्द अपने अपभ्रंश रूप में चलता है, अन्यान्य लेखों में संस्कृत 'राजकुल' शब्द का ही व्यवहार है। बाप्पा से गुरुगोरक्षनाथ के मिलन की

१. कौलज्ञाननिर्याय भूमिका, पृ. ७-७१

२. ती रावलशाखा पदों दधानो बाप्पाभिधानः सराज राजा ।

— राजप्रशस्तिमहाकाव्य, सर्ग ३

३. एवमिदं अवस्था श्री चंडावतीति राजकुल श्रीसंमिह देवेन...

—आबू पर देलवाड़ा के मंदिर का प्रशस्ति-लेख

४. महाराजकुल श्रीसामभूमिहदेवकल्याणविजयराजवे... इत्यादि

—जाफोर का शिलालेख

प्रसिद्धि कई विद्वानों ने लिखी है। इस प्रसिद्धि के आधार पर गोरक्षनाथ का समय निर्णय करने का प्रयास भी किया गया है।

महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओम्हा ने अपने राजपूताने के इतिहास में बाप्पा का समय सन् ईसवी की आठवीं शताब्दी का पूर्वभाग निश्चित किया है। महाराणा कुम्भा के समय जो एक तिगमा राज्य नामक पुस्तक लिखी गई, उस में लिखा है कि पुराने कवियों ने कहा है कि सवत् ८१० वि० (ई० सन् ७५३) में एक तिग का बरपाया हुआ प्रथम राजा बाप्पा हुआ।^१ ओम्हा जो ने इस वर्ष को बाप्पा के राज्य-त्याग का संवत् सिद्ध किया है। बाप्पा इसके पूर्व ही निहासनासीन हो गए थे।^२ परन्तु बाप्पा सबधो प्रसिद्धियों के प्रसंग में ओम्हा जी ने गोरक्षनाथ वाली प्रसिद्धि की कोई चर्चा नहीं की है। बाप्पा और उनके गुरु के संबंध में जितनी प्रसिद्धियाँ हैं, उनमें बाप्पा के गुरु का नाम हारीतश्रृंग या हारीतराशि बतया गया है, जो लकुलीश पाशुपत संप्रदाय के कोई सिद्ध पुरुष थे। फ्लीट ने सन् १९०७ में एक प्रबंध लिखा था जिसमें एक तिग जो के मन्दिर को लकुलीश संप्रदाय का सिद्ध किया था।^३ एक तिग मन्दिर में एक लेख पाया गया है जो सन् ९७१ ई० का लिखा है। इस लेख से इस मन्दिर की स्थिति बहुत पुरानी सिद्ध हो जाती है और ऐसा माना जा सकता है कि बाप्पा ने ही इस मन्दिर की प्रतिष्ठा कराई होगी। इधर बाप्पा का एक सोने का सिक्का भी अजमेर से मिला है जो चित्र जाने पर भी तीन में द्वादश के करीब है। इस सिक्के का जो विवरण प्रकाशित हुआ है^४ उससे यह निश्चित रूप में सिद्ध हो जाता है कि बाप्पा राजत बरतुतः हा लकुलीश पाशुपत मत के अनुयायी थे। इसके सामने की तरफ (१) वर्तमान माला के नौखे ओ बाप्पा लिखा हुआ है (२) माला के पास बाईं ओर एक त्रिशूल है (३) शिव की दाहिनी ओर दा पत्थरी की वेदी पर एक एक शिवलिंग है जो बाप्पा के इष्टदेव एक तिग जी का सूचक है, (४) इसी दाहिनी ओर नंद है और (५) लिंग तथा नंद के नौखे पराम करत हुए बाप्पा का अधर्मेदा अंग है। पीछे की तरफ भी एक गोखड़ी है “जो बाप्पा के प्रसिद्ध गुरु लकुलीश संप्रदाय के कनकदे सधु (नाथ) हारीतराशि की कामधेनु होगा जिसकी सेवा बाप्पा ने की थी, ऐसं क्या प्रसिद्ध है”।^५ इस सिक्के के बिहू सूचित्र करते हैं कि बाप्पा

१. उक्त च पुरातनैः कविभिः

आकाशचंद्र दिगजसंख्ये संवत्सरे बभूवाणः ।

ओ एक तिगशंकरलम्बवरो बाप्पभूलाः ॥

१. राजपूताने का इतिहासः पृ० ४१२

२. जर्नल ऑफ़् राजल एतिहासिक सोसायटीः १९०७ः पृ० ४१०

४. नागरी प्रचारिणी पत्रिकाः भाग १, पृ० २४१-४५५ में म. म. पं० गौरीशंकर हीराचंद ओम्हा का लेख ।

५. राजपूताने का इतिहासः पृ० ४१५-४१६

लकुलीश^१ पाशुपतग्रन्थों के शिष्य थे। बापा का विच्छा और उनके विषय में उपलब्ध प्रसिद्धि दोनों ही इस बात का एकका प्रमाण हैं कि वे लकुलीश संप्रदाय के बड़े अन्त थे। प्रायः भिन्न-भिन्न संप्रदाय के भक्त राजाओं अपने नाम के साथ संप्रदाय-वाचक शब्द जोड़ा करते थे। बुद्ध के उपसक अपने ती परम सौगत, विष्णु के उपासक परम भागवत और शिव के उपासक परम माहेश्वर जोड़ा करते थे। क्या रावल या महारावल शब्द भी संप्रदायवाचक हैं ?

आधुनिक शिव उपासक में पाशुपतों के विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों के पाए जाने से पंडितों ने अनुमान किया है कि अवान्तर उरुविष्णुकाल में इस संप्रदाय का जन्म हुआ था^२। इस संप्रदाय के ऐतिहासिक संस्थापक का नाम लकुलीश या लकुलीश था^३। इनका जन्म बकौदा राज्य के कायावरोहण (कायावरोडण, कायवन्, बकौदा राज्य) में हुआ था ऐसा कहा जाता है^४। शिवपुराण में कारवण माहर्ष्य है जो लकुलीश के जन्म-प्रसंग की महिमा बताने के लिये लिखा गया है। लकुलीश की मूर्ति राज-पूजना गुजरात, आत्मवा आदि में पाई गई हैं। इन मूर्तियों की बाह्य ब्रह्मरूप भी उन्हें अन्य मूर्तियों से स्पष्ट रूप से विशिष्ट बना देती हैं। साथे ही बना केशकलाप, एक हाथ में जीजपूक का फूल और दूसरे में अगुड (लाठी) इन मूर्तियों की विशेषता है। लकुली अर्थात् लकुलि धारण करने के कारण ही लकुलीश को लकुलीश कहा है^५। भयुग में उपलब्ध शैलस्तंभ तथा उस पर उत्कीर्ण शिलालेख के अध्ययन से लकुलीश का समय विक्रम कदा सो वर्ष बाद ठहरता है। यह वंश युग है जिसमें कुपाणवंशीय नरेश द्विविष्णु की सुवर्णपुद्गाओं पर ककुटधारी शिव का मूर्तियाँ मिलती हैं।^६

१. 'इस समय उस संप्रदाय का माननेवाला कोई नहीं रहा, यहाँ तक कि लोग यहूग उस संप्रदाय का नाम भी भूल गए हैं, परन्तु प्राचीन काल में उसके अनुयायी बहुत थे। उनमें मुख्य साधु, कनफड़े, नाथ, होत थे। उस संप्रदाय का विशेष दृष्टान्त शिवानंदों तथा विष्णुपुराण, विष्णुपुराण आदि में मिलता है। लकुलीश उस संप्रदाय का प्रार्थक होना चाहिए। उनका मुख्य चार शिष्यों के नाम कुशक, गर्ग, भिन्न और श्रीधर मिलते हैं। पण्डित जी के पुत्रा कुशिक का परिवार से से वे जन्मे से ही शिवयोग का प्रयास करना माना जाता है। इस संप्रदाय के साथ निहंत होते थे, यहूग नहीं और मूर्तकर सेला बनाते थे। उनमें आतिपात का कोई भेद न था।'—राजपूताने का इतिहास (पृ० ४१६) में अंका जी की टिप्पणी।

२. पं० बकदेव उपाध्याय : शिव भा र ती पत्रिका, खण्ड १, पृ० २४६

३. म. म. पं० गो० ही० त्र्योम्का : राजपूताने का इतिहास, पृ० ४१६

४. शिव भा र ती पत्रिका, खण्ड १, पृ० २४६

५. वही : पृ० २४६

लकुलि, लकुलि (—जाठे ?) आदि शब्दों का बर ही सूचित करता है कि ये देशी शब्दों के समकृत रूप हैं। लकुलीश पाशुपत प्रधानतया निचले स्तर के लोगों में बहुत प्रचलित था। वैदिक और भागवत लोग शुरू शुरू में इस मत को सिर्फ अत्रैदिक ही नहीं मानते थे, इसके मानने वालों को पापबोली में वरज भी मानते थे। भागवत में एक स्थान पर इनको लकुल का परिषदी कहा गया है और पापव्रतियों को इस दक्ष से प्रवेश करके का अभिशाप दिया गया है।^१ रावल वस्तुतः इसी 'लकुल' शब्द का रूपान्तर है। सातवीं शताब्दी के पहले ये लोग कुछ सम्मान पाने लगे थे, क्योंकि इन्होंने कुछ बसाधारण प्रतिभाशाली विद्वान् पैदा हो गये थे। अठवीं शताब्दी में वाप्रा ने जब रावल वराधि धारण की तो वस्तुतः उन्होंने अपने को अपने विशिष्ट संस्थापक मान्य भक्त सिद्ध करना चाहा था। इस बात के निश्चित प्रमाण है कि गोरक्षनाथ के संस्थाप में रावल या लकुल पाशुपत मिल गये थे। आश्चर्यकर ने लिखा है कि सन् ९५१ से आरंभ करके सन् १२८५ ई० तक की प्रशस्तियों में शैव मात्र ही लकुलीश कहा गया है।^२ सन् १२८७ का एक लेख भोजनाथ में प्राप्त हुआ है जिसमें गोरक्षनाथ का नाम लकुलीश के साथ लिया गया है।^३ यह भी कदा करने की बात है कि भोजनाथ के विषय में एक अनुश्रुति इस प्रकार की है कि वे पेशावर से घिनोवर आए थे और अगणेशकी नामक विषवा के हाथ में से पूनर्वार पैदा हुए थे और इस पुरस्कृत सिद्ध का नाम 'रावल पीर' पड़ा था। 'रावल पीर' शब्द ही 'लकुल गुप्त' की याद दिलाता है। इस पर से मेरा अनुमान है कि रावल नाम से प्रसिद्ध योगियों की समूची शाखा वस्तुतः लकुलीश पाशुपत संस्थापकी उत्तराधिकारी है। इन लोगों में जति पति का बंधन पड़ने भी नहीं था इसलिये ये लोग क्रमशः मुसलमान होने गए। शुरू शुरू में जब गोरक्षनाथ ने शैव और योगमूलक संप्रदायों का संगठन किया होगा तो इन्होंने संवाद में इन्होंने स्वीकार किया होगा कि उन दिनों ये शास्त्र संप्रदाय की प्रतिष्ठा पा गये थे। इन में योग-प्रक्रिया भी पर्याप्त शाखा में थी। गोरक्षनाथ

१. भवव्रतपरा ये च ये च तन् समनुव्रतः

पालयइतस्ते भवन्तु सकृच्छास्त्रपरिप्यतः

नष्टशोना मूढयिो जटामरमास्थिधारिणः

विशतु शिवदीपायां यत्र दैव सुरासवम् ॥

—भागवत, ४।१

२. गायक एतियाटिक सोलायटी की बंरई शला के जनक जिल्द ६२, पृ० १५१ और प्रागे) में डाक्टर डी० आर० भायडारकर ने लिखा है राजपूताने के अनेक मन्दिरों में उन्होंने लकुलनामी शिवमूर्तियाँ देवी हैं। ये सभी द्विभुज मूर्तियाँ और उनके एक हाथ में लकुट है। इन द्विभुज मूर्तियों को देखकर भायडारकर ने यह अनुमान किया है कि ये मूर्तियाँ किसी ऐसे सिद्ध की स्मारिका हैं जो बाद में नज्जकर शिव का अवतार मान लिए गए थे। लकुलीश वही सिद्ध थे।

१. जिल्द ५० १४०

के पंथ में आने के बाद, जैसा कि हुआ करता है, इन लोगों के संप्रदाय में गोरक्षनाथ लकुलीश के अवतार मान लिये गए होंगे और बाघा रावल के साथ गोरक्षनाथ के संबंध की कड़ानी बल पड़ी होगी।^१

इस प्रसंग में एक उल्लेखयोग्य तथ्य की चर्चा करना असंगत नहीं है। सोमनाथ में उपलब्ध चित्रप्रशस्ति में दाता का नाम उल्लूकाज लिखा हुआ है। भाष्यकार ने लिखा है कि शिव के दो अवतारों के नाम उल्लूक थे और इस प्रशस्ति के उल्लूक वैसे ही हिमेश्वर संप्रदाय के उपासक होंगे। परन्तु प्रज्ञाट ने वायुपुराण या त्रिगपुराण में कोई ऐसा प्रमाण नहीं पाया।

अब भी, उल्लूक कौन थे इस विषय में पंडितों ने तरह तरह के अनुमान किए हैं। मराभारत (२ भाग २७.५) में लिखा है कि जब अर्जुन उत्तर देश जय करने गए थे 'उल्लूक' नाम की एक जाति से उनका सामना हुआ था। ये लोग संभवतः 'उल्लू' टोटेमवाली जाति के थे। अब लक्ष्य करने की बात है कि संस्कृत में उल्लूक का पर्याय 'कौशिक' भी है। क्यों कौशिक शब्द उल्लूक का बावक हो गया इसका कोई संगत कारण अभी तक नहीं बताया जा सका है। परन्तु उल्लूक लकुलीश संप्रदाय के शैव थे। लकुलीश के साक्षात् शिष्य का नाम 'कुशिक' था। 'उल्लूक' जाति के लोग इन्हीं कुशिक की परंपरा में पड़ने के कारण 'कौशिक' कहे जाते होंगे। पुरानी परंपरा के भूल जाने पर 'कौशिक' शब्द उल्लूक पक्षी का पर्याय समझ लिया गया है। इस व्याख्या से 'उल्लूक' जाति संबंधी बाद का एक युक्तिसंगत निर्यात हो जाता है। शकुनि के एक भाई का नाम भी 'उल्लूक' था। इस पर से प्रज्ञाट ने अनुमान किया है कि 'उल्लूक' जाति या तो उस की वंशज है या फिर 'उल्लूक' कोई जाति ही है। शकुनि गंधार के राजा थे इसलिये उल्लूकों का स्थान उधर ही हो सकता है। यह लक्ष्य करने की बात है कि रावलों के प्रधान पीठ अब भी अफगानिस्तान में ही अधिक हैं।

सर्वदर्शनसंग्रह में कणाद-दर्शन को ही औलूक्य दर्शन कहा गया है। इस नाम के कारण टीकाकार ने दो बताए हैं। एक तो यह कि कणाद उल्लूक ऋषि के वंशज थे। दूसरा यह कि शिव जी ने उल्लूक का स्वर धारण करके कणाद मुनि को छः पदार्थों के ज्ञान का उपदेश दिया था। कणाद का वैशेषिक दर्शन प्रसिद्ध है। सर्वदर्शनसंग्रह में किसी प्राचीन ग्रंथ का एक श्लोक उद्धृत करके बताया गया है कि

१. इस विषय में अनुसंधितसु पाठकों की जानकारी के लिये एक और बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है। रावल अपने को नागनाथ का अनुयायी कहते हैं। लकुलीश की मूर्तियों को अभी तक इतना महत्वपूर्ण नहीं समझा गया है कि उनके चित्र प्रकाशित हो, इस लिये उन मूर्तियों की विशेषता के विषय में कुछ कह सकना कठिन है। परन्तु डा० वर्मा ने एलोरा (वेरुल) की गुफाओं में एक शिव के योगी चित्र का अंकन प्रकाशित किया है। उसमें शिव बाएं हाथ में लाठी लिए हुए पद्म पर समासीन हैं और पद्म नागों की कण्ठ पर है। प्रज्ञाट ने इसको लकुलीश मूर्ति माना है। इससे रावलों के नागनाथी होने पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है।

किम दृढ़ता से ये लोग शिव के साक्षात्कार को मुक्ति (दुःख निवृत्ति) का उपाय मानते थे । जिस दिन आदमी आत्ममान को इस प्रकार ठक लेंगे जिस प्रकार चमड़े से कोई बर्तन ढका जाता है उसी दिन वे शिव को जाने बिना भी दुःख का जन्म पा जाँयगे !^१ अर्थात् शिव को जाने बिना परमसुख का मित्रनः अमंशक है । आत्मी को पढ़कर महेश्वर के गुण को सुनना, सुने हुए को अनुमान से ठीक ठीक समझना और समझे हुए को ध्यानाभ्यास से मन में बार-बार अनुभव करना तीनों प्रकार से अपनी बुद्धि को शिव में लगाने से उत्तम योग प्राप्त होता है ।^२ जौलुय लोगों का यही विश्वास है ।

(३) पूरन भगत और राजा रसाल

पूरन भगत (चौरंगीनाथ) और राजा रसाल— सारे पत्राव में और सुदूर अफगानिस्तान तक में पूरन भगत और राजा रसाल की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं । ये दोनों ही सियालकोट के राजा सालबाहन (शालिवाहन) के पुत्र बनाए जाते हैं । कहते हैं, पूरन भगत अन्त में बहुत बड़े योगी हो गए थे और चौरंगीनाथ नाम से प्रसिद्ध हुए । मिर्या कादरगार की लिखी हुई एक पंजाबी कहानी पर संक्षेप पूरन भगत गुरु-मुक्ती अक्षरों में छपी है । कहानी का सारांश इस प्रकार है :

पूरनभगत रज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य के वंशज थे । उनके बापदादों ने सियालकोट के थाने पर अधिकार कर लिपा था । इसके पिता का नाम सलवान (सालबाहन-शालिवाहन) था । जन्म के बाद ज्योतिषी के आदेशानुसार पूरन बारह वर्ष तक एकान्त में रखे गए थे । इस बीच राजा ने लग्ग नामक एक चमार की युवती से शादी कर ली । एकान्तवास के बाद पूरन अपने माँ बाप से मिले । उन्होंने सृष्टजन्म से बिमाता को 'माँ' कहकर पुकारा, इसपर गर्विणी नई रानी का गौरवभाव काढ़त हुआ । उसने कई अपप्रस्ताव किए । अन्त में पूरनभगत के सगल स्वभाव से उसकी चढ़ावता अत्यन्त प्रवृत्त हो गयी । ईर्ष्या से अन्धो होकर इस रानी ने राजा से उक्तो-मीछी लगाकर पूरन के हाथ पैर कटवाकर और आँखें फुड़वाकर कुएं में डलवा दिया । इस कुएं से गुरु गोरखनाथ ने उनका उद्धार किया । गुरु के आशीर्वाद से उनके हाथ पैर और आँखें फिर से मिलीं । जब वे नगर लौटकर गए और उनके पिता की इस छक्का पता लगा तो राजा ने कठोर दण्ड देना चाहा पर पूरन ने निषेध किया । पूरन की माँ रो-रोकर अन्धी हो गई थी । पूरन की कृपा से उन्हें आँखें मिलीं और उनकी दरदान से

१. यदानर्थवदाकाशं वेष्टयिष्यति मानवाः ।

तदा शिवमविशय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥—म० ३० म० १५० २१

२. आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासजलेन च ।

त्रिधा प्रकलयन् प्रज्ञां लगते योगमुत्तमम् ॥—ब्रह्मी ५० २१

पुत्र भी हुआ। पिता ने आप्रश्-पूर्वक उन्हें राजसिंहासन देना चाहा पर पूरन ने अस्वीकार कर दिया। अन्त में वे गुरु के पास लौट गए और बड़े भारी सिद्ध हुए। हाथ पैर कट जाने के कारण वे चौरंगी हुए थे। इसीलिये इनका नाम चौरंगीनाथ हुआ। स्यालकोट में अब भी वह कुआँ दिखाया जाता है जहाँ पूरन भगत को फेंका गया था।

पूरन भगत की यह कहानी यो. स. आ. में भी दी हुई है (पृ० ३७२)। वहाँ स्यालकोट का नाम शाहीपुर दिया हुआ है। संभवतः ग्रन्थकार ने स्याल का शुद्ध संस्कृत रूप 'शालि' समझा है। परन्तु वास्तव में पुराना नाम 'साकल' है।

राजा रसालू पूरन भगत के वैमात्रेय भाई थे। इनके समय को लेकर पंडितों ने अनेक अनुमान भिड़ाए हैं। सन् १८८४ ई० में टेम्पुल ने खोज करके देखा कि राजा रसालू का समय सन् ईसवी की आठवीं शताब्दी हो सकता है। उनके अनुमान का आधार यह था कि पंजाब की दो जाट जातियाँ—सिद्ध और संसी—अपने को इनके वंश का बताती हैं। सिद्ध लोग अपना संबंध जैमलमेर के स्थापक जैसल नामक राजपूत राजा से बताते हैं। इस राजा की मृत्यु सन् ११६८ ई० में हुई थी और इसने जैमलमेर की स्थापना सन् ११५९ ई० में की थी। संसी लोग और भी पुराने काल से अपना संबंध बताते हैं। वे अपने को सालबाहन के पिता राजा गज के वंशधर मानते हैं। टाड ने लिखा है कि राजा गज से गजनी के सुलतान की लड़ाई हुई थी। अन्त तक गज हार गया था और पूरब और इतने को बाध्य हुआ था। उसीने स्यालकोट की स्थापना की थी। बाद में उसने गजनी को भी अपने अधिकार में कर लिया था। यह सातवीं शताब्दी के अन्त की घटना है और इस प्रकार राजा रसालू का काल आठवीं शदी होता है। अरबी इतिहास-लेखकों ने आठवीं शताब्दी के प्रतापी हिन्दू राजा की बहुत चर्चा की है। उसके नाम को नानाभाव से लिखा है। एक दूसरा प्रमाण भी इस विषय में संग्रह किया जा सका है। रिसल नामक एक हिंदू राजा के साथ मुहम्मद कासिम ने सिंध में संधि की थी। संधि का समय आठवीं शताब्दी का प्रारम्भिक भाग है। इस प्रकार टेम्पुल ने अनुमान किया कि रिसल असल में रसालू ही होगा और उसका समय आठवीं शताब्दी के आदिभाग में होना चाहिए^१। कुछ पंडितों ने तो राजा शालिबाहन को शकसवन का प्रवर्तक माना है। डॉ० इविंसन ने इन्हें पेशाव राजपूत माना है। ये इनके मत से यहदु-वंशी राजपूत थे और रावलपिण्डो—जिसका पुराना नाम गजपुरी है—उनकी राजधानी थी। बाद में मोघियनों से और मुग़ल के बाद इन्हें पुरख की ओर हटना पड़ा। तभी स्यालकोट में इनकी राजधानी हुई। त्रिगम साइब ने इस संशयों पर विचार करके यही निष्कर्ष निकाला है कि यह सब कहानियाँ केवल यही सिद्ध करती हैं कि राजा रसालू के समय में सीमान्त पर हिंदुओं और विषमियों का जबरदस्त संघर्ष चल रहा था और इसीलिये पूरन भगत और राजा रसालू का समय वस्तुतः ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व में ही होना चाहिए।^२

स्पष्ट ही है कि राजा रसालू या पूरनभगत को ग्यारहवीं शताब्दी में बीच ले आने का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। केवल अनुमान के बल पर समस्त प्रकार

की परम्पराओं और ऐतिहासिक सचाइयों के विरुद्ध कोई निर्णय करना साहस मात्र है। परम्पराएँ और ऐतिहासिक प्रमाण स्पष्टरूप से पूरनभगत और राजा रसालू को गोरक्षनाथ के पूर्व ले जाते हैं। इसका एकमात्र समाधान यही हो सकता है कि वस्तुतः ही ये दोनों गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती हैं। उनके द्वारा प्रवर्तित या समर्थित शैव साधकों में कुछ योगाचार रहा होगा जिसे गोरक्षनाथ ने नये सिर से अपने मत में शामिल कर लिया होगा। उनकी गोरक्षनाथ का शिष्य बताने वाली कहानियाँ परवर्ती हैं। गोरक्षनाथ अपने काल के इतने प्रसिद्ध महापुरुष हुए थे कि उनका नाम भरने पथ के पुगोभग में रखे बिना उन दिनों किसी को गौरव मिलना संभव नहीं था। जो लोग वदविमुखता और ब्राह्मणविरोधिता के कारण समाज में अगृहीत रह जाते, वे उनकी कृपा से ही प्रतिष्ठा पा सकते थे।

इस प्रकार पूर्ववर्ती संप्रदाय का संबंधित शक्तिशाली संप्रदाय में अन्तर्भूत होना अनहोनी बात नहीं है। परवर्ती इतिहास में इसके अनेक प्रमाण हैं। चैतन्यदेव के नवोदित भक्ति-मार्ग में अनेक तांत्रिकमत प्रवेश कर गए थे। नित्यानंद के साथ बहुत बड़ा अर्धबौद्ध दल उस संप्रदाय में आ गया था। सूरदास गऊवाट पर रहा करते थे और शिष्य बनाया करते थे। महाप्रभु बल्लभाचार्य से जब वे प्रभावित हुए तो समस्त शिष्य बल्लभसंप्रदाय में प्रविष्ट हो गये। बल्लभदास के पथ में अनेक पूर्ववर्ती योगी जातियाँ शामिल हो गई थीं—यह हम अपनी 'कबीर' नामक पुस्तक में दिखा चुके हैं। यह लक्ष्य करने की बात है कि रावल लोग—जो वस्तुतः लक्ष्मी या लक्ष्मीश संप्रदाय के पाशुपत थे—अपना संबंध राजा रसालू से बताते हैं और उनकी एक प्रधान शाखा—गल या पागल पंथी—चौरंगीनाथ को अपना भूल प्रवर्तक मानते हैं। चौरंगीनाथ पूरनभगत का ही नामान्तर बताया जाता है।

(४) पुरी के सतनाथ

यह भी शिव द्वारा प्रवर्तित एक या पंख शाखा से संबद्ध बताया जाता है। धरमनाथ इसी संप्रदाय के थे जिनके विषय में प्रसिद्धि है कि रावल पीर के रूप में पुनर्वास अवतरित हुए थे। इन दिनों भी पुगो के सतनाथी लोग अपा को अन्यान्य संप्रदायों से कुछ विशिष्ट मानते हैं। सन् १९२४ में पुगो के सद्गुरु ने ब्रिग्स साहब को बताया था कि वे लोग कपड़े से लिपटा हुआ जो एक लुगड़-रखते हैं, वह उनका विशेष चिह्न है^१। इसे वे लोग 'सुदर्शन' कहते हैं। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि लगुलि या लाठी लक्ष्मीश की विशेषता है। ब्रिग्स साहब को भी इस लुगड़ को देखकर सन्देह हुआ है कि यह लक्ष्मीश संप्रदाय का अवशेष होगा^२। लक्ष्मीश संप्रदाय में किस प्रकार का लगुड़ धारण किया जाता था, उसका आभास दुविष्क भी सुवर्ण मुद्राओं

में मिल जाता है^१, लकुट शिव क्यों धारण करते हैं? इस मत के अनुसार सभ्य बद्धजीव 'पशु' है और शिव एक मात्र स्वतंत्र पशुपति हैं। पशुओं अर्थात् बद्धजीवों का नियमन ही लकुट या लंगुल धारण करने का उद्देश्य है। इस प्रसंग में यह उल्लेख योग्य है कि दीर्घकाल से गोरक्षपंथीयोगी एक प्रकार का ढंड या डंडा धारण करते आ रहे हैं। कबीरदास ने भी इस डंडे को लक्ष्य किया था और मलिक मुहम्मद जायसी ने भी।^२

यह खूब संभव है कि जिसे सतनाथी साधु 'सुदर्शन' कहते हैं वह लाकुलीशों के लंकल का अवशेष हो। वेगहवीं चौदहवीं शताब्दी तक सतनाथी धर्मनाथ को 'रावल' समझा गया था। इस पर से भी यह अनुमान पुष्ट होता है कि सतनाथी शाखा भां पाशुपतों को हो कोई शाखा होगी जो बाद में गोरक्षनाथ के प्रभाव में आई होगी।

शिव के अन्यन्त्र संप्रदायों के बारे में विशेष कुछ ज्ञात नहीं हो सका है किन्तु अधिक शोध करने पर उसका भी संबंध किसी न किसी पुराने शैवसंप्रदाय से अवश्य सिद्ध होगा।

पाठकों को यह ज्ञापन की इच्छा हो सकती है कि लकुलीश मत के मान्य सिद्धान्त क्या थे^३। अभी तक इस संप्रदाय का उल्लेख योग्य एक ही ग्रंथ अनन्तशयन संस्कृत ग्रंथमाला में कीर्तिङ्गकृत पञ्चायं भाष्य के साथ प्रकाशित हुआ है। इन पाशुपतों के अनुसार पांच ही पदार्थ होते हैं, कारण, कार्य, योग, विधि और दुःखान्त। इनमें (१) कारण भी साक्षात् पशुपति अर्थात् शिव ही हैं, (२) कार्य तीन है, (i) बद्धजीव जिसे 'पशु' कहा जाता है, (ii) उसका ज्ञान (विद्या) और (iii) उसे परतंत्र बनाने वाली जड़ वस्तु (कला)। जो पशु (जीव) शरीर और इंद्रियों को

१. जे. एफ. फ्रीट ने रावल एमियाटिक सोसायटी के सन् १९०७ ई० के जर्नल (पृ. ४२१ की पाद टिप्पणी) में लिखा है कि लकुल 'खट्वांग' नामक शिव के शस्त्र का पर्याय होगा। 'खट्वांग' खनिया के पाये के आकार का शस्त्र होता था जो बहुत कुछ गदा के समान ही समझा जाता था। यदि लक्ष्य करने की बात है कि दक्षिण के पल्लव राजा लोग अपनी पताकाओं पर खट्वांग का चिह्न व्यवहार किया करते थे। फ्रीट ने कहा है कि यदि लकुल और खट्वांग एक ही हो तो इन पल्लवों को भी लकुल संप्रदाय का अनुयायी समझना चाहिए।

२. कथा पीडिङ्ग कर गदा, मद्ध दोह कहें गोमय कहा ॥

मुंदरा स्तवन कंड जयमाला : कर उपदान कांध धधछाला ॥

—पदु मा व ती, पृ० २३८

३. हिंदी पाठक निम्नलिखित प्रश्न पढ़ सकते हैं :

(१) नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १, पृ० २१६-७ में पं. गौरीशंकर हीराचंद ओझा की टिप्पणी।

(२) विश्व भारती पत्रिका (खंड १, पृ० २४२-२४६) में पं० बलदेव व्याध्याय का लेख।

धारण किये रहता है वह 'सांचन' कहलाना है और जो इनमें मुक्त हो गया होता है वह निर्जन । (३) चित्तद्वार से आत्मा और ईश्वर के संयोग को योग कहते हैं और (४) बाह्य अंगों की विधि । विधि दो प्रकार की होती है, व्रत और द्वार । भस्मस्नान, भस्मप्रशयन, उपहार, जप, प्रदक्षिणा आदि व्रत हैं । इन लोगों की विधियों में नाचना, गाना, अट्टहास करना, स्त्रीका स्वांग करना, अतर्गज बनना, लोकनिर्दित काये करना, चन्द्रिहृष्टभक्षण आदि का भी उल्लेख है । (५) दुःखान्त दुःख से पर-निवृत्ति या मोक्ष को कहते हैं, जो योग और विधि द्वारा प्राप्त होता है । सब दर्शन में ग्रह में इनके मत की विभूत चर्चा है । वहाँ बताया गया है कि ये लोग वैष्णवों की बताई हुई मुक्ति को सर्वदुःख से निवृत्ति नहीं मानते क्योंकि वैष्णव लोगों का विश्वास है कि आत्मा मुक्त होने पर भी विष्णु का सेवक बना रहता है । इसका अर्थ यह हुआ कि उसकी पारतन्त्र्य दुःख से निवृत्ति नहीं हुई । पर इनके मत में मुक्त होने पर जीव परमेश्वर के गुण से युक्त होकर उन्हीं के समान हो जाता है । *

(५) योगमार्गीय शाखा

गोरक्षनाथ के प्रवर्तित छः मार्ग बताए जाते हैं । इनमें जिन पथों का पुराना परिचय प्राप्त है, वे मुख्यतः योगमार्गीय हैं । उनमें कई प्रकार की पुरानी साधनाओं के भगनावशेष अब भी पाए जा सकते हैं । इनमें वासमार्गी, शाक्त, बौद्ध और संभवतः वैष्णवयोगपरक संप्रदाय अंतर्भूत हुए हैं । कुछ इनमें ऐसे हैं, जिनका कोई पुराना संबंध नहीं खोजा जा सका । परन्तु अधिकतर ऐसे हैं जिनका पुराना साधन आमतौर से सिद्ध किया जा सकता है । अब यह बात अविदित नहीं रही कि नवीं शताब्दी के पहले लगभग सभी संप्रदायों में योगमार्ग और तांत्रिक क्रियाओं का प्रचार हो गया था । क्या वैष्णव और क्या शैव, सभी मंत्र, मुद्रा, योग, चक्र आदि की उपासना प्रचलित हो गई । शैव और वैष्णव दोनों ही संप्रदायों में आगमों और संहिताओं की प्रामाण्यता स्वीकृत हुई । आगम तीन प्रकार के हैं, वैष्णवागम या संहिताएं, शैवागम और शाक्तागम या तंत्र । इस पूर्ववर्ती अध्यायों में शैव और शाक्त आगमों का परिचय थोड़ा बहुत मिल चुका है । इस स्थान पर प्रसंग प्राप्त वैष्णव-संहिताओं की संक्षिप्त चर्चा कर लेते से आगे कहो जान वाली बात कुछ अधिक स्पष्ट होगी ।

वैष्णवागम दो प्रकार के हैं : पांचरात्र संहिताएं और वैखानस सूत्र । दक्षिण में अब भी ऐसे बहुत से मंदिर हैं जहाँ वैखानस संहिताओं का व्यवहार होता है, परन्तु प्राचीन काल में और अधिक होता था । कहते हैं, रामानुजाचार्य के इस्तोत्र से वैखानस संहिताओं का व्यवहार छठ गया और उनके स्थान पर पांचरात्र संहिताओं का प्रचार बढ़ा । तिरुपति के वैकुण्ठेश्वर मंदिर तथा कांजीवरम के कई मंदिरों में अब भी वैखानस संहिताएं व्यवहृत होती हैं । पांचरात्र संहिताओं और वैखानस संहिताओं की

व्यवहार विधि में अन्तर है। अण्णदीक्षित का कहना है कि पांचरात्र मत अवैदिक है और वैवानस मत वैदिक। सो, पांचरात्र मत का अभ्युत्थान इस युग की प्रधान विशेषता है। श्रेडर ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ इन्ट्रोडक्शन टु दि पांचरात्र ऐण्ड अ दि ब्रह्म संहिता में कहा है कि यद्यपि बहुत सी संहिताएं बाद में बनी हैं परन्तु इनमें बारह प्राचीन संहिताएं निश्चित रूप से नवीं शताब्दी के पहले बन चुकी थीं और कुछ का अस्तित्व तो सन् ईसवी के पूर्व भी था।

इन संहिताओं में शैव आगमों की भांति दो चार विषयों का प्रतिपादन है:—

(१) ज्ञान अर्थात् ब्रह्म, जोव तथा जगत् के पारस्परिक संबंधों का निरूपण, (२) योग अर्थात् मोक्ष के साधनीभूत योगक्रियाओं का दर्शन, (३) क्रिया अर्थात् देवालय के निर्माण, पूजन, मूर्ति प्रतिष्ठा आदि विषयों के विधान और (४) चर्या अर्थात् नित्य और नैमित्तिक कृत्य, मूर्तियों तथा यंत्रों की पूजापद्धति और पर्वविशेष के उत्सवादि^१। इनमें चर्या का वर्णन ही बहुत अधिक हुआ करता है। वाकी में क्रिया, ज्ञान और योग की चर्चा हुआ करती है बहुत कम संहिताओं में चारों पादों पर ध्यान दिया गया। पादांतर एक ऐसी संहिता है जिसमें सभी पाद भलीभांति आलोचित हैं। पर इसमें भी योग के लिये ग्यारह पृष्ठ, ज्ञान के लिये पैंतालीस, क्रिया के लिये दो सौ पन्द्रह और चर्या के लिये २७६ पृष्ठ हैं^२। इसी से संहिताओं का प्रधान वक्तव्य विषय समझा जा सकता है। अतुत ये प्रधान विषय क्रिया और चर्या ही हैं। इसी लिये संहिताओं को वैष्णवों का वर्णनसूत्र कहा जाता है। शास्त्रीय विभाग को छोड़ दिया जाय तो इन में मंत्र, यंत्र, मायायोग, योग, मन्दिर निर्माण, प्रतिष्ठान विधि, संस्कार (आह्निक), वर्णाश्रम धर्म और उत्सव, इन्हीं दस विषयों का विस्तार अधिक है^३। यह विषय सूची ही स्पष्ट कर देती है कि संहिताओं में तान्त्रिक पद्धति और योग की प्रधानता है। प्रकृत प्रसंग यह है कि हमारे आलोच्य काल में वैष्णव-संप्रदाय में योगक्रिया का प्रवेश हो गया था। और इन योग और तंत्रमूलक शास्त्रों को अवैदिक भी बताया जाने लगा था। इसी प्रकार बौद्ध, जैन, आदि मार्गों में भी योग क्रिया का प्रवेश हुआ था। इन में निश्चय ही स्तम्भ-भेद वर्तमान था। कुछ शास्त्राणें ऐसी थीं जो संप्रदाय के वैदिकता-प्रवण भाग से दूर विक्षिप्त हो गई थीं और योग क्रियाओं को अधिकधिक अपनाने लगी थीं। गोरक्षनाथ के मार्ग में इन्हीं संप्रदायों का सम्मिलन हुआ था। आगे भिन्न भिन्न मार्गों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

१. भर्तृहरि—गोरक्षनाथ के एक अन्य पंथ का नाम वैराग्य पंथ है। भर्तृहरी या भर्तृहरि इस पंथ के प्रवर्तक हैं। भर्तृहरि कौन थे, इस विषय में पंडितों में नाना प्रकार के विचार हैं परन्तु पंथ का नाम वैराग्य पंथ देखकर अनुमान होता है कि वैराग्य शतक नामक काव्य के लेखक भर्तृहरि ही इस पंथ के मूल प्रवर्तक होंगे। दो बातें संभव हैं—

१. भारतीय दर्शन: पृ० ४६३

२. श्रेडर : इन्ट्रोडक्शन टु दि पांचरात्र ऐण्ड अ दि ब्रह्म संहिता, पृ० २२

(१) या तो भर्तृहरि ने स्वयं कोई पंथ चलाया हो और उसका नाम वैराग्य मार्ग दिया हो या (२) बाद में किसी अन्य योगमार्ग ने वैराग्य शतक में पाए जाने वाले वैराग्य शब्द को अपने नाम के साथ जोड़ लिया हो। वैराग्य शतक के लेखक भर्तृहरि ने दो और शतक लिखे हैं, शृंगार शतक और नीति शतक। इन तीनों शतकों को पढ़ने से भर्तृहरि की चिन्तादिली और अनुभवीपन स्पष्ट प्रकट होते हैं। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने लिखा है कि भर्तृहरि नामक कोई राजा था जो प्रायः बार बौद्ध संन्यासी बना और सात बार गृहस्थाश्रम में लौट आया। वैराग्य और शृंगार शतकों में भर्तृहरि के इस प्रकार के संशयित भावावेगों का प्रमाण मिलता है। संभवतः शतकों के कर्ता भर्तृहरि ह्वेनसांग के भर्तृहरि ही हैं। उनका समय सप्तम शताब्दी के पूर्वभाग में ठहरता है। कहानी प्रसिद्ध है कि अपनी किसी रानी के अनुचित आचरण के कारण वे विरक्त हुए थे। वैराग्य शतक के प्रथम श्लोक से इस कहानी का सामंजस्य मिला लिया जा सकता है : परन्तु इसी भर्तृहरि से गोरक्षनाथ के सम शिष्य भर्तृहरि को जो दसवीं शताब्दी के अन्त में हुए होंगे अभिन्न समझना ठीक नहीं है। यदि वैराग्य शतक के कर्ता भर्तृहरि गोरक्षनाथ के शिष्य थे तो क्या कारण है कि सारे शतक में गोरक्षनाथ का नाम भी नहीं आया है ? यही नहीं, गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित दृष्टयोग से वैराग्य शतक के कर्ता परिचित नहीं जन पड़ते। मेरा इस विषय में यह विचार है कि भर्तृहरि दो हुए हैं, एक तो वैराग्य शतक वाले और दूसरे उज्जैन के राजा जो अन्त में जाकर गोरक्षनाथ के शिष्य हुए थे। भर्तृहरि का वैराग्य-मत गोरक्ष द्वारा अनुमोदित हुआ और बाद में परवर्ती भर्तृहरि के नाम से चल पड़ा। इस मत को भी गोरक्षद्वारा 'अपना' मत माना जाना इसी लिये हुआ होगा कि कपिलायनी शाखा तथा नीम-नाथी पारसनाथी-शाखा की भाँति इन में योगक्रियाओं का बहुत प्रचार होगा। द्वितीय भर्तृहरि के विषय में आगे कुछ विचार किया जा रहा है। यह विचार मुख्य रूप से दन्तकथाओं पर आश्रित है। इसके विषय में नाना प्रकार की कहानियाँ प्रचलित हैं। मुख्य कथा यह है कि ये किसी मृगीदल-बिहारी मृग को मार कर घर लौट रहे थे। तब मृगियों ने नाना प्रकार के शाप देना शुरू किया और वे अपनाभाव से विलाप करने लगीं, दयादर्ी राजा निरुपय होकर सोचने लगा कि किसी प्रकार यह मृग जी जाता तो अच्छा होता। संयोगवश गुरु गोरक्षनाथ वहाँ उपस्थित हुए और उन्होंने इस शर्त पर कि मृग को जी जाने पर राजा अपना चेन्ना हो जायगा, मृग को जिला दिया। राजा चेन्ना हो गया। कहते हैं, गोरीचन्द्र की माना मयनास्त (मैलावती) इनही बहन थी।

हमारे पास 'विधना तथा कर्तार' का बनाया हुआ भरथरी चरित्र है जो दूधनाथ प्रेस, हवड़ा से मूपा है। इस पुस्तक के अनुसार भरथरी या भर्तृहरि उज्जैन के राजा इन्द्रसेन के श्वेत और चद्रसेन के पुत्र थे। वैराग्य ग्रन्थ करने के पूर्व राजा सिंहलदेश की राजकुमारी सामदेई से विवाह करके वहीं रहता था। वहीं मृग का शिकार करते समय उसकी गुरुगोरक्षनाथ से भेंट हुई थी। हम पहले ही विचार कर चुके हैं कि योगियों का सिंहलदेश वस्तुतः हिमालय का पाददेश है, आधुनिक

एक और कहानी में बताया जाता है कि भर्तृहरि अपनी पतिव्रता रानी पिंगला की मृत्यु के बाद गोरक्षनाथ के प्रभाव में आकर विरक्त हुए और राज्य अपने भाई विक्रमादित्य को दे गए। उज्जैन में एक विक्रमादित्य (चंद्रगुप्त द्वितीय) नामक राजा सन् १०७६ से ११२६ तक राज्य करता रहा^१। इसप्रकार भर्तृहरि ग्यारहवीं शताब्दी के मध्यभाग के ठहरे। एक दूसरी कहानी में रानी पिंगला को राजा भोज की रानी बताया गया है। राजा भोज का राज्यकाल १०१८ से १०६० ई० बताया गया है^२। एक दूसरे मूल से भी भर्तृहरि मयनामती और गोपीचंद्र का संबंध स्थापित किया जा सका है। पालवंश के राजा महीपाल के राज्यमें ही, कहने हैं, रमणवज्र नामक बज्र्यानी सिद्ध ने मत्स्येंद्रनाथ से दीक्षा लेकर शैव मार्ग स्वीकार किया था। यही गोरक्षनाथ हैं। पालों और प्रतीहारों (उज्जैन के) का झगडा चल रहा था। कहा जाता है कि गोविंद चंद्र महीपाल का समामायिक राजा था और प्रतीहारों के साथ उसका संबंध होना विचित्र नहीं है^३।

२. गोपीचंद्र और मयनामती—गोपीचंद्र और मयनामती (मयनामती) की कहानी सारे भारतवर्षमें पाई जाती है। गोपीचंद्र बंगाल के राजा मानिकचंद्र के पुत्र थे। मानिकचंद्र का संबंध पालवंश से बताया जाता है जो सन् १०९५ ई० तक बंगाल में शासनारुढ़ था। इसके बाद ये लोग पूर्व की ओर हटने को बाध्य हुए थे। कुछ पंडितों ने इस पर से अनुमान किया है कि ये ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ में हुए होंगे। गोपीचंद्र का ही दूसरा नाम गोविन्दचंद्र है। हमने मत्स्येंद्रनाथ का समय निर्धारित करने के प्रसंग में तिरुमलय में प्राप्त शैललिपि पर से इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास होना पहले भी अनुमान किया है। गोपीचंद्र मयनामती के पुत्र थे जो किसी हाड़ी सिद्ध की शिष्या बताई जाती हैं। ये हाड़ीसिद्ध जालंधरनाथ ही थे, ऐसी प्रसिद्धि बंगाल में पाई जाती है। भिन्न में गोपीचंद्र पीर पटार नाम से मशहूर हैं। पीर पटार की मृत्यु सन् १२०९ ई० में हुई थी। तुफ़्तुल किरान में पीरपटार की कहानी दी हुई है। यह कहानी गोपीचंद्र को १२वीं शताब्दी में पहुँचाने है। परन्तु पीर पटार गोपीचंद्र ही थे या नहीं, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि गोपीचंद्र बंगाल के राजा थे। इतिहास में यह शागद अद्वितीय घटना है जब माना ने पुत्र को स्वयं वैराग्य प्रण करने को नम्रवादित किया हो। गोपीचंद्र की कहानियाँ इस प्रकार हैं—

(१) गोपीचंद्र बंगाल के राजा थे, भर्तृहरि की वइन मैत्रावती इनकी माता थी। गोरक्षनाथ ने जिस समय भर्तृहरि को ज्ञानोपदेश दिया था, वही समय मैत्रावती ने भी गोरक्षनाथ से दीक्षा ली थी। वह बंगाल के राजे से न्याही गई थी। इसके एक पुत्र गोपीचंद्र और एक कन्या चन्द्रावली ये दो सन्तानें थीं। चन्द्रावली का विवाह

१. ब्रिगम: पृ० २४४

२. ट्रांक का० सें० प्रो० : जिल्द २, पृ० ४०१ और ब्रिगम पृ० २४४

३. ब्रिगम: म. म. पं. दरमसाद शास्त्री ने आधार पर

तिष्ठलद्रोप के राजा उपसेन से हुआ था। पिता की मृत्यु के बाद जब गोपीचंद बंगाले का राजा हुआ तो उनके सुन्दर कमनीय रूप को देखकर मैनावती के मन में आया कि बिपश्यमुख में कँपने पर इसका यह शरीर नष्ट हो जायगा। इसीलिये उसने पुत्र को वरदेश दिया कि 'बेटा, जो शारवत-मुख चाहता है तो जालंधरनाथ का शिष्य होकर योगी हो जा'। जालंधरनाथ संयोगवश वहाँ आर हुए थे। गोपीचंद राजपाट छोड़ योगी हो करलीवन में चले गए। पीछे से अपनी बहिन चंद्रावती के अत्यन्त अनुरोध पर उसे भी योगी बनाया (सु० च० पृ० २५१)।

(१) दुर्लभचंद्र के गो विन्द चन्द्रे र गी त का कथा-सार—

जालंधरिपाद या हाड़िपा शिव के शापवश पाटीका-भुवन (या मेहारकुल) में राजा गोविन्दचंद्र और उनकी सिद्धा माता मयनामती के घर नीच कर्म किया करते थे। मयनामती ने अपने पुत्र को वरदेश दिया कि इस हाड़ो का शिष्य बनकर महाज्ञान प्राप्त करो और अमर हो जाओ। राजा ने पहले तो नीच जाति से दीक्षा लेना स्वीकार नहीं किया। राजा ने माता से पूछा कि तुमको अगर सिद्धि प्राप्त है तो पिता जो क्यों मर गए। रानी ने बताया कि किस प्रकार पति को बचाने के लिए लौह-पाट-वस्त्र गुह में बंद करके पहना देती रही, किस प्रकार यमदूत बार बार आकर रानी को सिद्धि के भय से लौट गए, फिर किस प्रकार एक सप्ताह बाद राजा के अत्यन्त आग्रह से वे भोजन बनाने के लिये वहाँ से हटी और मौका देखकर यमदूत वहाँ से पति को ले गए। फिर रानी भ्रमरी बन कर यपतुर् गई। यम ने कहा कि अनजली मिट्टी ले आओ तो तुम्हारे पति को जिला दूँ। पर वह गंगा के गर्भ में है जिससे सब जीव बचे हुए हैं। रानी ने उस मिट्टी को लेना उचित नहीं समझा और पति नहीं बच सके। गोरखनाथ ने रानी को जलने जनुगुह में प्रवेश करने को कहा। वहाँ से बह सका निकली। फिर तो राजा माता की सिद्धि देखा की दीक्षा लेने को राजा हो गया। हाड़िपा या जाज्ञन्वरिपाद ने शिष्य करने में आपत्ति दिखाई। पर राजा ने छोड़ा नहीं। बाद में नगर में से भिक्षा माँग लेने की शर्त पर राजा दूर। राजा सारे नगर मारा फिरा पर जाज्ञन्वरिपाद के माया-प्रभाव से उसे किसी ने भिक्षा नहीं दी—अपनी प्रियतमा रानिया उठुना और पुठुना ने भो नहीं। अंत में माता मयनामती ने ही भिक्षा दी। पर गुरु ने उसे भी आयावत से उड़ा दिया। हैरान राजा गोविन्दचन्द्र गुरु के पास खाली हाथ लौटे। गुरु ने कहा, दूररे देश से भिक्षा ले आओ। शिष्य गुरु के साथ ही देश नगर जाने को राजा हुआ। भोली ले भूल इसा करके गुरु के साथ राज-शिष्य निकल पड़ा। मस्ताने गुरु ने दक्षिण देश की किसी बौरांगना के घर राजा को कुछ कोढ़ियों पर बन्धकर रखा। उसने राजा से प्रेम कत्ना चाहा और प्रत्याख्यात होकर कष्ट देने लगी। इधर उठुना पुठुना रानियों ने अपनी बियोग-कथा को तोते-मैनों के पंखों में बांध कर उड़ाया। वे सर्वत्र उड़ते हुए बस स्थान पर भी पहुँचे जहाँ राजा गोविन्द चंद्र बँधी थे। उनका समाचार तोने मैनों ने रानियों को दिया, रानियों ने सास मयनामती को, मयनामती ने गुरु जाज्ञन्वरिपाद को। इधर उस बीरा नामक बौरांगना ने राजा

को भेड़ा बना दिया। गुरु वहाँ पहुँचे। कौड़ियाँ लौटा कर उन्होंने बंधक मांगा। हीरा ने कहा कि वह आदमी तो मर गया। पर गुरु ने ध्यान बल से सब समझ लिया। हुंकार छोड़ते ही भेड़े का बंधन टूटा और राजा भीमनुष्य हुए। इस बार शिष्य को लेकर गुरु यमलोक में गए। वहाँ पर राजा ने अपने दुष्कर्मों का हिसाब देखा तो योगी होने का पक्का निश्चय कर लिया। गुरु ने अब राजा को महाज्ञान दिया। राजा महाज्ञान पाकर घर लौटे और रानियों को योगविभूति दिखाते लगे। हाड़िपा ने जब यह जाना तो महाज्ञान हर लिया। अब राजा कोई भी चमत्कार नहीं दिखा सके। रानियों ने हँसकर कहा बड़े भारी गुरु हैं तुम्हारे। जाहूँ और टोना भर जानता है वह आदमी। राजा ने विश्वास किया और दूसरे ही दिन हाड़िपा को पकड़वा मंगाया। उस समय वे ध्यानस्थ थे। उसी अवस्था में राजा ने उन्हें भूमि में गड़वा दिया।

इधर हाड़िपा के शिष्य कानुपा ने गोरखनाथ के मुख से जो अपने गुरु का संवाद पाया तो बालक योगी का रूप धारण करके गोविन्दचंद्र की राजधानी में पहुँचे। योगी का प्रवेश वहाँ निषिद्ध था। कोतवाल ने इस शिशु योगी को पकड़कर रानी रदुना के सामने पेश किया। बालक योगी ने बताया कि मैं गुरुहीन होकर भटक रहा हूँ। मैं योग भला क्या जानूँ और रानी के बंधन से मुक्त हुए। तब कानुपा राजा के पास गए और एक हुंकार छोड़ा। सोलहसौ हाड़िपा के शिष्य उपस्थित हुए। राजा ने योगियों को भोजन कराना शुरू किया। भला योगियों का पेट कैसे भरता। अंत में राजा ने उन्हें सिद्ध समझा और असली परिचय पाकर भीत हुआ। राजा को हाड़िपा के क्रोध से रक्षा करने के लिए कानुपा ने तीन पुतलियाँ बनाईं। खोद कर हाड़िपा को जब निकाला गया तो उन्होंने क्रोधभरी दृष्टि से तीन बार गोविंदचंद्र को देखना चाहा। तीनों बार कानुपा ने पुतलियाँ दिखाईं जो जलकर भस्म हो गईं। फिर गुरु कुछ शान्त हुए तब राजा गोविंदचंद्र ने क्षमा मांगी। अबकी बार बेसच्चे योगी हुए। वान में शंख का कुंडल और शरीर में भस्म रमा कर देशान्तर के लिए चल पड़े। रानियों ने जो विलाप शुरू किया तो उन्हें प्रस्तरमूर्ति में रूपान्तरित कर दिया। अबकी बार बेसचमुच अमर हुए और माता मयनामती प्रसन्न हुईं।

मयनामती गान का सारांश—

एक बार गोरखनाथ राजा तिलकचंद्र के घर गए। वहीं बालिका शिशुमती को महाज्ञान का उपदेश दिया। यही रानी मयनामती हुई। इसका विवाह राजा मानिकचंद्र से हुआ। रानी ने मानिकचंद्र को महाज्ञान का उपदेश करना चाहा पर वे स्त्री को गुरु बनाने को राजी नहीं हुए। राजा ने अन्त में मयनामती को घर से निकाल दिया। वे 'फेरसा' नगर में चली गईं। मानिकचंद्र ने चार पटरानियों और १८० सामान्य भार्याओं के साथ बिहार करने में काल बिताया। मृत्यु के समय उन्हें होश आया और रानी मयनामती को बुलवाया। जब तक रानी-राजा के आदेश से हीरा-

माणिक्य खचित सुवर्ण शृंगार में गंगा का जङ्ग ले आने को गई तब तक यमदूत राजा का प्राण ले भागे रानी ने यमदूतों से बहुत लड़ाई की, पर पति को नहीं बचा सकी। उस समय उनके गर्भ में गोविन्दचंद्र या गोपीचंद्र थे। पैदा होकर यही लड़का राजा हुआ। पर वास्तविक शक्ति रानी के ही हाथ में रही। गोविन्दचंद्र ने बड़ा होकर साधार (वर्तमान ढाका में) के राजा की अदुना नामक कन्या से विवाह किया। द्वितीया कन्या पदुना वहेज में मिली।

भट्टशास्त्री द्वारा संग्रहित मयनामती के गान में ऐसा आभास पाया जाता है कि दक्षिणात्य राजा राजेन्द्र चोल ने अपनी एक कन्या गोविन्दचन्द्र को देकर संधि स्थापित की थी। रानी मयनामती ने देखा कि १८ वर्ष की उमर में यदि गोविन्दचन्द्र संन्यास नहीं लेता है तो उसको उन्नीसवें वर्ष में मृत्यु निश्चित है। फलतः रानियों को रोती बिलपती छोड़ हाड़िपा गुरु जालंबरिपाद से दीक्षा लेकर राजा १२ वर्ष के लिये प्रव्रजित हुए। रानी ने जब हाड़ि से दीक्षा लेने की बात कही तो राजा ने बहुत प्रतिवाद किया यहां तक कि हाड़ि के साथ रानी के गुप्त प्रेम और अपने पिता को विष प्रयोग से मार डालने का अभियोग भी लगाया। पर रानी ने रोकर कहा कि हाड़ि और वे दोनों ही गोरखनाथ के शिष्य हैं। अस्तु राजा संन्यासी हुआ और दक्षिण देश की हीरा नामक वेश्या ने उससे प्रेम करना चाहा। प्रत्याख्यात होने पर उसने उसे नाना प्रकार के कष्ट दिए। एक दिन पानी भरते समय राजा को ज्ञात हुआ कि १२ वर्ष बीत गया और अपना जाँघ चौर कर रक्त से एक पत्र लिखकर कवूतर के पर में बांध कर चड़ा दिया। कवूतर ने उस खबर को यथास्थान पहुँचा दिया। तब गुरु हाड़ि ने आकर राजा का उद्धार किया। राजा दीर्घकाल बाद जब राजधानी लौटे तो अन्तःपुर गए। वहाँ रानी अदुना उन्हें पहचान न सकीं। अपरिचित को अन्तःपुर में जाते देख कुत्ता ललकार दिया और हाथी से कुचलवा देने का आदेश किया। दोनों ने राजा को पहचान कर सिर झुका लिया। तब रानी ने उन्हें पहचाना और राजा सिंहासनासीन हुए। [हीनेशचंद्र सेन के बंग भाषा ओ साहित्य (पृ० ५५-५७) में दी हुई कथा के आधार पर संकलित।]

(४) डा० मोहनसिंह ने अपनी पुस्तक में पंजाब यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी में संगृहीत कई हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर 'उदास गोपीचंद, गाथा, गोरखपद' नाम से एक अंश छापा है जो गोपीचंद और उनकी माता मयनावती (मैनावती) के संवाद के रूप में है। माता ने पुत्र को योगी वेश में देखकर बहुत दुःख अनुभव किया इस पर पुत्र ने याद दिलाया कि तुम्हारे ही उपदेश से मैंने यह वेश लिया है और जब मैं इस मार्ग में रम गया तो तुम पछताती हो। संवाद के बह्य रूप से ही स्पष्ट रूप में मालूम होता है कि यह गोपीचंद का अपना लिखा हुआ नहीं है। उनके मत को व्यक्त करने के लिये किसी ने बाद में लिखा है। भाषा भी नई है। फिर भी इस संवाद में से गोपीचंद के मत को समझने में सहायता तो मिल ही सकती है। संवाद में गोरखनाथ को गोपीचंद का गुरु बताया गया है।

म. म. पं० गोपीनाथ कविराज ने गोपीचंद और जालंधरनाथ के संवाद रूप में कुछ संस्कृत वाक्य बढ़ा दिए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि ये वाक्य किसी पुरानी हिंदी कविता की संस्कृत छाया हैं। एक पद है, 'वसतो स्थीयते तदा कन्दर्पो व्याप्रुते। वने स्थीयते तदा क्षुत् सन्तपयति।' संस्कृत वाक्य में कोई तुक नहीं मिलता परन्तु हिंदी में यदि इसे 'व्यापै—सन्तापै' मान लिया जाय तो तुक मिल जाता है। छन्द भी हिंदी वंश में ठीक उतरता है। सारा संवाद 'गो र ख म छी न्द्र बोध' के अनुकरण पर लिखा हुआ परवर्ती है। संवाद के रूप में सिद्धों की बातचीत के रूप में पाई जाने वाली रचनाएँ संदेह मुक्त हैं। उन पर से किसी सिद्धान्त पर पहुँचना सब समय ठीक नहीं है।

(६) रसेश्वर मत

हमने ऊपर देखा है कि हठयोग में प्राणायाम का विशेष महत्त्व है। परन्तु हठयोग के ग्रंथों में तीन चाञ्चल्य भर्मी तत्त्वों का उल्लेख है जिनमें से किसी एक को बश में लाने से अभीष्ट सिद्धि होती है। ये हैं (१) प्राण (२) मन और (३) बिन्दु प्रथम दो के संयमन-विधि की चर्चा हम पहले भी कर चुके हैं। तीसरे की एक अत्यन्त विचित्र और परम उपकारी परिणति हुई है, यहाँ उसीका उल्लेख किया जा रहा है। बिन्दु का अर्थ शुक्र है। ऐसा जान पड़ता है कि इसके अधोगति को कालाग्नि कहते थे^२ ऊर्ध्वगति को 'कालाग्निरुद्र'^३। नाना योगिक क्रियाओं से बिन्दु को ऊर्ध्वगमन करने का विधान है। उर्ध्व रेता के प्राण और मन अचंचल हो जाते हैं तथा कुण्डलिनी-शक्ति उद्बुद्ध होकर ऊर्ध्वगमिनी होती है। यह 'कालाग्निरुद्रीकरण' योग मार्ग की एक महत्त्वपूर्ण साधना थी। कालाग्निरुद्र-नामक एक उपनिषद् भी है परन्तु इससे उपर्युक्त 'कालाग्निरुद्र' का कोई सम्बन्ध नहीं मालूम होता। केवल इससे इतना ही जाना जाता है कि कालाग्निरुद्र कोई देवता हैं; इनसे सनत्कुमार ने प्रश्न किया था कि भस्म धारण का तत्त्व क्या है? ऐसा जान पड़ता है कि जिस प्रकार बिन्दु के अधः पतन के देवता विषहर, नंदिनीवृत्ति के देवता काम और स्थिरीभाव के देवता निरञ्जन हैं^४ उसी प्रकार ऊर्ध्वगमन के देवता कालाग्निरुद्र हैं। संभवतः वज्रयानियों के कालाग्नि ही नाथ-सिद्धों के विषहर हैं। जो हो, बिन्दु के ऊर्ध्वगमन से अमरत्व प्राप्ति हठयोग की एक महत्त्वपूर्ण साधना है। इसी का एक रूप है स्त्री के रज को आकर्षण करके बिन्दु के साथ मिलाकर उसका ऊर्ध्वपतन। यह बज्रौलिका मुद्रा कही जाती है।

इसी साधना का भौतिक रूप में भी विकास हुआ है। पारा शिव का वीर्य है

१. स. भ. स्ट. : छठा भाग, १६२७

२. कृष्णपाद के दोहा कोष के चौदहवें दोहे में 'कालाग्नि' शब्द आता है। उसकी संस्कृत टीका (मे ख ला) में कहा है कि 'कालाग्निरुद्रव्यवस्था', नो. गा. द'. पृ० १२८।

३. ऊर्ध्व स्वभावो यः पश्ये स स्यात् कालाग्निरुद्रकः—(सि. सि. सं. ३। ५)

४. अ म रौ ध शा स नः पृ० ८

और अभ्रक पार्वती का रजः १। इन दोनों के मिश्रण को यंत्र विशेष से ऊर्ध्व पातित करने से शरीर को अमर बनाने बाजा रस तैयार होता है २।

किसी प्राचीन ग्रंथ से एक श्लोक उद्धृत कर के सवन्दर्शन संप्रह में बताया गया है कि चूँकि पारद (पारा) संसार सागर को पार कर देता है इसीलिए यह 'पारद' कहा जाता है। संदेह हो सकता है कि मुक्ति तो देह त्याग के बाद होती है, देह को अजर-अमर बना देने बाजा रसायन कैसे मुक्ति दे सकता है? उत्तर में कहा गया है कि वस्तुतः यह शंका वही लोग करते हैं जो यह नहीं जानते कि पारद और अभ्रक कोई मामूली वस्तु नहीं है वे हर और गौरी के शरीर के रस हैं, इनको शुद्ध, प्रयोग से मनुष्य शरीर त्याग किये बिना ही दिव्य देह पा कर मुक्त हो जाता है और समस्त मंत्रसमूह उसके दास बन जाते हैं ३ अभ्रक और पारद के मिश्रण से जो रस उत्पन्न होता है वह मृत्यु और दरिद्रता का नाश करता है। रसेश्वर सिद्धान्त में राजा सोमेश्वर, गोविन्द भगवत्पादाचार्य गोविन्दनाथक, चर्वटि, कपिल, व्यालि, कापालि, कन्दलायन तथा अन्य अनेक ऐतिहासिक पुरुषों का इस रस-सिद्धि से जीवन्मुक्त सिद्ध होना बताया गया है ४।

इस रसेश्वर मत का इष्टयोग से घनिष्ठ संबंध है। परमेश्वर (शिव) ने एक बार देवी से कहा था कि कर्मयोग से पिण्ड धारण किया जा सकता है। यह कर्मयोग दो प्रकार का होता है (१) रसमूक्त और (२) वायु या प्राण-मूक्त। रस और वायु दोनों में ही यह विशेषता है कि मूर्छित होने पर वे व्याधिको दूर करते हैं, मृत होने पर जीवन देते हैं और बद्ध होने पर आकाश में उड़ने योग्य बना देते हैं ५। रस पारद का नाम है, क्योंकि वह साक्षात् शिव के शरीर का रस है—मम देहसो यस्मान् रसस्तेनायमुच्यते।

रसग्रंथों में इसके स्वेदन, मूर्छन, पातन, निरोधन, मारण आदि की विधियाँ बिस्तार पूर्वक बताई गई हैं। आज भी भारतीय चिकित्सा शास्त्र में रस का प्रचुर प्रयोग होता है।

१. अभ्रकस्तवबीजं तु मम बीजं तु पारदः ।

अनयोर्मिलनं देवि मृत्युदोऽद्वयनाशनम् ॥

स. द. गं. पृ. २२४

२. पारद की तीन दशा कही गई है—मूर्छित, मृत और बद्ध। ये ही प्राण की भी दशाएँ हैं। रसिद्धों ने कहा है कि ये दोनों ही मूर्छित हो कर व्याधि हरते हैं, मृत होकर जिला देते हैं और बद्धशरीर अमर कर देते हैं—मूर्छितो हरति व्याधीन् मृतो जीवयति स्वयम् । बद्धश्चा-मरतां नेति रसो वायुश्च भैरवि । १

३. ये चात्यक्तशरीरा हरगौरीसुष्ठुज्जा तनु प्राप्ताः ।

मुक्तास्ते रससिद्धा मंत्रगणः किकरो येषाम् ॥ रसहृदय १।७

४. स० द० स० पृ० २०४

५. कर्मयोगेण देवेशि प्राप्यते पिण्ड धारणम् ।

रसश्च यवनश्चेति कर्मयोगो द्विधास्मृतः ॥

मूर्छितो हरति व्याधीन् मृतो जीवयति स्वयम् ।

बद्धः खेवरतां कुर्यात् रसो वायुश्च भैरवि ॥

स० द० स०, पृ० २०४

अमर बना देने वाला रसायन तो शायद किसी को नहीं मालूम पर पारद की प्रमोष शक्ति का आविष्कार करके इन सिद्धों ने भारतीय चिकित्सा शास्त्र को अपूर्व रूप में समृद्ध किया है। रसायन-चिकित्सा भारतीय आयुर्वेद की अपनी विशेषता है और संसार की चिकित्सा-पद्धति में बेजोड़ वस्तु है। सुप्रसिद्ध विद्वान और चिकित्सक महामहोपाध्या श्री गणनाथ सेन ने लिखा है : आयुर्वेद के रसायन तंत्र के आविष्कारक हैं रसवैद्य या सिद्ध सम्प्रदाय। "ये लोग कई सौ वर्ष पहले पारदादि धातु घटित चिकित्सा का विशेष प्रवर्तन किया था। आर्यकाल में लोहा और सिंजाजीत प्रभृति धातुओं का थोड़ा बहुत व्यवहार था जरूर, परन्तु पारदादि का आभ्यन्तर प्रयोग प्रायः नहीं था। रसवैद्य सम्प्रदाय ने पहले पहल पारद के सर्व रोग-निवारक गुण का आविष्कार किया। इस सम्प्रदाय का गौरव एक दिन इतने ऊँचे उठा था कि एकमात्र पारद से चतुर्वर्ग कल लाभ होता है, इस प्रकार का एक दार्शनिक मत उद्भूत हुआ था जो 'संश्वर दर्शन' नाम से प्रसिद्ध है। माधवाचार्य ने स वे द शे न स ग्रं ह में इसका उल्लेख किया है। आजकल प्रचलित आयुर्वेद में इस मंत्र का इतना जबरदस्त प्रभाव है कि आज के आयुर्वेद शास्त्र को ऋषियुग का आयुर्वेद नहीं कह सकते। ... कहा जाता है कि इस रस सम्प्रदाय का मत आदिनाथ महादेव का उरदिष्ट है और आदिनाथ, चंद्रसेन, नित्यानन्द, गोरक्षनाथ, कपालि, भालुकि, माण्डव्य आदि योगियों ने योगबल से इसकी स्थापना की थी।" "

अनेक नाथ पंथी सिद्धों के लिखे हुए रसग्रंथ आज भी वैद्यों में प्रचलित हैं। सिद्धनागार्जुन के नागार्जुन तंत्र और रसरत्नाकर (अमुद्रित), नित्यानथ का रसरत्नाकर (रसखंड और सेन्द्रखंड कलकत्ते से तथा इन दोनों सहित रसायनखंड अर्थात् संपूर्ण ग्रंथ आयुर्वेद ग्रंथमाला, बंबई से मुद्रित) और रसरत्नमाला (अमुद्रित), शक्तिनाथ की रसमंजरी, काकचण्डेश्वर का कहा जाने वाला काकचण्डेश्वरी मततंत्र और मंधान भैरव का रसरत्न आयुर्वेद शास्त्र के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ माने जाते हैं। चर्पटनाथ के रससिद्ध होने की बात पहले ही कही जा चुकी है।

गोरक्षनाथ भी रसायनविद्या के आविष्कारक माने जाते हैं परन्तु उनके नाम से प्रचलित कोई इस विषय का ग्रंथ नहीं मिला। प्राणसंकली नामक जो छोटी सी पुस्तिका गोरखबानी में छपी है उसमें केवल शरीर संस्थान का वर्णन है। प्राणसंकली शब्द का अर्थ है प्राणों का कवच। इस पर से अनुमान किया जा सकता है कि इसमें शरीर रक्षा विषयक सिद्धियों का वर्णन होगा। श्री सन्त संपूरन सिंह जी ने तरनतारन से एक प्राणसंगी ग्रंथ प्रकाशित किया है।

यह गुरु नानकदेव का कहा गया है परन्तु पंजाबी के सुप्रसिद्ध विद्वान् कवि चूड़ामणि

१. आयुर्वेद परिचय, (विश्व विद्या संग्रह, शान्तिनिकेतन, १३५० बंगाल) पृ० १२-१३

२. रघुदेवनाथ के शिष्य चौरंगीनाथ-लिखित बताई जाने वाली एक और प्राणसंकली नामक पुस्तक पट्टी के जैन मन्दिर में सुरक्षित है।

भाई सन्तोष सिंह जी ने इस बात को अस्वीकार किया है। उन्होंने श्री गुरु प्रताप सूरज ग्रंथ में लिखा है कि प्राण संगती की सबसे पुरानी प्रति पुरातन जनम साखी में मिलती है जो षष्ठ गुरु के समय की लिखी हुई मालूम पड़ती है। (इसमें प्राण संगती इस प्रकार शुरू होती है :—

उनमन सुन्न सुन्न सम करीए।

उनमन हरख सोग नहीं रहीए।

इसमें २२ पौड़ियाँ (छंद विशेष) हैं। परन्तु जो लिखी हुई प्रतियाँ देखने में मिली हैं उनमें १३ अध्याय हैं। यथा—(१) सुन्न महल की कथा (२) परम तत्व (३) प्राण पिण्ड (४) हाटका (५) नौ नाड़ी (६) पंच तत्व (७) योग मार्ग (८) काल वाच नियोग (९) आसा-योग-वैराग (१०) ओनम सुन्न (११) नियोग भक्ति (१२) गुरु स्तुति (१३) सच खंड की युक्ति। (१४) श्री संत संपूर्ण सिंह जी की टीका सहित हिन्दी में छपी हुई प्राण संगती के इकोस अध्याय हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) ओम्कार सब का मूल, (२) नौ नाड़ी, (३) पञ्च तत्व (४) सुन्न महल (५) परम तत्व (६) अ प्रवान पिण्ड, आ. सिद्ध गोष्ट (७) योग मार्ग (८) रंग-मात्मा-योग-निधि (९) हाटका (१०) निर्वाण (११) उदास-वर्म योग वैराग (१२) योग वैराग-सचखंड की जुगत (१३) गोष्ट रामानन्द (१४) शून और उत्पत्ति (१५) सतगुरु स्तुति (१६) काल-वाच-नियोग-भक्ति (१७) कला-बतीबानी (१८) नियोग भक्ति (१९) छोटी रत्नमाला (२०) बड़ी रत्नमाला (२१) जीव की नसीहत के योग्य उपदेश।

प्राण संगती श्री गुरु नानक जी ने शिवनाम के निमित्त दी थी, ऐसा कहा जाता है। क्या यह वही है? कहना कठिन है, क्योंकि उसे गुरु जी ने जल में विसर्जन कर दिया था। संभव है पीछे इसका उद्धार किया गया हो लेकिन श्री गुरु ग्रंथ साहिब में इसका उल्लेख न होना यही प्रमाणित करता है कि यह ग्रंथ गुरुवाणी का दर्जा नहीं रखता। बागीकी के साथ देखने से और दोनों की तर्ज का मिश्रण करने से यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है; प्राण संगती उदासी संतों की रचनाओं के अधिक नजदीक पड़ती है। ग्रंथ साहिब में उसका समावेश न होने से हो यह सिद्ध होता है कि गुरु अर्जुन देव जी ने इसे नानक जी की वाणी नहीं समझा, नहीं तो उनके द्वारा इसकी चेता अवश्यवाथी। जान पड़ता है प्रचलित घटिया बानियों से गुरुवानी का प्रभेद स्पष्ट रखने के उद्देश्य से ही अर्जुन देव जी ग्रंथ साहिब के संकलन कार्य में प्रवृत्त हुए संभव है प्राण संगती को देख कर ही उन्हें ऐसा करने का विचार सुझा हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राण संगती योग और रसायन का ग्रंथ है। इनमें सिद्ध चरपटनाथ और गुरुनानक से बातचीत के रूप में विविध रसायनों का उल्लेख है। बहुत संभव है गुरु गोरचरनाथ की प्राण संगती कोई बड़ी पुस्तक थी, यह ग्रंथ उसी के अनुकरण पर लिखा गया हो।

इस प्रकार गोरक्ष संप्रदाय में रसेश्वर मत भी अन्तर्भुक्त हुआ है। संभवतः सिद्धों का यह सबसे महत्वपूर्ण शान है।

(७) वैष्णव योग

गोरक्षनाथ के संप्रदायों में कपिलानी या कपिलायनशाखा वैष्णव योग की पुरानी परम्परा पर आश्रित होने से वैष्णव योग कही जा सकती है। कपिलमुनि विष्णु के अवतार थे। दसवीं शताब्दी में कपिलायनयोग किस रूप में वर्तमान था, इसका आभास भागवतपुराण से मिल सकता है। कपिल भगवान ने अपनी माता देवहूति को इस योग का उपदेश दिया था। भागवत के तृतीयस्कंध के छन्दोसर्वे अध्याय से लेकर कई अध्यायों तक इसका विस्तृत वर्णन है। छन्दोसर्वे अध्याय में सांख्य शास्त्र के तत्त्ववाद का वर्णन है, फिर सत्ताईसवें अध्याय से योग का वर्णन है। संक्षेप में भागवत में उपदिष्ट मत का सारांश यह है:

“परम पुरुष परमात्मा निर्गुण है; सुतरां अकर्ता और अविकार है। सूर्य जल में प्रतिबिम्बित होने पर भी वास्तव में जल का धर्म जो चंचलता व हिलना है, उसमें लिप्त नहीं होता। वैसे ही यह पुरुष देह में स्थित होने पर भी प्रकृति (माया) के गुणों से उत्पन्न जो सुख दुःख आदि हैं उनमें लिप्त नहीं होता।

हे मातः ! बही एक निर्गुण आत्मा प्रकृति आदि चौबीस गुणसमूह (सत्त्वगुण युक्त मन आदि, रजोगुण युक्त इन्द्रियादि, तमोगुण युक्त पंचभूतादि, द्वारा सज्जित होकर अहंकार मय होता है। उसी अहंकार में मूढ़ होकर अपने को ही प्रकृति कार्यों का कर्ता मानता है। अतएव अवारा होकर प्रासङ्गिक कर्म के दोष से सत् (देव) अपत् (तिर्यक्) मिश्र (मनुष्य) योगियों में उत्पन्न होकर ससार पदवी को प्राप्त होता है। अर्थात् जन्म मरण के दुःख से पीड़ित होता है (२७. १-३.)।

यम आदि योग मार्गों का अभ्यास करता हुआ श्रद्धापूर्वक मुझमें मत्त भक्ति भाव करे, मेरी कथाओं का श्रवण करे, सब प्राणिनों को एक दृष्टि से देखे किसी से बैर न करे असत्संग न करे, ब्रह्मचर्य और मौन (प्रयोजन भर बोलना) रहे, धर्म करे और उसे ईश्वरार्पण कर दे।

जो मिल जाय उसी में सन्तुष्ट रहे, उतना ही भोजन करे जिससे शरीर स्वस्थ रहे, मुनिव्रत का अवलम्बन करे, एकान्त में रहे, शांत स्वभाव धारण करे, सबसे मित्रभाव रखे, दया और धैर्य धारण करे। प्रकृति और पुरुषका तत्त्व दिखाने वाले ज्ञान का ग्रहण कर इस देह अथवा इसके संगी स्त्री पुत्रादि 'मेरे हैं—मेरा है' इस असत् प्राप्ति को त्याग दे। बुद्धि के जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन अवस्थाओं को निवृत्त करके तुरीय अवस्था में स्थित हो। सबमें अपने को, और अपने में सब को देखे, तब वह आत्मदर्शी पुरुष आत्मा से परमात्मा को प्राप्त होता है। जैसे चलुस्थित (चलुके अधिष्ठाता) सूर्य (वा तेज) द्वारा सूर्य का दर्शन होता है (अर्थात् चलुस्थित सूर्य द्वारा आकाशस्थित सूर्य की प्राप्ति होती है वैसे ही पूर्वोक्त नियम के पालन से अहंकार युक्त आत्माद्वारा शुद्ध आत्मा—अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति होती है) इस अवस्था को प्राप्त पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होता है। वह ब्रह्म निरूपाधि अर्थात्

बिह्व रहित है तथा असत् अहंकार में सत् रूप से भासित होता है। वह ब्रह्म सत् अर्थात् प्रधान का अधिष्ठान है, और असत् जो माया का कार्य है, उसके नेत्र के सदृश प्रकशक है। कारण और कार्य दोनों में आधार रूप से अनुस्यूत है एवं अद्वय अर्थात् परिपूर्ण है। (भा ग व त २७ . ६-११)

संसारी जीव के देह में सर्वत्र ही ब्रह्म विराजमान है। उस ब्रह्म के तीन आवरण हैं। एक आवरण देह, इन्द्रिय और मन आदि हैं। दूसरा आवरण अहंकार है। इन्द्रियमय देह में आत्मा का तेज जितना है उसको अपेक्षा अहंकार वा चैतन्यमय देह में अधिक है। तृतीय आवरण प्रकृति है। आत्मा की प्रभा देखना हो तो वह आत्मा प्रकृति में आवृण्वमान रूप से देख पड़ता है। अर्थात् प्रथम (आत्मगत) आत्म बिम्ब को देख दिग्गत जानना होगा फिर आत्मसत्ता को अहंकारगत बोध करना होगा, फिर वह दर्शक स्वभावगत प्रकृति से व्याप्त आत्मा का दर्शन कर सकने पर शुद्धब्रह्म के देखने में समर्थ होगा। इसी सुपुति अवस्था में सूक्ष्मपंचभूत, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, इत्यादि तन्त्रा व निद्रा द्वारा असत्तुल्य अव्याकृत प्रकृति में लीन, अर्थात् जड़ता को प्राप्त होने पर यह आत्मा बिनिद्र अर्थात् ज्ञानरहित वा जड़तारहित एवं अहंकारहीन होकर अपने स्वरूप अर्थात् सच्चिदानन्द ब्रह्म को प्राप्त होता है। उस समय यह आत्मा साक्षीरूप से अवस्थित होकर अपनी उपाधि (अहंकार) के नष्ट होने पर स्वयं नष्ट न होने पर भी अपने को नष्ट जानता है। जैसे धन के नष्ट होने पर आपही मानों नष्ट हो गये, इस प्रकार आतुर होते प्रायः लोग ऐसा पड़ते हैं। (भा ग व त २७ . १२ - १५) अपने धर्म का भक्तिपूर्वक यथाशक्ति आचरण, विरुद्ध वा निषिद्ध धर्म (अधर्म) निवृत्त होना, जो प्रारब्ध वा दैव वशात् प्रप्त हो उसमें संतोष, आत्मतत्त्व के जानने वाले ज्ञानियों के चरणों की सेवा-पूजा। ग्राम्य अर्थात् धर्म, अर्थ, काम इस त्रैवर्गिक धर्म से निवृत्त मोक्षदायक धर्म में रति, शुद्ध एवं मित (जितने में योगाभ्यास करने में कोई विलेप न हो उतना ही) भोजन करना : वाचा रहित निर्जन स्थान में रहना : हिंसा (शारीरिक, वाचिक, मानसिक हिंसा, अर्थात् दूसरे को मार वाणी और काया से पीड़ित करना) न करना, सत्य बोलना, अन्याय पूर्वक पर धन न ग्रहण करना, जितनी वस्तु की आवश्यकता है उतनी वस्तु का संग्रह रखना। ब्रह्मचर्य रहना, और तप, शौच (बाह्य व अन्तरिक), स्वाध्याय (वेदपाठ), परमपुरुष का पूजन करना। मोन (प्रयोजन से अधिक न बोलना) रहना, आमन जोनकर स्थिर भाव से स्थित होना, फिर धीरे धीरे क्रम से प्राण वायु को जीतना, इन्द्रियों को मनद्वारा विषयों से हटाकर अन्तःकरण में लीन करना। मूलाधार आदि प्राण के स्थानों में किसी एक स्थान में मन सहित प्राण को स्थित करना, भगवान की लीलाओं का मन में ध्यान करना, एवं मन को समाधि (एकाग्रता) में लगाना। इन सम्पूर्ण एवं इनके अतिरिक्त अन्य व्रत आदि उपायों से असत् (विषय) मार्ग में लगे हुये दुष्ट मन को क्रमशः बुद्धि द्वारा योग-साधन में लगाना चाहिये, एवं आज्ञस्य त्याग कर प्राणवायु को जीतना चाहिये।

(यम, नियम और आसन, इन तीन योग के अंगों को क्रमशः कहकर अब प्राणायाम आदि अंग कहते हैं) तदनंतर किसी पवित्र-स्थल में आसनजित् व्यक्ति आसन बिछावे। उस आसन पर स्वस्तिकासन से अथवा जिस आसन से सुखपूर्वक बैठ सके उस आसन से बैठकर शरीर को सीधा करके प्राणायाम का अभ्यास करे। पहले पूरक (बाहर के वायु को भीतर भरना) कुम्भक (उस वायु को भीतर रोकना) रेचक (उस वायु को बाहर निकाल देना) इस तीन प्रकार के प्राणायाम से अनुलोम वा प्रतिलोम क्रम से चित्त को ऐसा शुद्ध करे, जिससे वह अपने चंचलता दोष को त्यागकर एकदम शान्त हो जाय। जैसे वायु और अग्नि के ठाव से सोना अपने मूल को त्याग देता है, वैसे ही बारंबार प्राणायाम द्वारा श्वासजय करने से योगी का भी मन शीघ्र ही निर्मल हो जाता है। इसके अनंतर समाधि के द्वारा स्वरूप प्राणायामादि जो चार कार्य मनुष्य को करना चाहिये उन्हें कहते हैं,—प्रथम प्राणायाम द्वारा कफ, पित्त आदि शरीर के दोषों को दूर करे, फिर धारणा (वायु के साथ मन को स्थिर करना) से क्लिबध अर्थात् पातक को नष्ट करे, फिर प्रत्याहार (सबसे हटाकर चित्त को ईश्वर में लगाना) से संसर्ग अर्थात् विषय वासना को नष्ट करे, एवं ध्यान से राग द्वेष आदि का त्याग करे। इन सातों अंगों के पश्चात् अन्तिम आठवाँ अंग समाधि (स्थिर मन की अपर और प्रवृत्त होने की निवृत्ति) है। इस प्रकार जब मन भलोभाँति निर्मल और योग द्वारा एकाम्र हो तब नासिका के अग्रभाग में दृष्टि-स्थिर रख कर भगवान् की इस प्रकार की सुन्दर मूर्ति का ध्यान करे। (भा. ग. ब. त. २७.१—१२)

मातः ! इस भाँति ध्यान की आसक्ति से योगी को हरि में प्रेम होता है, भक्ति से हृदय परिपूर्ण होकर द्रवित हो जाता है। आनन्द के मारे रोम खड़े हो जाते हैं। दर्शन की उत्कंठा के कारण नेत्रों में आनन्द के आँसू भर आते हैं। इस प्रकार मन वाणी से न ग्रहण करने योग्य निराकार हरि के ग्रहण करने को बंशी सदृश उपायस्वरूप उस साधक का चित्त क्रमशः ध्येय पदार्थ (अर्थात् उस कल्पित हरि के रूप) से वियुक्त हो जाता है, अर्थात् सम्पूर्ण विषयों से अतीत हो जाता है। (भा. ग. ब. त. २७-३४)

जननि ! इस संसार में प्राणी जैसे घन और पुत्र को अति स्नेहवश अपना मानकर भी अपने से विभिन्न जानता है, वैसे आत्मज्ञानोन्मत्त शरीरादि को आत्मा से अलग देखते हैं। जैसे काष्ठ की उन्नत अवस्था धूम, अग्नि, शिखा, ये तीनों ही अग्नि से उत्पन्न जान पड़ते हैं, पर अग्नि काष्ठ से और इन अवस्थाओं से भी अलग है। उसी प्रकार साक्षी आत्मा भी अग्नि के सदृश पंचतत्त्व इन्द्रिय, अन्तःकरण और जीव से अलग है। जीवात्मा से ब्रह्मत्मा वा परमात्मा पृथक् है। इसी भाँति प्रधान (माया स्वरूपतत्त्व समूह) से उनका प्रवर्त्तक साक्षी परमात्मा अलग है। (वही २७-३८—४०)।”

यही कपिल मुनि के उपदिष्ट योग का सारांश है। यह सांख्य-तत्त्ववाद पर आश्रित पातंजल योग का प्राणायाम प्रधान रूप है। प्राणायाम की महिमा इस योग में उसी प्रकार प्रतिष्ठित है जिस प्रकार हठयोग में। केवल इसमें भक्ति का मिश्रण है।

इस प्रकार के योग मार्ग का कापिलायत संप्रदाय गोरक्षनाथ के झंडे के नीचे आ खड़ा हुआ। निश्चय ही यह गोरक्षनाथ से पूर्ववर्ती है। इस प्रकार वैष्णव योग की साधना भी इस मार्ग में मन्तर्भूत हुई है।

(८) शाक्त उपादान और अन्य संप्रदायों के अवशेष

योगियों में शाक्त उपासना पूरी मात्रा में है। प्रायः सभी पीठों में शक्ति की उपासना की जाती है और उसमें मंत्र, वोज, यत्र कवच, न्यास और मुद्राओं का उसी प्रकार प्रयोग होता है जिस प्रकार तांत्रिक साधना में। हिंलाज और ज्वालामुखी की देवियाँ योगियों की परम उपास्या हैं। काशी आदि तीर्थों में भैरव के मन्दिर हैं और उनकी उपासना तांत्रिक विधियों से होती है। यद्यपि गोरक्षनाथ ने कहीं भी मदिरा के सेवन का विधान नहीं किया तथापि 'भैरों का प्याला' योगियों में नितान्त अपरिचित वस्तु नहीं है। परन्तु जो लोग मांस मदिरा की उपासना करते हैं उन्हें वृहत्तर योगिसमाज हीन हो समझता है। श्रीचंद्रनाथ योगी ने बड़े खेद के साथ योगि समाज को इन कुप-वृत्तियों का उल्लेख किया है। उन्होंने श्री नाथ जो को संबोधन करते हुआ लिखा है कि 'खेद है कि आपकी सन्तति आधुनिक योगिसमाज में अशिक्षा से मनुष्य प्रविष्ट हो गए हैं जिन्होंने अपने नेत्रों के ऊपर पट्टी बांध ली है... और अभद्रास्वादन में लोलुप हुए उसके ग्रहणार्थ इस्त प्रसृत कर आपकी आज्ञा को उपेक्षित करते हैं। बल्कि यही नहीं कि वे नाच से नीच शब्दवाच्य पुरुष स्वयं ही ऐसा करते हैं, प्रत्युत अपनी चाटूक्तियों से अबरुद्ध हुए भोले भाले सेवकों को भी उन अभद्र पदार्थों के ग्रहणार्थ विवश करते हैं और उनको भयानक वाक्य सुनाते हैं कि "वाह यह तो भैरू का वा देवी का खाजा है, इसको स्वीकार न करोगे तो भैरू वा देवी तुम्हारे ऊपर प्रसन्न नहीं होंगे और तुम्हारा अनुष्ठान निष्फल जायगा। अबो अविद्ये... जिस योगी नामधारी के ऊपर तेरी छाया पड़ती है वह चाहे पृथ्वी उलट पुलट हो जाय पर, जिसके मुख पर भैरू का प्याला मुशो-भित नहीं हुआ वह सच्चा योगी नहीं है—यह कहता हुआ कुछ भी भागा पीछा नहीं देखता।'"^१ उन्होंने ही आगे चल कर लिखा है—"यम-नियम आदि आठ साधनों से शुन्य रहते हुए योगियों के ऐसे कृत्य हैं कि बलि, जंत्र मंत्र से देवी, भैरव आदि को प्रसन्न कर उच्च टन मारण आदि क्रियाओं को प्राप्त करना, ध्यान लगाने की सुगमता के हेतु मादक चीजों का सेवन करना, क्रिया करते करते शरीर दुर्बल होने पर सबल बनाने के भ्रम से मांसादि अग्रह्य वस्तु का ग्रहण करना। आज कल बाज सुन्दरी आदि की उपासना में समय नष्ट करते हुए योगी अपने आपको कृत-कृत्य समझ कर मनमानी चीज खाते तथा मनमाने वस्तु व्यवहार करते हैं।"^२

परन्तु कैसे कहा जाय कि 'कुलद्रव्य' का सेवन इस मार्ग में था ही नहीं। स्वयं आदिनाथ संहिता ही कहती है कि जो कौजिर्षों की, कुलमार्ग की, कुलद्रव्य की और कुलपाना की निन्दा करता है, उससे द्वेष रखता है, उपहास करता है, असूया करता

है, शंका करता है, मिथ्या कहता है, वह पुत्र पत्नी समेत शाकिनी-मुख में पतित होता है। उसका रक्त, उसका मांस और उसकी त्वचा चामुण्डा का आहार होता है। योगिनियाँ और भैरवियाँ उसकी हड्डी चबा जाती हैं^१। शाक्तों का कुलार्णव तंत्र स्पष्ट रूप से उस दिशा तक को नमस्कार करने योग्य घोषित करता है जिधर श्री नाथ का चरण कमल गया हो, क्योंकि पादुका से बड़ा कोई मंत्र नहीं है, श्री गुरु (नाथ) से बड़ा कोई देव नहीं है, शाक्त मार्ग से बढ़कर कोई मार्ग नहीं है और कुलपूजन से बढ़कर कोई पुण्य नहीं है।^२

सो, यह आचरण नया नहीं है, काफी पुराना है। ऐसे ही योगियों को तक्ष्य करके हठ योगप्रदीपिका में कहा गया है कि वही योगी कुलीन कहलाता है जो निर्य 'गोमांस' का भक्षण करता रहता है और ऊपर से 'अमर वारुणी' का पान करता रहता है ! और योगी तो कुलघातक हैं क्योंकि 'गो' का अर्थ जिह्वा है और उसे छलट कर तालु देश में ले जाने को ही 'गोमांस भक्षण' कहते हैं। निरसंख, यह महापातक को नाश करने वाला है। ब्रह्मरंध्र के पास, सहस्त्रार पद्म के मूल में जो योनि नामक त्रिकोणाकार शक्तिकेंद्र है, वहीं चंद्रमा का स्थान है, उसी से अमृत रस चुभा करता है, योगी की ऊर्ध्वांग जिह्वा उसी अमृत रस का पान करती है, वही अमर वारुणी है^३। इसमें जिन्हें कुलघातक कहा गया है वे ऐसे ही योगी रहे होंगे जो 'देवी का खाना' और 'भैरु का प्याला' संभाजे रहते होंगे।

१. कौलिकान् कुलमार्गं च कुलद्रव्यं कुलांगनाः ।

ये द्विषन्ति जुगुप्सन्ते निन्दन्ति च हसन्ति च ॥

ये सूयन्ते च शंक्नन्ते मिथ्येति प्रवदन्ति ये ।

ते शाकिनीमुखे, यान्ति सदास्सुतबोधवाः ॥

पिबन्ति शोषितं तस्य चामुण्डा मांसमुखचः ।

अस्थीनि चर्वयन्त्यस्य योगिन्यो भैरवीगणाः ॥

— गो . सि. सं., पृ० ४७ में उद्धृत

२. श्रीनाथचरणभोजं यस्यां दिशिविराजते ।

तस्यै दिशेनमस्कुर्वाद् भक्त्या प्रतिदिनं प्रिये ॥

न पादुकात् परो मंत्रो न देवः श्रीगुरोः परः ।

न हि शाक्तात् परो मार्गो न पुण्यं कुलपूजनात् ॥

— गो . सि. सं. (पृ० ४६) में उद्धृत

३. गोमांसं भक्ष्येन्नित्यं पिबेदमरवारुणी ।

कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ॥

'गो' शब्दे नोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।

गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥

जिह्वाप्रवेशसंभूतः वह्निनोत्पादितः खलु ।

अम्ब्रातृत्ववति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥

— इउ० ३. ४६-४८

वस्तुतः गोरक्षनाथ के नेतृत्व में ही वाममार्गी शक्त साधकों का एक दल जो काया-योग में विश्वास करता था, योगिसमाज के अन्तर्भूत हुआ था। उसकी अपनी क्रिया-पद्धति का अवशेष यह आचार है। कालक्रम से परम्परा के नष्ट होने से वह अपने विशुद्ध पार्ष्विक रूप में जीता रह गया है।

परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि गोरक्षनाथ के प्रवर्तित योग-मार्ग में शक्ति का स्थान एकदम नहीं था। उन दिनों शैव और शक्त साधनाएं परस्पर एक दूसरे से गुंथी हुई थीं। शिव और शक्ति का अभेद सिद्धान्ततः गोरक्षनाथ के मत में मान्य था। पिंगल में ब्रह्माण्ड व्यापिनी परासवित् ही कुण्डलिनी के रूप में स्थित है जिसका अद्वोधन हठयोग का प्रधान लक्ष्य है। वे विश्वास करते थे कि शिव के भीतर ही शक्ति का बास है और शक्ति के भीतर शिव का निवास है, दोनों एकमेक होकर अनुस्यूत हैं। पिंगल की साधना के मूल में यही शिव और शक्ति का अभेद रूपी सामरस्य है। हठयोग पिंगल पर आधारित है और पिंगल केवल परासवित् रूपा आदि शक्ति का निवास है। चंद्रमा और चंद्रिका में जिस प्रकार कोई अन्तर नहीं उसी प्रकार शिव-शक्ति अभिन्न हैं।^१ वस्तुतः जीवमात्र में वही सृष्टि-विधात्री परासवित् स्फुटित हो रही है, तत्त्व-उत्त्व में परम रचना-चतुरा बेही परासवित् प्रकाशित हो रही है, प्रास-प्रास में—प्रत्येक भोग्य पदार्थ में—बहुल चंचला लपटा वही परासवित् उद्भासित होकर विहार कर रही है, और प्रकाश के प्रत्येक तरंग में वही महामहिमा शक्तिनी देवी उच्छलित हो रही है—जगत वस्तुतः उसी का स्वरूप है:

सत्त्वे सत्त्वे सकलरचना संविदेका विभाति ।

तत्त्वे तत्त्वे परमरचना संविदेका विभाति ॥

प्रासे प्रासे बहुलतरला लम्पटा संविदेका ।

भासे भासे भजति भवता वृंहिता संविदेका ॥

—सि. सि. सं. ४।३९

इसने अनेक स्थलों पर पहले ही वज्रयान, योगिनीकौलमार्ग, तंत्रयान जैनमत आदि की चर्चा की है, इसलिये उनका बिस्तार करना यहां उचित नहीं समझा गया।

१. उक्तं च—

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्त्यभ्यन्तरे शिवः ।

अन्तरं नैन पश्यामि चंद्रचंद्रिकयोरिव ॥

नाना शक्तिस्वरूपे सर्वे पिण्डाश्चयत्नतः ।

पिण्डाधार इतीष्टास्या सिद्धान्त इति धीमताम् ॥

—सि. सि. म. ४-३७-३८

लोकभाषा में संप्रदाय के नैतिक उपदेश

संस्कृत में योगियों के जो भी ग्रंथ उपलब्ध हैं वे साधारण तौर पर साधनमार्ग के ही व्याख्यान-परक ग्रंथ हैं। उनसे योगियों के दार्शनिक और नैतिक उपदेशों का आभास बहुत कम मिलता है। हिंदी में गोरखनाथ के नाम से जो अनेक पद और सचदी आदि प्रचलित हैं उनमें भी साधनमार्ग की व्याख्या की गई है पर उनमें योगियों के धार्मिक विश्वास, दार्शनिक-मत और नैतिक स्वर का परिचय अधिक स्पष्ट भाषा में मिलता है। इस दृष्टि से इन हिंदी रचनाओं का विशेष महत्त्व है।

हिंदी की बहुत-सी रचनाएँ संवाद रूप में मिलती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि दो महात्माओं के संवाद के रूप में अपने दार्शनिक मत और धार्मिक विश्वास को प्रकट करने की यह पद्धति नाथपंथियों का अपना आविष्कार है। इस पद्धति ने परवर्ती सन्त साहित्य को खूब प्रभावित किया था और संवाद रूप में अनेक ऐसे ग्रंथ लिखे गए जिनका उद्देश्य संप्रदाय के विश्वास और मत का प्रचार है। मछींद्र गोरख बोध जिसे संक्षेप में गोरख बोध कहा जाता है ऐसा ही संवाद ग्रंथ है। इसमें गोरखनाथ के अनेक प्रश्नों का उत्तर मत्स्येन्द्रनाथ ने दिया है। यद्यपि यह ग्रंथ गोरखनाथ-लिखित माना जाता है तथापि इसे हम मत्स्येन्द्रनाथ के सिद्धान्त का व्याख्याता ग्रंथ ही कह सकते हैं। गोरखनाथ ने स्वयं इस प्रकार का कोई ग्रंथ लिखा होगा, ऐसा विश्वास न करना ही उचित है। यह बहुत बाद का ग्रंथ होगा। लेकिन इसमें आत्मा, मन, पवन, नाद, बिंदु, सुगति और निरति आदि के स्वरूप पर बहुत सुन्दर प्रकाश डाला गया है और इसे परवर्ती योगी-संप्रदाय का विश्वास-रूपांक ग्रंथ आसानी से माना जा सकता है। गोरखदत्त गुण्डित, गोरख गणेश गुण्डित, महादेव गोरख गुण्डित, नरवैबोध आदि रचनाएँ इसी श्रेणी की हैं। इन्हें बहुत प्राचीन और गोरखनाथ की स्वलिखित पुस्तक मानने का आग्रह नहीं होना चाहिए। परन्तु इन ग्रंथों का महत्त्व अवश्य ही बहुत अधिक है। यह आवश्यक नहीं कि इन में जो विचार प्रकट किए गए हैं वे भी नये हों। हो सकता है कि ये परंपरा जन्म पुरातनज्ञान का ही नया रूप हों। रचना नई होने से ज्ञान नया नहीं हो जाता।

गोरखनाथ के नाम पर जो पद मिले हैं वे कितने पुराने हैं, यह कहना कठिन है। इन पदों में से कई दादूदयाल के नाम पर, कई कथोर के नाम पर और कई नानकदेव के नाम पर पार गए हैं। कुछ पद लोकोक्ति का स्वर धारण कर गए हैं, कुछ ने जोगियों का रूप लिया है और कुछ लोक में अनुभव सिद्ध ज्ञान के रूप में चल पड़े हैं। इन पदों में यद्यपि योगियों के लिये ही उपदेश हैं, अतएव इनमें भी उसी प्रकार की साधना मूलक बातें पाई जाती हैं जो इस प्रकार की सभी रचनाओं का मुख्य प्रतिपादन है पर बहुत से पद ऐसे हैं जिन से लेखक के नैतिक विश्वास का पता चलता है।

जिस ज्ञान का उपदेश इस प्रकार [के साहित्य में दिया गया है उसके लिए गुरु का होना परम आवश्यक माना गया है, इस मार्ग में निगुरे की गति नहीं है—

गुरु कीजै गहिजा निगुरा न रहिला ।

गुरु बिन ग्यान न पाईला रे भाईला ॥

—गो र ख बा नी, पृ० १२८

गुरु और शिष्य में अन्तर इतना ही है कि गुरु के पास अधिक तत्त्व होता है और चेजे के पास कम; अधिक तत्त्व वाले से कम तत्त्व वाले को सदा ज्ञान ग्रहण करना चाहिए। इस ज्ञान को पा लेने के बाद शिष्य के लिये यह आवश्यक नहीं कि गुरु के पीछे पीछे भटकता ही फिरे। मन में जचे तो साथ रह सकता है, न जचे तो अकेला ही रह सकता है—

(अधिक तत्त्व ते गुरु बोलिये हीण तत्त्व ते चेला ।
मन मॉनै तो संगि रमौ नहीं तो रमौ अकेला ॥)

—गो० बा०, पृ० ५५

योगी के लिये मन की शुद्धता और दृढ़ता आवश्यक है। उसे रातदिन चलते रहने की और नाना तीर्थों में भटकते फिरने की एकदम जरूरत नहीं है। क्योंकि पंथ चलने से पवन की साधना रुक जाती है और नाद, बिंदु और वायु की साधना शिथिल हो जाती है। फिर जिसका विश्वास है कि संपूर्ण तीर्थ घट के भीतर ही है वह भला कहाँ भ्रमता फिरेगा ?—

पंथि चलै चलि पवनां तूटै नाद बिंद अरु बाई ।

घट ही भीतरि अठसठ तीर्थ कहाँ भ्रमै रे भाई ॥

—गो. बा., पृ० ५५

मन यदि चंगा है तो कठौती में गंगा है। बंधन को भगर दूर कर दिया गया तो सप्रस्त जगत् का गुरुपद बनायास मिल जाता है—

अवधू भन चंगा तो कठौती ही गंगा ।

बांध्या मेल्हा तो जगत्र चेला ॥

—वही, पृ० ५३

हंसना खेलना कोई निषिद्ध कार्य नहीं है। मूल बात है चित्त की दृढ़ता। मनुष्य को इस मूल तथ्य को नहीं भूलना चाहिये। फिर तो हंसने-खेलने में कोई बुराई नहीं है। काम और क्रोध में मन न आसक्त हो, चित्त की शिथिलता उसे बढ़कने न दे तो हंसने-खेलने और गाने-बजाने वाले आदमी से नाथ जी प्रसन्न ही होते हैं—

हसिब । पेलिबा रहिबा रंग । काम क्रोध न करिबा संग ।

हसिबा पेलिबा गाइबा गीत । दिढ़ करि रापि आपना चीत

हसिबा पेलिबा धरिबा ध्यान । अहनिनि कथिबा ब्रह्म गियान ॥

इसै पैलै न करै मन भंग । ते निहचल सदा नाथ के संग

—वही पृ० ३-४

योगी को वाद-विवाद के बखेड़े में नहीं पड़ना चाहिये। जिस प्रकार अड़सठ तीर्थ अन्त तक समुद्र में ही लीन हो जाते हैं उसी प्रकार योगी को गुरु मुख की बाणी में ही जीर्ण हो जाना चाहिये।

कोई वादी कोई विवादी जोगी कौ वाद न करना।

अठसठ तीरथ समंदि समावैं यूं जोगी कों गुरुमुषि जरना।

—वही पृ० ५

योगी जलद्वाजी करके सिद्धि नहीं पा सकता। उसे सोच समझ कर बोलना चाहिए, फूंक फूंक कर चक्ष्मना चाहिये, धोर भाव से एक एक पग धरना चाहिए। गर्व करना उसके लिये बहुत बुरी बात है। उसका व्यवहार सहज होना चाहिए। यह नहीं कि जहाँ-तहाँ फटफटा कर बोल उठे, धड़ धड़ाकर चला जाय और उचकता कूदता निकल जाय। धैर्य उसकी सब से बड़ी साधना, है।

हबकि न बोलिवा ठवकि न चलिवा

धीरै धरिवा पाव।

गरव न करिवा सहज रहिवा

भणत गोरष राव।

—वही पृ० ११

योगी बड़ी बिकट साधना करता है। उसका मन यदि थोड़ा भी प्रलोभनों से अभिभूत हुआ तो उसका पतन निश्चित है। इसीलिये वह समस्त विकारों के जीतने की साधना करता है। धोर वह है जिसका चित्त विकारों के होते हुए भी विकृत न हो। कालिदास ने कहा था कि “विकार हेतौ सतिविक्रियन्ते येषां चेतानि त एव भीराः” और गोरषनाथ ने कहा है कि

नौ लष पातरि आगे नाचै पीछें सहज अगाड़।

ऐसे मन लै जोगी पेलै तब अन्तरि वसै भंडारा॥

—वही पृ० २१७

विकारों के भीतर से निर्विकार तत्त्व का साक्षात्कार पालेना निस्संदेह कठिन साधना है। योगी यही करता है। अंजन अर्थात् विकारों के भीतर निरंजन अर्थात् विकारहीन शिव को उसी प्रकार पालेगा जितन प्रकार तिल में से कोई तेल निकाल लेता है, योगी का लक्ष्य है। मूर्त जगत के भीतर अमूर्त परम तत्त्व का स्पर्श पाने के परचात् ही योगी की वह निरन्तर क्रोड़ा शुरू होती है जो चरम आनन्द है। गोरषनाथ ने कहा है—

अंजन माँहि निरंजन भेट्या,

तिल मुष भेट्या तेल।

पूरति माँहि अपूरति परस्या,

भया निरन्तरि पेलं॥

—वही पृ० २१७

योगी का आचरण ही वस्तुतः प्रधान वस्तु है, कथनी नहीं। बड़ी बड़ी बातें बघारना वञ्चित नहीं है। गोरखनाथ के नाम पर चलने वाले अनेक पदों में शील की महिमा बताई गई है। केवल योगी ही नहीं, शीलवान् गृही भी पवित्र बताया गया है

सहज शील का धरै सरीर ।

सो गिरती गंगा का नीर ॥ —बही पृ० १७

एक पद में शिष्य ने गुरु से पूछा है कि उसका आचरण कैसा हो। बड़ यदि बन जाता है तो लुब्धा सताती है, नगर में जाता है तो माया व्यापती है, भर पेट खाता है तो मन में विकार उत्पन्न होता है। यह कठिन समस्या है कि यह जल बिन्दु-बिनिर्मित वाया सिद्ध कैसे हो ?

स्व भी बन पंडित जाउं तो पुण्या व्यापै

नम्री जाउं त माया ।

भरि भरि पाउ न बिद् व्यापै,

क्यों सीमनि जलव्यंद् की काया ॥

बही पृ० १२

गुरु ने मध्यम मार्ग का उपदेश दिया। खाने पर दृढ़ न पड़ना, बिन स्वाप भी न रहना, दिनरात अन्तर की ब्रह्म-अग्नि का रहस्य चिंतन करना, किसी बात पर आश्रय न रखना, एक पद विकल्पा भी न हो जाना—ऐसा ही गोरखनाथ कह रहे हैं

धायें न पाइया भूषे न मरिबा,

अहमिसि लेवा ब्रह्म अग्नि का भेवं ।

इत न करिबा पट्या न रहिबा,

यू बोल्या गोप देवं ॥ —बही पृ० १२

योगी शैला गृही को बहुत ही दयनीय जेब समझते हैं। उनकी कड़ ऐसी धारणा है कि काम काध का दास हो गृही होता है। एक बार जो मृदस्वाश्रम के बन्धन में बंध गया वह ज्ञान की धार करने का भी अधिकारी नहीं रहा। गृहस्थ का ज्ञान, श्रद्धा, ज्ञान, ध्यान, बुद्धि का काम, वैश्या का मान और वैरागी का माया बटोरना, इनके साथ संघर्ष मानव से निरर्थक है—

गिरही को र्गान अमली को ध्यान,

पूचा को कान, बेस्या को मान,

वैरागी अर पाया भूँ हाथ,—

या पाँचाँ हो एकै साथ ॥ — बही पृ० ७७

क्योंकि गृही पाशबद्ध जीव है, उसे ज्ञान में अधिकार नहीं :

गिरही होय करि कैथै र्गान,

अमली होय करि धरै ध्यान ।

वैरागी होय करै आसा,

जाथ कहै तीनों वासा वासा ॥

बही पृ० ७७

इस मन में पूर्ण ब्रह्मचर्यभंग जीवन का आदर्श है। गृही में यह आदर्श नहीं है। विदु के संयमन से बड़ी सिद्धि मिलती है। पर दुर्भाग्यवश यह शरीर भी विदु विनिर्मित है, अतएव अशुद्ध है। योगी लोग इसकी अपवित्रता के प्रति भी पर्याप्त मचेत हैं। जब तक आवापिता का दिया हुआ यह धातुमय शरीर मिटा नहीं दिया जाता तब तक नाथ पद तक पहुँचना असंभव है। यह अस्म्भव नहीं है। मन को गुरुमुख करने से और काया को अग्निमुख करने से इस शरीर की अपवित्रता मिटाई जा सकती है और नाथ पद तक पहुँचा जा सकता है :

मनमुषि जाता गुरुमुषि केहु
लोही माख अगनि मुषि देहु ।
मात पिता की मेटी घाल,
ऐसा होइ बुलावै नाथ ॥

—वही पृ० ६१

क्योंकि साधना के द्वारा इस जड़-शिला के समान अकिंचन शरीर को सिद्धि योग्य बनाया जा सकता है। नाद और विदु अपने आप में जड़ पत्थर के समान ही तो हैं, पर उनका उचित उपयोग किया जाय तो वे सिद्धों के साध मिलान देने में समर्थ हैं। नाद-विदु का नाग जपते रहने से यह काम नहीं होगा, यह तो उचित साधना का विषय है :

नाद नाद सब कोइ कहै, नादहि ले को बिरला रहै ।
नाद बिंद है फीकी सिला, जिहि स्वाध्या ते सियैं मिला ॥

—वही पृ० ६१

गोरखनाथ विशुद्ध ब्रह्मचारी को ही इस मार्ग का प्राधिकार स्वीकार करते हैं। नाद और विदु दोनों का संयम आवश्यक है :

यंत्री का लक्षवशा, जिभ्या का फूडका ।
गोरष कहै ते परतपि चूडका ॥
काछ का जती मुख का सती ।
सो सत पुरुष उगता कथी ॥

—वही पृ० ५२

इस प्रकार नाद (वाणी) और विदु (वीर्य) को संयमित रखने वाला पुरुष साक्षात् शिव रूप हो जाता है :

यत् जीवन की नरै न आप,
चित्त न रापै अंजित पास ।
नादविंद जाके घटि जरै,
तारी सेवा पारवती करै ।

परन्तु इसके लिये गाय, भालू धतूरा आदि नरों की बीजों का सेवन करना अनुचित है। पर-निदा और नशीली वस्तुओं का सेवन इन दो बातों को नरक का द्वार मजाना गया है—

जोगी होइ पर निदया भषै । मद मांस अरु भांगि जो भषै ।
इकोतर सै पुरिषा नरकहि जाई । सति सति भाषंत श्री गोरष राई ।

—वही पृ० ५६

अवधू मांस भयंत दया धरम का नास ।
मद पीवत तहां पाण निरास ॥
भांगि भषत ग्यांत ध्यांत नेवंत ।
जम दरबारो ते पांगो रवंत ॥

—वही पृ० ५७

इस प्रकार इस मार्ग में कठोर ब्रह्मचर्य, वाक्संयम, शारीरिक शौच, सार्वभौमिक-शुद्धता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, ब्रह्म आचरणों के प्रति अनादर, सामान्यिक शुद्धि और मत्तमांसादि के पूर्ण वर्हिष्कार पर जोर दिया गया है। हिंदी में पाए जाने वाले पदों में यह स्वर बहुत स्पष्ट और बलशाली है। इस स्वर ने परवर्ती सन्तों के किये आचरण-शुद्धि प्रधान पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। सना साधकों को बहुत कुछ बनी बनाई भूमि मिली थी। इस मार्ग को सब से बड़ी कमी इसकी शुष्कता और गृहस्थ के प्रति अनादर का भाव है। इस कमजोरी ने इस मार्ग को नीरस लोकविद्वेष और क्षयिष्णु बना दिया था। फिर भी इसका दृढ़ कंठस्वर उत्तरभारत के धार्मिक वातावरण को शुद्ध और उदात्त बनाने में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ है। इस दृढ़ कंठस्वर ने यहाँ की धार्मिक साधना में कभी भी गलतश्रु भावुकता और दुर्लभमुक्तपन नहीं आने दिया। उत्तर भारत के साहित्य में भी इनके कारण दृढ़ता और आचरण शुद्धि भुलाई नहीं जा सकी है।

उपसंहार

गोरक्षनाथ अपने युग के सब से महान् धर्मनेता थे। उनकी संगठन-शक्ति अपूर्व थी। उनकी व्यक्तित्व समर्थ धर्मगुरु का व्यक्तित्व था। उनकी चरित्र स्पष्टिक के समान उज्ज्वल, बुद्धि भावावेश से एकदम अनाविल और कुशाग्र तीव्र था। उनके चरित्र में कहीं भी भावबिह्वलता नहीं है। जिनदिनों उन्होंने जन्मग्रहण किया था उन दिनों भारतीय धर्मसाधना की अवस्था विचित्र थी। शुद्ध जीवन सात्त्विक वृत्ति और अखण्ड ब्रह्मवर्त्य की भावना उन दिनों अपनी निम्नतम सीमा तक पहुँच चुकी थी। गोरक्षनाथ ने निर्मम हथौड़े की चोट से साधु और गृहस्थ दोनों की कुलीतियों को चूण विचूर्ण कर दिया। लोक-जीवन में जो धार्मिक चेतना पूर्ववर्ती सिद्धों से आकर बलक पारमार्थिक उद्देश्य से विमुक्त हो रही थी उसे गोरक्षनाथ ने नई प्राणशक्ति से अनुप्राणित किया। किसी भी रूढ़ि पर चोट करते समय उन्होंने दुर्बलता नहीं दिखाई। बल्कि पंडित व्यक्तिये पर यह अक्की तरह जानते थे कि पुस्तक लेख्य नहीं, साधन है। उन्होंने किसी से भी समझौता नहीं किया, लोक से भी नहीं वेद से भी नहीं, परन्तु फिर भी उन्होंने समस्त प्रचलित साधना मार्ग से उचित भाव ग्रहण किया। कबल एक वस्तु वे कहीं से न ले सके। वह है भक्ति। वे ज्ञान के उपासक थे और लेशमात्र भावालुता को भी वर्दाशत नहीं कर सकते थे। और यदि सचमुच ही भाग और बिभाग कल्पित है, कल और विकल मिला है, संसार सृष्टिमरौंचिका है, श्रुतियाँ परम तत्त्व के विषय में भिन्न विचारप्रवृत्त करती हैं और एक अखण्ड सात्त्विकदानद ही सत्य हैं तो भावावेश का स्थान कहाँ है? क्यों मनुष्य उस तत्त्व की उपलब्धि के किये मच्चलन का अभिनय करे, क्यों उसे प्रसन्न और अनुकूल करने के लिये यजन-पूजन करे?—

आदित्येक विवेक विबोध इति अविकल्प विकल्प विबोध इति ।

यदिचैक निरन्तर बोध इति किमुरोदिषि मानस सर्वसम ।

बहुधा श्रुतयः प्रवदन्ति मत विददान्तर्यं सृगतोय समः ।

यदि चैक निरन्तर सर्व शब, किमु रोदिषि मानस सर्वसमः ।

सर्विभक्तिविभक्तिविहीन परं अत्युक्त्यायनिकायविहीन परम् ।

यदि चैक निरन्तर सर्व शिवः यजनच कथं स्तवनं च कथम् ! — अदभूत गीता

— यही गोरक्षनाथ के उद्देशों का सच्चा रहस्य है। यह नहीं कि यही उनके वाक्य हैं बल्कि यह कि यही उनके द्वारा उपदिष्ट साधना का स्वः है—भावावेश विनिमुक्त, शुद्धबुद्धिमूलक ज्ञानमार्ग। इस ज्ञान के निष्कर्ष को उन्होंने सदा सामने रखा। वह निष्कर्ष क्या है, इसकी खर्चा अन्यत्र हो चुकी है। यथासाध्य हमने विविध उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर उसको समझने का प्रयत्न किया है। परन्तु वह कबल बुद्धि-विलास

नहीं है, वह साधना का विषय है। दीर्घ आयुस के बाद उसे प्राप्त किया जाता है। उसमें शुद्ध गुरु की आवश्यकता होती है। इस साधन-मार्ग में निगुरे को कोई स्थान नहीं है। फिर भी हमने यह जो प्रयत्न किया है उसका कारण यह है कि हमने अपने को नितांत असहाय निगुरा नहीं समझा। सिद्धों की कुछ वाणी अब भी हमारे बीच है, वह महामंत्र अब भी साधनाकाश में उड़ रहा है, अब भी वह उपयुक्त उर्वरा भूमि की प्रतीक्षा कर रहा है। उसकी समझने का प्रयत्न अश्लाघ्य नहीं है। वह महामंत्र ही हमारा गुरु है। वह गुरु ही सच्चिदानन्द का पद है, वही सब के ऊपर सदा विराजमान है क्योंकि उस पर जो अवाच्य समझा जाय, क्यों उस तत्त्व को अचिन्त्य माना जाय, इसीलिये तद्वत् तो ही सो बना रहे। हम उसे गोरक्षनाथ का सत्तात तेजः स्वरूप मानते हैं। उ। ज्योतिर्मय नमश्च तेज की जाय हो, वही हमारा गुरु है:

अवाच्यमुच्येत कथं पदं तत्

अचिन्त्यमप्यस्ति कथं विचिन्तये।

अतो यदस्त्येव तदस्ति तस्मै

नमोऽस्तु कस्मै वत नाथ तेजसे ॥

—गो. सि. स. पृ० ५२

सहायक ग्रंथों की सूची

१. अद्वयवज्रसंग्रह—गायकवाङ्ग ओरिएण्टल सीरीज, नं० ४०, बड़ौदा १९२७ ई०
२. अमरगौघशासनम्—सिद्धगोरक्षनाथ-विरचित; महामहोपाध्याय पं० मुकुन्दराम शास्त्रीद्वारा सम्पादित, काश्मीर संस्कृत ग्रंथालय, प्रकाशक २०, बंबई, १९१८.
३. अष्टोत्तरशतोत्तिषदः—निर्णयसामर प्रेस, बंबई, चतुर्थ संस्करण, १९२२
४. ३०१० — इन्डियन एजिटक्वैरी
५. ३०३०५० — इनसाइक्लोपीडिया आव् रेलिजन ऐण्ड पथिकस
६. कबोर—इजारी प्रसाद द्विवेदी, बंबई (हिंदी ग्रंथ रत्नाकर), १९४२
७. कबोर ग्रंथावली—वायू श्यामसुन्दरदास बी० ए० द्वारा सम्पादित और काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, प्रयाग १९२८
८. कल्याण—गोरखपुर,
(१) शिवांक (२) योगांक (३) शक्ति-अंक (४) साधना-अंक
९. कैटोलोगस कैटोलोगोरम—थियोडोर आफ्रेड, लिपकिंग, १८९६
१०. कौ० ज्ञा० नि०—कौलज्ञान निर्णय, डा० प्रबोधचंद्र बागची द्वारा सम्पादित, कलकत्ता संस्कृत सीरीज, नं० ३, कलकत्ता, १९३४
११. कौ० मा० र०—कौलमार्गदृश्य (बंगला), स्व० सतीशचंद्र विद्याभूषण कलकत्ता, १९३५ बंगाल
१२. कौलावली निर्णय—तांत्रिक टेक्सट्स, जिह्वा १४, आर्थर एक्लेन द्वारा सम्पादित, कलकत्ता
१३. गंगा—पुस्तकालय, श्री राहुल गाँकृत्यायन के लेख
१४. गंभीरनाथ प्रसंग (बंगला) श्री अक्षयकुमार खोपाध्याय लिखित, फेरी नवाखाली, बंगाल १९३२
१५. गङ्गनाथ का इतिहास—श्री हरिकृष्ण रतुली, बड़ौदा, १९२८
१६. गीतारदृश्य—स्व० श्रीकृष्ण बालगंगाधर तिलक, (स्व० माधवराव सप्रे का अनुवाद)
१७. गो० प०—गोरक्ष-पद्धति, पं० महीधर शर्मा के भाषानुवाद सहित, बंबई, सं० १९९० वि०
१८. गोपीचंद्र (चट्टी)—पंडित कवि कालदास लाइव गुजरानवाला, लाहौर १९४४
१९. गोपीचंद्रेगान—दो जिल्द, श्री विश्वेश्वर भट्टाचार्य द्वारा संकलित और कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण

२०. गोरखनाथ ऐण्ड गिडिपयल हिंदू मिस्टिसिज्ज डा० मोहन सिंह लिखित, लाहौर, १९३७
२१. गोरखबानी— डा० पीताम्बरदत्त बकथवाल-संपादित, हिंदी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित, प्रयाग १९९९ वि०
२२. गोरखनाथ ऐण्ड कनफटा योगीज— दे० ब्रिग्स
२३. गो० सि० सं०—गोरक्षसिद्धीनसंप्रद, म० म० पं० गोपीनाथ बिराज द्वारा सम्पादित, भरखवी भवन टेक्सट्स, नं० १८, काशी १९२५
२४. गजसरीव आव् द्वा ट्राइन्स ऐण्ड कास्टस् आव् दि पंजाब ऐण्ड दि नार्थ-वेस्टर्न प्राविसेज— एच० ए० रोज, जि० ३, लाहौर १९१४ ई०
२५. ग्रेण्ड संहिता—सेक्रेड बुक आव् दि हिन्दुज, प्रयाग, १८९५
२६. चर्याचर्य विनिश्चय—बौ० गा० दो० में संगृहीत
२७. ज० डि० ले०—जर्नल आव् दि डिपार्टमेंट आफ लेटर्स, रूयवां जिल्ह (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३५) में डा० प्रबोधचन्द्र वागशी द्वारा सम्पादित निम्नलिखित ग्रंथ—(१) तिलोपाद का दोहाशेष (२) सरहपादका दोहाशेष (३) कण्ठपाद का०, (४) सरहपादीय दोहासंप्रद, (५) प्रकीर्ण दोहा-संप्रद । इसकी अन्य जितरीं का भी यथास्थान उल्लेख है ।
२८. जायसी ग्रंथावली—पं० रामचंद्र शुक्ल-संपादित, काशी, १९२४
२९. ज्ञानसिद्धि—गायकबाड़ ओरिएण्टल सोरीज नं० ४४, बडौरा १९२९
३०. ज्ञानेश्वर चरित्र—प० क्षुद्रप्रण रामचंद्र पंगारकर द्वारा लिखित और पं० लक्ष्मण नाथगर्दे द्वारा अनुवादित गोरक्षपुर सं० १९९०
३१. टू. का. में. प्रो०—दि ट्राइन्स ऐण्ड कास्टस् आव् सेण्ट्रल प्राविसेज आव् इंडिया, ई० बी० रसेल और रायबहादुर पीरलाल संपादित, चार जिल्दों में, लखन. १९१६
३२. टू. का.—ट्राइन्स ऐण्ड कास्टस् आव् दि नार्थ वेस्टर्न प्राविसेज ऐण्ड आर्य, विलियम ब्रुक बल्बत्ता १८६९
३३. ताराताथ—गोशपटे दैम् बुद्धिमुस् इन इन्डियन आउस देम् विबेतिशेन् युवेर सेट्स् फर्म् उन्तन् शिफेर (जर्मनी भाष में ताराताथ नामक लिखती ऐतिहासिक के ग्रंथ का अनुवाद, जिसके आवश्यक अंश का अंग्रेजी अनुवाद लेखक (६० द्वि०) के लिये डा० ए० परेन्सस ने कर दिया था ।) हेन्टपीटसेबग, १८६९
३४. दि इन्डियन बुद्धिष्ट आईकोनोग्राफी सेन्की बेल्ड आपॉन दि साधनमाला ऐण्ड आईव् कॉम्पेट गॉत्र० टेक्स्ट्स । बी. गृहाचार्य द्वारा लिखित आक्सफोर्ड, १९२४

३५. दि पीपुल आफ इन्डिया—हर्बर्ट रिचजी, कलकत्ता १६०८
३६. दि सप्रेन्ट पावर—आर्थर एवेलेन लिखित लंडन १९१९
३७. दि सेन्सस आफ इन्डिया १९२१, १९३१
३८. नागरसंस्कृत - पद्म श्री विरचित और तनसुब्रह्म शर्मा द्वारा संपादित, बंबई १९२१
३९. पदुमावती—बिन्तोयिका इन्डिया, न्यू सीरीज न० ११७२. जी. ए. ग्रिगर्सन और सुधाकर द्विवेदी द्वारा संपादित, कलकत्ता १९०७
४०. परशुरामकल्पसूत्र—रामेश्वरकृत टीका सहित, गायकवाड़ प्रोप्रियेटर्स सीरीज में प्रकाशित और बी. ए. महादेव शास्त्री द्वारा संपादित
४१. परसंगपूरनभगत (गुरुमुखी) -मियाँ कादरखान कृत, लाहौर १९४४
४२. पारानंद सूत्र—गायकवाड़ सीरीज ५६, बडोदा १९३१ ई०
४३. पूरन भगत (उर्दू)—पंडित कवि कालिदास साहब शास्त्र, गुजरातवाला द्वारा लिखित लाहौर, १९४४
४४. प्र. चि—प्रबंध चिन्तामणि—इजागी प्रभाद द्विवेदी द्वारा अनुवादित और मुनि श्री जिनविजय जी द्वारा संपादित, सिधौ जैः ग्रंथमाला, ऋषमदा-बाद-कलकत्ता, १९४०
४५. प्रहोपायविनिश्चय सिद्धि—गायकवाड़ प्रोप्रियेटर्स सीरीज ४४, बडोदा १९२९
४६. प्राणसंगली - सन्तसम्पूरन सिंह जी द्वारा संपादित, तरनतारन पंजाब
४७. डायसन—दि निस्टम आफ वेदान्त, पी डायसन, शिमगो १९१२
४८. बाँगला साहित्येर इतिहास (बंगला)—श्री डा० सुकुमार सेन, कलकत्ता, १९४०
४९. बागची—देखो कौ ज्ञ. नि.
५०. ब्रह्मसूत्रम्—शांकरभाष्यसहित, प० वासुदेव त्रिदयणशास्त्रीभाष्यशेखर संपादित, बंबई, १९२७
५१. ब्रिगम—गोरकुनाथ ऐण्ड कनफरा योगीश्वर, श्री जार्ज चेम्बल ब्रिगम-लिखित, कलकत्ता १९३८
५२. बौ. गा. दो.—बौद्ध गान ओं दोहा (बंगाली में मुद्रित) मा पं० इन्द्रनाथ शास्त्री-सम्पादित, कलकत्ता, १३२३ बंगाल
५३. भरथरी चरित्र—(नौ खण्ड) हावड़ा, १९४० ई०
५४. भारतवर्ष में ज्ञानि-भेद—श्री क्षिति मोहन सेन, कलकत्ता १९४०
५५. भारतवर्षीय उपासक संप्रदाय (बंगला)—श्री अक्षयकुमार दत्त कलकत्ता १३१४ बंगाल (द्वितीय संस्करण)
५६. भारतीय दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय एम. ए. लिखित, द्वितीय संस्करण काशी १९४५ ई०
५७. भ्रमरगीत सार—पं० रामचंद्र शुक्ल - संपादित, बनारस, १९९९ सं०
५८. महार्थमंजरी—गोरक्षापरपर्याय महेश्वर विरचित, काश्मीर संस्कृत ग्रंथालय प्रकाशक २०

५९. भलतीमाधवम् - जगद्धरकृत टीकासहित, एम. आर. काले द्वारा संपादित, बंबई १९२८
६०. सिद्धिबल सिद्धिसिद्धि आव् इन्डिया-- श्री चित्तिमोह नसेन, बन १९३४
६१. योग उपनिषदः—अध्यय लाईब्रेरी, अ. महादेवशास्त्री-संपादित, अजमेर १९२०
६२. योगदर्शन (बंगाली में)—काविजमठ संस्करण, कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित
६३. योगप्रवाह—पीताम्बरदत्त बडथवाज द्वारा विहित, श्री संपूर्णानंद द्वारा संपादित, काशी सं० २६०३
६४. यो. सं. आ.—योगसंवादाविष्कृति, चंद्रनाथ योगी, अहमदाबाद १९२४
६५. राजपूताने का इतिहास—म. म. पं० गौरीशंकर द्वारा बन्द ओम् लाखन अजमेर
६६. ल नेपाल (फ्रेंच भाषा में)—नेपाल का इतिहास, सिलवा लेवी, पेरिस १९०५
६७. बामकेरवर तंत्रान्तर्गत नित्याषोडशिकाणवः—श्री-भास्कराचार्योन्नीत संतुष्य-व्याख्यानसहित, आनंदाश्रम संस्कृत प्रकाशकी ५६ पूना, १९०८ ई०
६८. विश्वभारती पत्रिका (हिन्दी)—इजाराबनाद द्विवेदी संपादित, शान्तिनिकेतन, बंगाल
६९. वैष्णवविजय शैविज्य ऐण्ड आइर माइन रिजिजियस मिस्टस—आर० जो० भाण्डारकर, स्टू एवर्ग १९०९.
७०. शक्ति ऐण्ड शाक्ति (द्वितीय संस्करण)—जान बुडरफ अजमेर १९२०
७१. शरदासिद्धि तंत्रम्—आथर एवेनन द्वारा संपादित कलकत्ता १९३३
७२. शिवसंहिता—पाणिनि आफिस, इलाहाबाद १९१४
७३. श्री गुरु प्रताप सूरजप्रभ (गुरुमुख)—कविचूडामणि भार्गवसन्तोषसिंह जी, द्वितीय संस्करण श्री बीरसिंह जी द्वारा संपादित, १९२५ ई०
७४. श्री गुरुसमाजतंत्र—गायकवाड़ सीरीज नं० ५३, बड़ौदा १९३१ ई०
७५. श्रेड०—इन्ट्रोडक्शन टू पां रतत्र ऐण्ड अहिर्वृत्त संहिता, अजमेर १९१२.
७६. स. द. स.—सर्वदर्शनसंग्रह, सायकसाधवाचायभणित म. म. बासुदेवशास्त्री अभ्यंकर संपादित पूना १९२४ ई०
७७. सहजानाथ पंजिका—बी. गा. वं. में संग्रहीत
७८. साधनमाला—गायकवाड़ज ओरिएण्टल सोरीज नं० २६ और ४१ बड़ौदा
७९. ति. सि. सं.—सिद्धसिद्धान्तर्ग्रह, य. म. पं. गोपीनाथ कविराज-संपादित सारस्वतीभवन टेम्पलटन १३, काशी १९२४ ई०
८०. सु. च.—सुभाकरचंद्रिका, पदुमावती (ऊपर दे०) एर म. म. पं० सुधाकर द्विवेदी का हिन्दी टीका
८१. स्टडीज इन दि तंत्र—पार्ट १, डॉ० प्रबोधचंद्र रायबा, कलकत्ता १९३९
८२. इठ०—इठयोगप्रदीपिका, पाणिनि आफिस, इलाहाबाद १९१५ ई०
८३. हिंदुत्व - स्व० रामदास गौड़; ज्ञानभण्डन, काशी सं० १९९७ जि०

मुद्रक—के० पी० प्रेम, इलाहाबाद ।

नामानुक्रमणिका

[मोटे अक्षरों में छपे शब्द पुस्तकों के नाम हैं]

अकुलबीरतंत्र ३६, ५६, ६१, ७१, ६७; अष्टपारल्लुत्रा १०१

—ए ३८;— बी ३८

अक्षयनाथ २४

अधोसाधव ३०

अचित ३०

अचिति २६, १३५, १४१

अचिन्तिपा २६

अजपालिपा ३१

अजयपाल १४

अजोगिपा २६

अतिकाल ४

अद्वयवज्र ६

अनंगपा ३१

अनंगवज्र ४१

अनादि ४

अन्तरिक्षनारायण २५

अप्यय दीक्षित १६६

अभिनवगुप्त (पाद) ३६, ५२

अभैमात्रा योग १०१

अमनस्क ६८

अमरनाथ १३

अमरौघशासन ७८, ६८, ११३ १२५,

१२६, १३०

अरजन नंगा (नागार्जुन) १४८

अर्जुन देव (गुरु) १७५

अर्द्धनारी १३

अलवेरुनी १४०

अवद्य ४

अवधूत गीता ६६, १३४

अवर्ति मिल्क १०१, १०२

अवलोकितेश्वर ४८, ६१

अष्टचक्र १०१, १०२

अष्टमुद्रा १०१

आटकिन्सन ५४

आफ्रेल्ट १००

आत्म परिज्ञान दृष्टि उपदेश १४१

आत्म बोध १०१

आयर्व शिर उपनिषद् १५८

आदिनाथ ३, ४, २४, २५, २६, ३०, ४१,

१५०, १७४

आदिनाथ संहिता १७६

आनन्द २५

इत्सिंग १६७

इन्द्रोडकशन दु अहिर्बुध्न्य मंहिता १६८

इन्द्रभूति ३०, ७८, १४१

इन्द्रसेन १६५

इन्द्रो देवता १०१

इधनवृत्ता ११६

ईश्वरनाथ ३७

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ५८;—की बृहती वृत्त ५८

उग्रसेन १६६

उदयनाथ २५

उदुना-पुदुना १६६, १७१

उधनि (लि), पा ३१

उन्मन २८

उनिषद् ब्रह्मयोगी १२६, १३५

उमानन्दनाथ ५

उमापति १०२

उलूकराज १६०

एकनाथ २५

कंकणपा २६

कंचलपा २६

कमलिपा २८

गारी १४२
 कंठरनाथ १४८
 कंडार भैरव १०२
 कंतालीपा ३१
 कंथडी ५३
 कंथाधारी ४
 कंदलायन १७३
 कठ उपनिषद् ११४
 कण्ठाद (उलूक) १६०
 कण्हापा २८, ५२, ७७, ८०; देखिए -- कृष्णपाद,
 कानपा
 कनखल २८, १३७, १३६
 कनखलापा ३१
 कपा (म) ल पा ३१, १४२
 कपालि १७४
 कविल (मुनि) १४, १५५, १७३, १७६,
 —का उपदिष्ट योग १७६ आ०
 कबीर ३१
 कबीरदास १, १६, १६, ५३, ६७, ६८, १६३,
 १६४, १८२; —का संप्रदाय ३६
 कमरिपा २६, ३०
 कमल (पा) १४२
 कमलकंगारि ३१, १३७, १४२
 कमला ४७
 कमारी २८, १३६
 करकाई १४, १५१, —आखा १४
 करणियानाथ (कानिपा) २५, ८१ टि०
 करभाजन नारायण २५
 करवत २६
 कराल ४
 कर्कनाथ १५५
 कर्पटीनाथ १४४
 कर्णरिपा (आर्यदेव) २८
 कर्पूरमंजरी ८७
 कलकलपा १३१
 कविनारायण २५

कलिगा ५०
 काकचंडीश्वर २४, १७४
 काकचंडेश्वरी मत १७४
 काण्डालि २८
 कानपा (कानिपा, कानफा, कानुपा, कान्हापा,
 कान्हूपा) ६, ६, १४, २८, ४५,
 ४६, ४७, ५२, ७७, ८०, ८२, ६०,
 १३६, १५२, १७०, —संप्रदाय ७
 कानीपाव ५१
 कान्हडीनाथ २४
 कान्हपादगीतिका ८०
 कापालि १७३, —नाथ २४
 कापाली ६
 काफिरबोध १०१, १०२
 कामरी २६, १३७, १४१
 कामरूप ५५, ५६
 कामसूत्र ५५
 कायमुद्दीन १५२
 कायानाथ १५२
 कार्डियर ५२
 कार्तिकेय ३६
 काल ४
 कालपा २६
 कालभैरवनाथ ४
 कालाग्नि उपनिषद् १३४
 किलपा ३१
 कुंभीदास १३
 कुकुरिपा २६
 कुचिपा (कुसुलिपा) २६
 कुडालिपा ३०
 कुमारिपा ३१
 कुमारी ३०, १३७, १४२
 कुलदेव २७
 कुलानन्द ३८, ३६
 कुलार्णव तंत्र ७०, १८०
 कुलेश्वर २६

कुशिक १६०
 कूर्मनाथ २५
 कूर्मपाद ७७
 कृशर २६, २७
 कृष्णचंद्र दालाल २१
 कृष्णपाद (कृष्णाचार्यपाद) ६, ८, ५२, ७७,
 ६०, १३६, १४०, १४७, १५५,
 १७२ टि० । कान्वा भी दे० ।
 केदारिपा २८
 कोकालिपा ३१
 कोरट्कनाथ २४
 कौलज्ञाननिर्णय २, ५, ३८, ३६, ४०, ४३-
 ४७, ५२, ५५, ५७, ६२, ६६,
 ६८, ७०,—के चक्र ७४
 कौलावली तंत्र २६
 कौलावली निरूप्य ६०, ६६, १४६
 कौलोपनिषद् ६२, ६३
 कौशिक १६०
 क्रमस्तोत्र ५२
 कुक्क १८
 कौण्डिन्य पञ्चार्थ भाष्य १६४
 क्षुरिकोपनिषद् ८
 खंडकापालिक २४
 खड्गपा २८
 खाखी वाणी १०१
 खिथङ्गनाथ ३७
 गंगानाथ १४, १५०
 गंगा (पुरातत्त्वाङ्क) ४४, ५२
 गगनपा ३०
 गज (राजा) ११४६, १६२
 गणनाथ सेन (म० म०) १७४
 गमार ३०
 गरीबनाथ १४६
 गरुड पुराण ५४
 गादिना (गैनी) नाथ २५, ३२,—का संप्रदाय १३
 मिगिबर ३०

गुंडरिपा ३०
 गुप्तदेवी १५५
 गुह्य ग्रंथ साहिब (श्री) १७५
 गुरु प्रताप सूरजग्रंथ १७५
 गुह्य समाज तंत्र ६६, १२३
 गूणा ५३
 गोपीचंद, (द्र) ७, १५, १६, २५, ४७, ५९,
 ५५, ६०, १४५, १५२, १६२, १६८,
 १६६, १७१, १७२,
 गोपीनाथ कविराज (म० म०) ६०, १०७,
 १३२, १७२
 गोरक्ष उपनिषद् १३४, १३६
 गोरक्ष कल्प ६६
 गोरक्ष कौमुदी ६६
 गोरक्ष गीता ६६
 गोरक्ष चिकित्सा ६६
 गोरक्ष नाथ (गोरखनाथ) २, ३, ७, ६, १२,
 १४, १५, २०, २३, २४-२८, ३२,
 ४१, ४२, ४५-४३, ५६, ५८, ६६,
 ७२, ६६, १३८, १३६, १४५,
 १४६, १५६, १६५, १६७,
 १६६-१७१, १७४, १७६, १७६,
 १८१, १८२;—और मरथरी २०,—
 के अवतार २५;—के ग्रंथ ६७;—के
 पंथ—प्रवर्तक शिष्य १४;—के विविध
 स्थान ६७;—द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय
 १४५; महान् धर्मवेत्ता १८८, रसायन
 विद्या के प्रवर्तक १७४
 गोरखनाथ ऐण्ड कनफटा योगीज १०
 गोरक्ष पद्धति ७१, ७२, ६६
 गोरक्ष पञ्चय ६६
 गोरक्षपा २८
 गोरक्ष विजय २१, ५४, ५५, ५८
 गोरक्ष शतक ४२, ४३, ६६
 गोरक्ष शास्त्र ६६
 गोरक्ष संहिता ६०, ६६

गोरक्ष सहस्रनाम स्तोत्र ६६
 गोरक्ष सिद्धान्तसंग्रह ४, ७, ४२, ६४,
 १३४;—में उद्धृत अंश १३२
 गोरख (ष) गणेश गुर्गुष्ट १०१, १०२
 गोरख (ष) दत्त गुर्गुष्ट १०१, १०२
 गोरख बानी १०१
 गोरख (ष) बोध ६०, १०२, १८२
 गोरख सत १०१
 गोविंद ३१
 गोविंद चंद्र ५२, १६६-१७१
 गोविंद चंद्रेर गीत १६६
 गोविंद नायक १७३
 गोविंद भगवत्पादाचार्य १७३
 गोसवी २३
 गौरीशंकर हीराचंद ओझा १५७
 ग्यान चौबीसा १०१
 ग्यान तिलक १०१
 ग्यान माला १०१
 प्रियर्सन ४७, ४८
 घंटा (वज्रघंटा) पा ३०, ७०, १३६
 घर्मरिपा ३०
 घुम्बू नाथ ३७
 घेरण्ड संहिता ७२, १०२
 घोडाचूलीनाथ २४
 चंडकापालिक १०२
 चतुरशीत्यासन १००
 चतुरशीतिसिद्धप्रवृत्ति ५२
 चतुर्भवाभिवासनक्रम १४४
 चंद्रनाथ योगी ३८, १७५
 चंद्रलेखा १४०
 चंद्रसेन १६७, १७४
 चंद्रावली १६६
 चमरिपा ८८
 चम्पक २६, १३७, १४१;—पा ३०
 चम्पानाथ ३७
 चमसुनारायण २५

चर्पटनाथ ४, १३, २५, ३७, १४१, १७४,
 १७५
 चर्पटी (चर्पटनाथ) २५, २६, १४४;—नाथ
 २४, १३७, १४२;—पा ३०
 चर्याचर्याचिनिश्चय ६, ८३, ६०
 चर्यापद ८
 चर्वटि १७३
 चर्वरिपा १३८
 चवरि (जवरि) ३१
 चाटल ३१
 चौदन २६
 चौदनाथ १५५
 चामरीनाथ २८, १३७, १३८
 चिपिल ३१
 चुणकर १३७, १४१
 चेलुकपा ३०
 चैतन्य देव १६३
 चोलीनाथ १४
 चौबीस सिंध १०१, १०२
 चौरंगी (नाथ, पा) २४, २८, ३२, ४६, १३७,
 १३८, १३६, १४५, १६१
 छत्रपा २६
 छायानाथ २३
 जगद्धर ८४
 जङ्गभरत ४, २४, २५
 जयद्रथ ३६, ४०
 जयन्ती ५१
 जयमंगला टीका ५२
 जयानन्त ३०
 जाती भोगवली १०१
 जाकर पीर १४, १५०
 जालंदरनाथ ३२
 जालंधर (नाथ) ४, ७, ८, १२, १५, २४—
 २८ ५१, ५२, ७७, ७८—८०, ६०,
 १४१, १४५, १४६, १६६ ;—
 के दशप्रवर्तक शिष्य १४ ;—पा

३०; — पाद ६, ५३, १३८
जालंधरि ६; — पा ८०, १५२, १७१, १७२
जालेन्द्र ७८, ७६
जीवन ३०
जैमिनि भारत ५४
जैसल १६२
जोगिया (अजोगिया) ३०
ज्ञानकारिका ३८, ३६, ७१
ज्ञाननाथ ३२, — की गुरुपरंपरा ३२
ज्ञानप्रकाश ६२
ज्ञानप्रकाश शतक ६२
ज्ञानामृत टिप्पण १०२
ज्ञानामृत योग १००
ज्ञानशतक १००
ज्ञानेश्वर ५४
ज्ञानेश्वर चरित ५२
ज्ञानयोग खण्ड १०२
ज्योतिरीश्वर २७
ज्योतिरना १०२
ज्वालेंद्र ७८, ७६; — नाथ २५, ७७
टिटिष्ठीनाथ २४
टेसीटरी ६७
टैम्पुल १६२
टोगी २२
डायसन (डा०) १३३
डेंगिया २६
डोम्भीपा २८
देगटस २६, १३७, १४१
देगदणपाद १३८, १४१
ततिपा २८, ७७, १३७, १३८
तंत्रालोक २६, ४०, ५२; — की टीका
५५, ५७, ५८
तंघेपा (तंतिपा) २६
तनजुर १३८, १३६, १४१
तनमुख राम शर्मा (पं०) ४३, ५५
तारानाथ ४१, ४२

तारारहस्य २६
तिलकचंद्र १७०
तिलोपा २६
तुजी २६
तुलसीदास १
त्रिशाख ब्राह्मण १३४
थगनपा २८
दण्डनाथ २५
दत्तात्रेय ५, २४
दत्तसंहिता ५
दयानोध १०१
दरियानाथ १४, १५१
दवरे २३
दर्शनोपनिषद् १३४
दातकीपाद ८३, ८४
दादूदयाल १८२
दारिकपा ३१, १३६
दारिपा २८, १३७, १३८
दुर्लभचंद्र १६६
देवदत्त २४
देवपाल (राजा) ५२, ५३
दोखविपा (द्विखंडिप) २६
दोहाकोष ८०, ६०, १३६, १७२ टि०
दोहाकोषगीति १३६
दौली २६
द्रमिलनारायण २५
अंगरनाथ ३७
धजनाथ १५५
धरमनाथ १४, १४६, १५६, १६३, १६४
धर्मपा २६, १४१
धर्मपापतंग २६, १३७, १४१
धट्टुलिपा ३१
धीरनाथ २३
धूर्मनाथ ३७
धोकरिपा ३०

षोडशा २८
 षोडशी २८, १३७, १४०
 षोडशिका २६
 ध्यानविंदु उप० १३४
 ध्वजनाथ १५२
 नखला ८०
 नटेशरी १४
 नरचैबोध १८२
 नरेंद्रदेव (राजा) ४८, ५४
 नलिनपा २६
 नवग्रह १०१
 नागनाथ २५, १४१, १६०
 नागबोध २४
 नागबोधिका ३१, १३६
 नागवालि ३०
 नागरसर्वस्व ४३, ४५
 नागा अरजंद १४१
 नागार्जुन ४, २४, २८, २९, १३७, १४०, १७४
 नागार्जुनतंत्र १७४
 नाचन ३१
 नाडीज्ञानप्रदीपिका १००
 नाथचरित्र ५०
 नानक (गुरु) ५३, ६७, १७५, १८२
 नापरी १३
 नारोपा २८
 नित्यनाथ २४
 नित्यानंद १००, १६३, १७४
 नित्याषोडशिकार्णव ६३
 नित्याह्निकलिकम् ४३, १५५
 नित्योत्सव ५
 निरंजननाथ १३, २४
 निरंजनपुगाख १०१, १०२
 निर्गुणपा ३०
 निर्दय ३०
 निवृत्तिनाथ ३२
 नोतिशतक १६७

नीमनाथ १५०
 नेचक ३१
 नेमिनाथ (नीमनाथ) १५५
 पंकजपा ३०
 पंच अग्नि १०१, १०२
 पंद्रह तिथि १०१
 पतंग १४१
 पतंजलि ११४, —का दर्शन ११४
 पद १०१
 पद्मावत १५, ५५
 पनहपा ३१
 परबत सिद्ध ३७
 परमेश्वरभट्ट १११
 परशुराम ५, ५०
 परशुराम कल्पसूत्र ५, ६७, १११
 परसंग पूजनभगव १६१
 परानंद सूत्र १४०, १४२
 परिमला ५१
 परिमल १००
 पलिदिह २६
 पागलनाथ १४८
 पागल बाबा ४३, १४६, १५१
 पातलिभद्र २६
 पादलिप्त सूरि १४०
 पारसनाथ १५०, १५१
 पारिजात २६
 पार्वनाथ १५५
 पावनाथ ७, १५२, १५५
 पासल ३१
 पाहिल ३१
 पिण्डलनारायण २५
 पीतांबरदत्त बङ्गवाल (डा०) १०१, १०२,
 १४१, १५०
 पीलनाथ १३
 पुतुलिपा ३१
 पुरातन जनम साखी १७५

पुष्पदन्त ८
 पुण्यपाद २४
 पूरनभगत १३८, १४५, १४६, १६१, १६३
 पूर्ण २५
 प्रकाश २५
 प्रजापति २७
 प्रतिभा २६
 प्रबन्धचिन्तामणि ५३, १४०
 प्रबुद्धनारायण २५
 प्रबोधचन्द्रिका ८७
 प्रबोधचन्द्रोदय ८६
 प्रभुदेव २४
 प्रमीला ५४
 प्रशस्तपाद १४६
 प्रसन्नकुमार कविरत्न ६६
 प्राणनाथ ३७
 प्रासकली १०१, १३७, १३८, १७४, १७५
 प्राससंकली (चौरंगीनाथ की) १७४
 प्राससांगली १४३, १७५
 प्रेमनाथ १५१
 फैजुल्लाह ४५
 फलीट १५७, १६०
 बत्तीस लच्छन १०२
 बनारसीदासजैन ६०, ६७
 बलदेव उपाध्याय (पं०) ५७
 बलभद्र पंडित १, १०१
 बाकलि २६
 बागची (डा० प्रबोधचंद्र) २, ३८, ४३, ४७,
 ५७, ५८, ६०, ६६
 बाणभट्ट ८२, १४६
 बाप्पा रावल ५४, १५६, १५६, १६०
 बाबा गंभीरनाथ १०
 बारह पंथ १०,—की स्थापना १२
 बालकेश्वरनाथ १५०
 बुद्धदत्त (गुह) ४८
 बृहद्रथ ७७

बौद्ध गान ओ दो
 ब्रह्मविन्दु उप० ११४
 ब्रह्माण्ड पुराण ६३
 ब्रह्मानन्द १०२, १२३
 ब्रिग्स (श्री जाज वेस्टन) १०, ५३, ५४, ७२,
 ६८, १४८, १४६, १६२, १६३
 भटी ३०
 भट्टशाली १७१
 भट्टाचार्य प्रो० विनयतोष) ५६, १४०, १४२
 भदेपा २६
 भद्र २६, ३१,—पा २६, १३७, १४१
 भमरी ३१
 भरथरीनाथ १४, १५, १५१, १५५
 भग्यरोचरित्र १६७
 भर्तृनाथ २५
 भर्तृहरि ३०, १४५, १६६, १६८
 भलहपा (भवपा) २६
 भलिपा (ब्यालिपा) ३१, ३२
 भल्लरीनाथ ३१
 भवभूति ५, ८२, ८४
 भांडारकर ७२, १५६, १६०
 भागवत १५६, १७६
 भादे १३७, १४१
 भानु २६
 भारतीय दर्शन ५७, ६३
 भालुकि १७४
 मिलनपा ८०
 भिवाल २६
 भीम ३१
 भीमनाथ ४, २७
 भीमसेन २६, २७
 भीलो ३१
 भीषण ३०
 भुम्परी २६
 भूषाई १४
 भूसुकपा २६

भृङ्गनाथ १३

भृष्टनाथ १५५

भैरव २०, २४, ३१;—नाथ ४३

भोजदेव २६, २७, ११४

भंगलनाथ ३७

भंगला ४७, ५१

भंथान भैरव २४, १७४

भगरधज ३०, १५२

मच्छन् मच्छन्, मच्छिन्द्र, मच्छेंद्र (पाद, नाथ, विभु) ३६, ५२, ७६, १६८ मत्स्येन्द्र नाथ भी देखिए ।

मच्छिन्द्रगोरषबोध १०१, ११३

मणिप्रभा ११४

मणिभद्रा ३१

मत्स्येन्द्र (नाथ, पाद, विभु) २, ५, ७, ६, १२, १४, १८, १६, २४—२६, ३२, ३६, ४२, ४६, ५०, ५२, ५६—५८, ६०, ६५, ६६, १४६, १५२, १८२;—और लुईपा ४१; और मनिनाथ ४०;—का जन्म था ४१;—का मूलनाम ३८;—के ग्रन्थ ६७;—के चार संप्रदाय १३;—के विभिन्न नाम ४३;—और गोरख की परंपरा ८;—विषय कथाएं ४५

मथुरानाथ शुक्ल ६६

मयनाथ २४

मयनामती, मैनावती, ३२, ४३, ४७, ११६, १६८, १७०;—के गान १७१

मलयार्जुन ४

मलिक मुहम्मद जायसी १५, १६४

मवह २८

मस्तनाथ १६, १५१

महाकाल ४

महादुष्टदन मूल ८०

महादेवजी १६, २४

महादेव गोरष गुष्ट १०१, १०२

महादेवशाली १३३

महापुराण ८

महाभारत ५५

महार्णव तंत्र २४, २५

महार्थमंजरी १००

महालंग ४७

महीन्द्रदेव ४६

महीधर शर्मा ४२, ४६

महीपा २६

महेश्वर २६

महेश्वरानंदनाथ १००

मांडव्य १७४

माईनाथ १५१

माणिकचंद्र ६, ५२, १६८, १७०,—का मयनामतीर गान ६

मानीकनाथ ३२

मार्गफलान्वितापवादक १३६

मालतीमाधव १५, ८२, ८४

मियां कादरयार १६१

मीन (नाथ) २४, २६, २७, २६, ४२, ४३, ४६

मीनचेतन ५५, १४४

मीनपा (६) २८, ३६, ५५, १४४

मीनराम ५०

मुकुन्दनाम शास्त्री (म० म०) १००

मुकुट्टी ३१

मुहम्मद ६८

मूलगर्भावली १०१

मूलदेव २६

मूलराज ५३

मेकोपा ३०

मेखल २८, १३७, १३६

मेखला ८०, ६०, १३६,—पा ३१, १३६, १४०

मेघमाला ५०

मेदनीपा (हालीपा ?) ३०

मेतुरा ३०

मोहनसिंह (डा०) १०२, १४२, १४३, १७१

याज्ञवल्क्य ११४

यामुनाचार्य ५	राजेंद्र चोल ५२, १७१
योगचिन्तामणि १००, १०२	रामचरित मानस १, २,
योगचूडामणि १३४	रामनाथ १४
योगनत्न १३४	रामानंद तीर्थ १०२
योगदर्शन ११४	रामानंद यति ११४
योगप्रवाह १४४	रामानुज (आचार्य) १६५
योगबीज १००	रामेश्वर भट्ट १००, १०२
योगमार्तण्ड १००	राहुल सांकृत्यायन (महापंडित) २७, ५२ १३८,
योगराज १३४	१३६, १४१, १४२
योगशास्त्र ६६ १००	राहुलपा ३०
योगशिखा उप० १२५, १३४	रिजली २३
योगसिद्धासन पद्धति १००	रिसल १६२
योगस्वरोदय १२३	रुद्रयामल ७०
योगसंप्रदायाविष्कृति २४, २५, ४४, ४८,	रेवानाथ ५५
४६, ४४, ४५, ४८, ६६, १५८	रोमावली १०१
रन्तिदेव २६	लंग ४७
रक्तयमारिसाधन १३६	लकुलीश १५८, १५६
रघुनाथ २३	लक्ष्मणरामचंद्र पंगारकर ३२
रजवदास १४४	लक्ष्मणनाथ १४, १५०
रतननाथ १०२, १४१	लक्ष्मीकरा ३०, ७६, १४१
रत्नाकरजोपमकथा ४४	लक्ष्मीनारायण ४३
रमणवज्र ४१, १६८	ललिताभैरवी अम्भापापू ४३
रसखंड १७४	ललिता सहस्र नाम २६, ६३
रसमंजरी १७४	लिङ्गपुराण १४६, १६०
रसरत्न १७४	लीलापा २७
रसरत्नमाला १७४	लुईया ४१, १३८, १३६
रसरत्नाकर १७४	लुचिकपा ३०
रसायनखंड १७४	लूण १६१
रसालू (राजा) ५४, १४६, १६१, १६२, १६३	लुहिया २७
रसेन्द्रखंड १७४	लेवी (डा० सिलवॉ) ४३, ४७
रसेल १४६	वक्रनाथ १५२
रहारास १०१, १०२	वज्रघंटा पाद १४१
रौफा १५०	वज्रधर ६३
राजपूताने का इतिहास १५७	वज्रगीति ८०
राजशेखर ८७	वज्रयोगिन साधन १
राजाभोज १६८	वज्रसूचिकोपनिषद् १३५

वज्रवत्स देश ५५
 वटुकनाथ ४
 वटं जोगी १३
 वर्णरत्नाकर २७, ४०, १३६, १४३
 वल्लभाचार्य १६३
 वशिष्ठ २६
 वसन्त ४६
 वसन्ततिलक ८०
 वाचस्पति ११४
 वामकेवर तंत्र ६३, १०३
 वामदेव १०२
 वामन पुराण १४६
 वायु पुराण १६०
 विकराल ४
 विक्रमांक चरित ५४
 विक्रमादित्य १६८
 विघ्नेश्वर २६, २७
 विचित ३१
 विज्ञानभिन्नु ११४
 वितर्क १२०
 विद्याराज्ञी ७६
 विवना क्या कर्तार १६७
 विनयनोप भट्टाचार्य (प्रो०) ५६, १४०, १४२
 विमवत् ३०
 विमर्श २५
 विमल २६, २७
 विमला देवी ५१, १५१, १५५, १५६
 विमुक्त मञ्जरी गीत ७७
 विरूपागाविका १३६
 विरूपपदचतुरशति १३६
 विरूप वज्र गाविका १३६
 विरूपा २८, १३७, १३६
 विरूपाक्ष २४, २६
 विलेशय २४
 विविक्लिज ३०, १५२
 विवेकमार्तण्ड ४२, १००

विवेकमार्तण्ड योग १०२
 विशुद्ध वज्रपदा ७७
 विश्वेश्वरनाथ जी रेड (प०) ५०
 विष्णु शर्मा ४३
 वीणापा २८
 वीरनाथ ४
 वीर बैताल ४६
 वीरभद्र ४२
 वीरानंदनाथ ४३
 वृन्तिदेव २७
 वैखानस सूत्र १६५
 वैराग्य शतक १६६, १६७
 वैशेषिक दर्शन १४६
 व्यालि १७३
 व्याल ११४
 व्रत १०१
 शंकर पंडित ६६
 शंकराचार्य ४, ५४, ६६, १४६
 शंभुनाथ १५५
 शंकर तंत्र ७८
 शवरपाद ८, १४०
 शवरी पा २८
 शाबर तंत्र ४
 शान्ति १४२
 शान्तिदेव ८०
 शालिनाथ १७४
 शालिपा (शीलपा) २८
 शिव उपनिषद् १३४
 शिवनाम १७५
 शिवपुराण १५८
 शिवसंहिता १०२
 शिशुमती १७०
 शुक्रमिद्धि ६१
 शृंगार शतक १६७
 शृंगालीपाद २८, १४२
 शेख फैजुल्लाह २१

शेरिंग ५५	सहजयोगिनी चिन्ता १३६
श्यामा रहस्य २७, १४६	सहस्रार्जुन २४
श्रीकण्ठ ४	सांति ३०, १३७, १४२
श्रीनाथ १५	सागरपा ३१
श्रीनाथ सूत्र १००	सातवाहन १४०
श्री सम्पुट तंत्र ६०	साधनमाला ५६, ७८, १४०
श्रेडर १६६	सामुदेई १६७
श्वेताश्वतर १४४	सारंग ३०
षट् शांभव रहस्य ४	सारदानंद २४
षडक्षरी १०१	सालवाहन १६१
षल १३६	साहित्यदेव १४४
षोडश नित्या तंत्र ४	सिद्धपाद ३४
संकेतचंद्रिका १०२	सिद्ध बोध २४
संपूर्णसिंह (सन्त) १४३, १७४	सिद्धलिंगरी १५४
सक्करनाथ १३, १४	सिद्धसिद्धान्त पद्धति १, २, १००, १०८
सतनाथ १५६	सिद्ध सिद्धान्त संग्रह १, ७२, १०१, १०५, १०८, १२३, १२५
सत्यनाथ ४, २५	सिद्धान्त वाक्य ६, ७
सदानंद १०२	सिद्धान्तविट्ट १, १३५
सन्तनाथ १४, १४६	सिवारी ३०, १३७, १४२
सन्तोष (नाथ) १४, २५, २६, २७, १४६, १५०	सिष्ट पुरान १०१
सन्तोषसिंह (भाई) १७५	सिध्या दरसन १०१,
सप्तवार १०१, १०२	सुकुमार सेन (डा०) ४५
सबदी १०१, १०२	सुधाकर २७
सवर ३०, १३७, १४०, १४१ ('शवर' भी देखिए)	सुधाकरचंद्रिका २५
समयानंद २७	सुनिष्पन्नतत्त्वोपदेश १३६
समरानंद २६	सुन्दरदेव १०२
समुद्रपा ३२	सुभग २५
साबंगी ग्रंथ १४४	सुराज ४८
सरस्वती ४८	सुरानंद २४
सरहपा २८	सुवर्ण गोत्र ५४
सरोरुह पाद ७७	सूत मंहिता १३४
सर्व उपनिषद् १३४	सूरदास १६, १६३
सर्व दर्शन संग्रह १६०, १७३	सेतुबंध ६३
सर्वमहपा ३१	सेवादास निरंजनी १००
	सौभाग्य भास्कर ६३, ६४

स्कन्दपुराण ६	हरिनारायण २५
स्मरदीपिका ४३	हरिश्चंद्र ४
स्वभा २५	हरिसिंहदेव २७
स्वात्माराम १०२	हाकिपा (फा) ६, ४५, ४६, १६६—१७१
हचिसन १२६	हारीत ऋषि १५७
हठयोग प्रदीपिका १, २४, ७१, १०२, १२०, १५०	हारीत राशि १५७
हठयोग विवेक १०२	हालिपा २८
हठरत्नावली १०२	हिमालयन डिग्रीबुकट्स ५४
हठ संकेत चंद्रिका १०२	हीरा १६६, १७०, १७१
हठ संहिता १०२	हीरालाल (रायबहादुर, डा०) १४६
हनुमन्त १५२	हुङ्कारचित्तविंदुभावनाक्रम ७७
हनुमान ४६	हुणत्सांग ५४
हरप्रसाद शास्त्री (म० म०) ६, ३८, ३९, ४१, ४२, १३६, १४१, १४२	हुताशन २६, २७
हरितायन सुमेधा ५	हुविष्क १६३
	हेठनाथ १५०

विषयानुक्रमणिका

अकुल ६१, ६२	आम्नाय ६७
अकुलवीरमार्ग ६०	आरब्ध १८
अग्निचक्र ७३, १२४	आशय ११८
अजपाजाप ११६	इच्छा ६३
अतिशून्य ६३	इदन्ता १०८
अद्वैत ज्ञान ७६	ईश्वरतत्त्व ६६
अधारी १७	उड्डियान ७८;—पीठ ६४;—बंध ७८
अधिकारी २३	उपाय ६३;—प्रत्यय ११८;—सूत्र ६३
अनाहत चक्र ७३, १२७	उल्लास ७०
अनाहत ध्वनि १२६	उष्णीशकमल ८, ६३
अन्तःकरण ११६	ऊर्ध्वदन्तमूल १३०
अभिनिवेश ११६	औषध ७, १५
अमरवारुणी १८०	औलुख्य मत १६१
अमापंथी १३	कंकाल दण्ड ६०
अमृतनाद १३४	कंचुक ६७
अमृतसिद्धि १३६	कंथा १८
अवधूत १३४;—मत १;—मार्ग ४;—संप्रदाय ?	कंठाधार १३०
अवधूती ६३	कजरीवन ५५
अधिया ६६, ११६	कदलीदेश ४६, ४७, ५४, ५५, ५८
असंप्रज्ञात समाधि ११५	कदलीवन ५५
असंख्य दृष्टि ८०	कनफटा ७, ६, १४, १५, २०;—नाथ २०
अस्मिता ११५, ११६	कमल, चौंसठ दलों का ६३
अहंकार ६७, ११६	कर्ण कुरडल १५;—की प्रथा ६;—धारण ७, १५
अद्वैता १०८	कर्णमुद्रा १५
आकाश १३०	कर्म ११८
आगम १४६; शाक्त० ४; वैष्णव० १६५	कर्मचण्डालिका १३६
आचार ७५; प्रधान० ४	कर्मेन्द्रिय ११६
आशचक्र ७३, १२७	कला ६७
आत्मतत्त्व ६८	कौसा १८
आनंद ८८;—के चार भेद ८८—८६	कापाजिक ६;—का विश्वास ८६;—का मत ४
आनुश्रविक ११७	५, ७, ८२;—का मार्ग १२

काम १२५, १७२	जालंधर गिरि ६३
कामभज १३	जालंधर पीठ ६४
कारण ६५	जालंधर बंध ७८
कार्य ६५	छिन्नमस्ता साधना १३६
कालचक्रयान १३८	जीव ६७;—की तीन अवस्थाएँ ७३
काल (तत्त्व) ६७	जुगी (योगी जाति) २१
कालवेलिय १५४	जोगीङ्गे १८
कालाग्नि ६०, १७२;—रुद्र १७१	ज्ञान २५
काषाय १३	डामर ४
किंगरी १६	डोम्विनी ६४
कुंडलिनी, कुंडली, ६०, ७३, ८६, १०४, ११०	डोम्बी हेरक ५६
११२, १२४, १३०—योग ६०;—	तंत्रशास्त्र १७
का गोरव विरोध ११३	तत्त्व (छत्तीस) ६७, ६८; सम० १३४
कुल ६२, ६५;—का अर्थ ६१	तालवन्ताधार १३०
कुलागम शास्त्र ३६, ४५	त्रिकोण चक्र ७३
केवल ११८	त्रिपुरा ६५;—तत्त्व ५;—मत ५
कैलाश ७३, १२७	त्रिपुरीकृत ६४
कैवल्य ज्ञान ११८	त्रियादेश ५०
कौलज्ञान ६१, ६५	दर्शन ६
कौलमार्ग ५, ७३;—संप्रदायों के नाम ५७	दर्शनी ६
कौलसद्भाव ५७	दस द्वार १०७
क्रिया ६१	दिव्य ७५;—भाव ७५
क्लेश ११८, ११६	दृष्ट ११७
क्षुद्रघटिकाधार १३०	द्वेष ११६
क्षुरिका १३४	द्वैताद्वैत विलक्षण तत्व १३४
खप्पर १८	धंधारी १७
गुरु २६	धर्म २३
गुह्याधार १२६	धर्म मेघ १२१
गूदरी १८	धारणा १२०
गोपीयंत्र १६	ध्यान १२०
गोमांस १८०;—मन्त्र ७१	नाड्यौ ८५, १२६
गोरखवंश १७	नाड्याधार १२६
चंद्रगिरि ४८, ५५, ६६;—द्वीप ४३—४५	नाथ २४, १३६;—पद १३४-परंपरा ५;—मत ३;
चक्रपूजा ७३	-मार्ग ६, -वेश १४;—संप्रदाय २;—संप्रदाय
चित्त ६७, ११६;—के पाँच भेद ११४, ११५	का विस्तार १५४, -का नाम १
जनेव १६, १६	नाद जनेउ १६

नादरूपा (सृष्टि) ६४
 नादीसेली २१
 नाभिमंडलाधार १२६
 नासामूल १३०
 नासिकाग्र १३०
 निगम १४६
 नियति तत्त्व ६७
 निरंजन १२५, १६५, १७२
 निरोधज १२१
 निरोधपरिणाम १२१;—समाधि ११८
 निष्कल शिव ७४
 नेत्राधार १३०
 न्यास २४
 पंचतन्मात्र ११६
 पंच पवित्र ७०
 पंच मकार ७०
 पंचमुखी रुद्राक्ष १७
 पंच स्कंध ६८
 पञ्चीस तत्त्व १०५ आ०
 पदोत्तिष्ठ ५७
 पद्म ६०, ६१;—चक्र ६०
 परकाय प्रवेश ५०
 परवैराग्य ११८
 परा संवित् १३०
 पराहन्ता ६६
 पवित्री १०, १६
 पशुभाव ७५
 पश्चिम लिंग १२५
 पाँचआम्राय ६७
 पाँच उत्तम भोज्य ७०
 पाँच कुल ७०
 पाँच बुद्ध ६२;—की पंचशक्ति ६२
 पाँच रात्र संहिताएँ १६५
 पाँच शक्तियाँ ६७
 पादोत्तिष्ठ कौल ५७
 पादांगुष्ठ १२६

पारद १७३;—की तीव्र दशाएँ १७३
 पाशुपत मत १४६
 पिंगला १६८
 पिंड ब्रह्माण्ड ११०,—की एकता १३०
 पिंडोत्पत्ति १०५ आ०
 पुरुष ११६
 पूर्णाहन्ता ६६
 प्रकृति ६७, ११६
 प्रकृति-विकृति ११६
 प्रज्ञा ६३
 प्रज्ञाचंद्र ६३
 प्रज्ञापारमिता दर्शन १४१
 प्रत्याहार १२०
 प्रलय काल १२५
 प्रसंख्यान ११८, १२१
 प्राणायाम १२०
 बुद्धि ६७
 बोधिचित्त ६०, ६१
 ब्रह्मविद्या १३४
 भवप्रत्यय ११८
 भ्रूमध्याधार १३०
 मंत्रयोग १२७
 मच्छ ३६
 मणिपूर चक्र ७३, १२७
 मन ६७
 मल ६८
 महाकुंडलिनी ७३
 महान् ११६
 महामेरुगिरि ८
 महाशून्य ६३
 महासुख ८८, ६०
 मानव-दिव्य गुरु २६
 माया ६६
 मुक्ति १३६
 मुख १७
 मुद्रा ८, ६

मूलाधार १२६;—चक्र ७३, १२७

मेखला मूँज १६

मेरुपर्वत ६०

यक्ष पूजा ८२

यम ११६

यामल ४

योग ११४, १६५;—उपनिषद् १३३;—मार्ग
१;—ग्रौर कौल मार्ग ६६—के विल ११८

योगांग ११६

योगिनी कौल २,—ज्ञान ४०;—मत ५

योगियों के स्थान १५२,—के संग्रदाय ११८

रसना ६३

रसाधार १३०

रसेश्वर-सिद्धान्त १७३

राग ११६;—तत्त्व ६७

राजयोग १२७, १२६

रावल १५६

रुद्राक्ष १७

रोमकूपादि कौल ५७

लययोग १२६

ललना ६३

लिंग-निरुक्ति ७४

लिंग-शरीर १२८

बज्रयान १३६;—के सिद्ध २४

वज्रोश्वरी ७६

वज्रोष्णी ७२

वज्रोली (लिका) ७१, ७२, १२५, १२६, १७२,

बहि कौल ५७

विन्दु चक्र १२६

विहिस ११४

विद्या ६६;—तत्त्व ६८

विधि ५६

विन्दुरुपा सृष्टि ६४

विपाक ११८

विभूति १२१

विवेक ख्याति १२१

विशुद्ध चक्र ७३, ६४, १२७

विषकाल १२५

विषहर १२५, १७२

वीरसाधक भाव ७५

वृत्ति ११७;—सारूप्यता, ११७

वृषणोत्थ ५७

वैराग्य ११७

व्युत्थान १२०, १२१

शक्ति ६६,—का वैदामितक अर्थ १०४, १०२;

—की पाँच अवस्थाएँ १०३; शाम्भवी ७

१२७

शिव ६६, ६८, १०४

शुद्ध विद्या ६६

शून्य ६२, ६३;—ता ६२

शृङ्गी १६

षट् कर्म १२५

षट्चक्र १२८

षट्त्रिंशत् तत्त्व १०३ आ०

षडंग योग १३४

संयम १२०

सत्य २५;—दो प्रकार के ० ६१

सत्त्वगुण ६७

सदाशिव ६६

समरस १२५, १३०

समाधि ११५, ११७, १२०

समाप्ति १६

सर्वशून्य ६३

सहज ६०;—समाधि ११२, १३०;—अवस्था

११५

सहजयानी सिद्ध २४

सहजोली मुद्रा ७१

सहस्रार ६५, ७२, १२७

साजन १६५

सामरस्य ६०, ६१, ७३, ११२

सारणा १३०

सिगीनाद-जनेव १६

सिंहल-द्वीप ५५; — देश ५४

सिद्ध कौल २

सिद्धमार्ग १, ३

सिद्धान्त १

सिद्धियाँ १२१

सुख २६; — राज २८

सुदर्शन १६३ १६४

सुमेरु ६०

सुषुम्ना ६५, ६३

सूक्ष्मवेद १३५

सौंटा १८

सोमसिद्धान्त ८०

स्त्रीदेश ५४, ५५

स्वयं १०३

स्वयंभूलिंग ७३, १२४

स्वाधिष्ठान १२७, — चक्र ७३

दृढयोग १००, १२३, १२७, १२९; — की हो

विधियाँ १२४; — के अर्थ १२३; —

के दो भेद १२३

हालमटंगा १६

हिरण्य गर्भ ११४

हृदयाधार १२६

हेय ११६

हेय हान ११६

हेयहेतु ११६

